श्रीमाँ
का शिक्षा दर्शन

चिन्तन से क्रियात्मकता की ओर

राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद
नई दिल्ली

श्रीमाँ
का शिक्षा दर्शन
चिन्तन से क्रियात्मकता की ओर

हिन्दी रूपान्तर
श्री अरविन्द आश्रम,
नई दिल्ली शाखा के सौजन्य से

राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद
नई दिल्ली

राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद्, २००५

पुनर्मुद्रण – 2017

नॉस्टिक सेंटर, नई दिल्ली

(अंग्रेजी भाषा की मूल पुस्तक के प्रतिपादक एवं संकलयिता)

समन्वयक

डा. अनिल शुक्ला

मूल्य : ₹ 400.00

सदस्य, सचिव, राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद्, हंस भवन विंग–II, 1, बहादुरशाह जफर मार्ग, नई दिल्ली–110 002 द्वारा प्रकाशित एवं जे.के. ऑफसेट ग्राफिक्स प्रा. ली., नई दिल्ली द्वारा मुद्रित।

विषय सूची

प्राक्कथन xi

श्रीमाँ का शिक्षा दर्शन xiii

भाग–१ xv

श्रीमाँ एवं उनका शिक्षा सम्बन्धी कार्य xv

अध्याय – १ १

श्रीमाँ कौन हैं

(कुछ झलकियाँ) १

० बाहरी जीवन

(१८७८–१९२०) १

० १९२०–१९७३–साधकों, आश्रम एवं बच्चों के विकास में मार्ग दर्शन ६

अध्याय – २ ८

श्रीमाँ एवं शिक्षा ८

० एक स्वप्न ९

० श्रीमाँ का बच्चों के साथ कार्य ११

० ऑरोविले की स्थापना १२

भाग – २ १३

शिक्षक का विकास १३

अध्याय १ १५

शिक्षक की प्रगति

(व्यावहारिक मार्गदर्शन) १५

० शिक्षक की पहचान १५

० शिक्षक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य क्या है १५

० शिक्षक एक सृष्टा और सहायक के रूप में १७

० शिक्षक का उत्तरदायित्व २०

० शिक्षक की कार्यकुशलता २४

० शिक्षक का विकास ३३

अध्याय – २ ५०

शिक्षक की पंचविध भूमिका ५०

(व्यावहारिक मार्गदर्शन) ५०

○ परिवर्तन का माध्यम	५२
○ आत्मावलोकन का अभ्यासी	५४
○ एक जीवंत उदाहरण	५६
○ एक नेता	६१
अध्याय – ३	६४
सच्ची शिक्षा के तीन सिद्धांत	६४
(आत्मावलोकन कार्य–पत्रक के साथ)	६६
अध्याय – ४	६८
इतिहास के तीन शिक्षक	
(एक कथा)	६८
भाग – ३	६९
सर्वांगीण शिक्षा	६९
अध्याय – १	७०
शिक्षा	७०
रेखाचित्र १ : सर्वांगीण शिक्षा	७३
अध्याय – २	७४
शारीरिक शिक्षा	७४
रेखाचित्र २ : शारीरिक शिक्षा	८१
अध्याय – ३	८२
शरीर को प्रशिक्षित कैसे करें	
(व्यावहारिक मार्गदर्शन)	८२
अध्याय– ४	११२
प्राण की शिक्षा	११२
रेखाचित्र – ३, प्राण की शिक्षा	११६
अध्याय – ५	१२०
चरित्र का विकास कैसे करें	
(व्यावहारिक मार्गदर्शन)	१२०

अध्याय – ६ १४२
इन्द्रियों का प्रशिक्षण कैसे करें
(व्यावहारिक मार्गदर्शन) १४२

अध्याय – ७ १५३
मन की शिक्षा १५३
रेखाचित्र– ४ – मानसिक शिक्षा

अध्याय – ८ १६२
मन का प्रशिक्षण कैसे करें
(व्यावहारिक मार्गदर्शन) १६२

अध्याय – ९ १९०
चैत्य एवं आध्यात्मिक शिक्षा १९०

अध्याय – १० २०१
चैत्य का ज्ञान
(व्यावहारिक ज्ञान) २०१

भाग – ४ २०९
बच्चों की परख और ज्ञान २०९

अध्याय – १ २१०
बच्चों की आवश्यकताएँ २१०
(आत्मावलोकन कार्य–पत्रिका के साथ)

अध्याय – २ २३१
० विद्यार्थियों के साथ व्यवहार २३१
० विद्यार्थियों का प्रशिक्षण २३१
० विद्यार्थियों की प्रगति एवं उपलब्धि की वृद्धि २४०
० विद्यार्थियों का आचरण? २४७

अध्याय – ३ २५८
विषय शिक्षा
(व्यावहारिक ज्ञान) २५८
० शिक्षा की समस्या २५९

० भाषा एवं साहित्य २६३
० संस्कृत का महत्त्व २६५
० फ्रेंच का महत्त्व २६६
० अच्छी हिन्दी सीखना २६८
० साहित्य में अभिरूचि २६८
० अन्य विषय २७२
० इतिहास एवं भूगोल २७२
० गणित २७३
० मनोविज्ञान २७३
० विज्ञान २७५
० कला २७५
० चित्रकला २७६
० संगीत २७८
० कविता २७९
० छाया चित्र
(फोटोग्राफी) २७९
० चल चित्र
(सिनेमा) २७९

अध्याय – ४ २८१
मूल्यांकन
(व्यावहारिक मार्गदर्शन) २८१

अध्यॉय – ५ २८७
यह तुम्हारे हाथ में है
(एक कथा) २८७

भाग – ५ २८९
शिक्षा एवं मानव जीवन का लक्ष्य २८९

अध्याय – १ २९०
जीवन–विज्ञान
(आत्मावलोकन एवं ध्यान) २९०

अध्याय– २ २९९
सर्वांगीण व्यक्तित्व २९९
(रेखाचित्र ५—सर्वांगीण व्यक्तित्व)

अध्याय–३ ३०६
आन्तरिक एवं बाह्य प्रवृत्ति ३०६
(आत्मावलोकन कार्य–चित्र के साथ)

अध्याय–४ ३१०
फूलों के लिए आशा
(एक कथा) ३१०

परिशिष्ट ३२२
१. श्रीमाँ के शिक्षा सम्बंधी लेख एवं वार्तालाप ३२३
२. श्री अरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र ३२५
३. पठनीय पुस्तकों की सूची ३२८

प्राक्कथन

आध्यात्मिक पुरुषों में श्रीअरविंद एक ऐसे प्रामाणिक हस्ताक्षर हैं, जिनका स्थान पथ निर्माता भारतीय चिन्तकों के नक्षत्रमण्डल में सर्वोपरि है। शिक्षा के क्षेत्र में उनका योगदान बेजोड़ है। आधारभूत शिक्षण की प्रक्रिया में उनकी दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म एवं पूर्ण है। उनके विचार अनुभूति के स्तर पर अमूर्त्त एवं सूक्ष्म हैं, किन्तु दृष्टान्तों के माध्यम से उनके विचारों का प्रतिपादन अत्यन्त ठोस एवं मूर्त्त रूप धारण कर लेते हैं। अवधारणा में वे गहरे हैं तथा मानव के आन्तरिक स्पन्दनों का वर्णन सहज और स्वाभाविक है। वे अन्तर्द्रष्टा के साथ–साथ एक ऐसे सच्चे गुरु भी थे जो ज्ञान पिपासु शिक्षकों को प्रेरणा देने के लिये हमेशा तत्पर रहते थे। भारतीय स्वाधीनता के प्रारंभिक काल मे श्रीअरविन्द देश के प्रथम पंक्ति के एक ऐसे जाज्ज्वल्यमान नेता रहे हैं जिन्हें अत्यन्त सम्मान व गौरव के साथ एक प्रेरक तथा राष्ट्रवादी चिन्तक के रूप में स्मरण किया जाता है। उनके अवदान का उस महान् मुक्ति आन्दोलन के सन्दर्भ में हमारी मातृभूमि साक्षी है।

'श्रीमाँ का शिक्षा दर्शन' एक ऐसा प्रतिफलन है जो दिल्ली के नॉस्टिक सेंटर द्वारा क्रियान्वित किया गया है। इसकी प्रस्तुति अध्यापकों एवं अध्यापक प्रशिक्षकों के लिये निर्देशित की गई है। इस प्रयास का उद्देश्य महान् शिक्षाविद् श्रीअरविन्द के अतिमहत्वपूर्ण एवं नवीन दृष्टि से आलोकित विचारों से समाज को अवगत कराना है। यहाँ यह कहना अनावश्यक होगा कि श्रीअरविन्द के विचारों में शिक्षा की वे सभी विशिष्ट प्रक्रियायें एवं सिद्धान्त समाविष्ट हैं जिनकी श्रीमाँ ने बड़ी दक्षता के साथ व्याख्या तथा पुष्टि की है। इस पुस्तक का सम्पूर्ण लेखन इस तरह किया गया है ताकि इस तारतम्यता को समझने में सुगमता हो।

इस पुस्तक में कुल पाँच भाग हैं जिनके विभिन्न अध्याय परस्पर सम्बद्ध हैं। प्रथम भाग में श्रीमाँ एवं उनके शिक्षा सम्बन्धी कार्यों का विवरण है। इसमें श्रीमाँ के बाह्य जीवन तथा शिशुओं के साथ उनकी अन्तर्क्रियाओं को अभिव्यक्त किया गया है। द्वितीय भाग शिक्षक के आयामों को व्यक्त करते हुये उसके विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। यह शिक्षक के पाँच स्वर्णिम कर्तव्यों को भी अनावृत करता है जो इस तरह हैं: अन्तर्दृष्टि सम्पन्न, परिवर्तन का उत्प्रेरक, प्रतिपेक्षी अभ्यासक, एक जीवित उदाहरण तथा एक नेता। साथ ही साथ सही शिक्षण के तीन सिद्धान्त भी इसमें शामिल हैं जिन्हें इतिहास के तीन शिक्षकों के माध्यम से दर्शाया गया है। तीसरा भाग सर्वांगीण शिक्षा के प्रति समर्पित है। इसमें स्पष्ट

किया गया है कि शिक्षा वस्तुतः क्या है तथा इस क्रम में शारीरिक, प्राणिक, मानसिक और आध्यात्मिक शिक्षा पर प्रकाश डालते हुये उन्हें रेखाचित्रों तथा आकृतियों के माध्यम से समझाने का प्रयास किया गया है। चतुर्थ भाग में बच्चों की आवश्यकताओं, विद्यार्थियों का प्रशिक्षण, शिक्षा के विषय तथा मूल्यांकन आदि विभिन्न विषयों को लिया गया है जबकि पांचवें भाग में शिक्षा एवं मानव जीवन का लक्ष्य, सर्वांगीण व्यक्तित्व , आन्तरिक एवं बाह्य प्रवृत्ति आदि जीवन के मूलभूत महत्वपूर्ण विषयों की जानकारी दी गई है।

राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद का यह सतत् प्रयास रहा है कि शिक्षा के क्षेत्र में भारतीय शिक्षाविद्ों एवं चिन्तकों के योगदान को वरीयता दी जाय। इसी के अनुरूप पहल करते हुये हमने इस बात का भी प्रयास किया है कि इसके माध्यम से अपने शिक्षकों व शिक्षाविद्ों के ज्ञान और उनकी अन्तर्दृष्टि को व्यापक और विशाल बनाया जाय। यह पुस्तक हमारे इसी संकल्प की मुखर अभिव्यक्ति है।

यह कार्य अतीव उद्‌बोधक है एवं स्वाभाविकता के साथ प्रस्तुत किया गया है जिससे श्रीमाँ की शिक्षात्मक विद्या रेखांकित व सम्प्रेषित होती है। इस दृष्टि से यह स्वागत योग्य है।

मैं श्रीअरविन्द आश्रम पांडिचेरी का आभारी हूँ कि उन्होंने शिक्षकों एवं शिक्षाविद्ों के लाभार्थ अपने सम्बद्ध साहित्य को प्रयोग. करने की हमें अनुमति प्रदान की। नॉस्टिक सेंटर की सर्वसुश्री अमीता मेहरा, अनुराधा, मोनिका गुप्ता और योगिता जी विशेष धन्यवाद की पात्र हैं जिन्होंने प्रस्तुत प्रारूप को अंग्रेजी भाषा में श्रृंखला बद्ध किया। इस पुस्तक को हिन्दी में प्रस्तुत करने में श्रीअरविन्द आश्रम, नई दिल्ली की सुश्री तारा जौहर, डा० आलोक पाण्डेय एवं श्री त्रियुगी नारायण के उल्लेखनीय सहयोग हेतु धन्यवाद। डा० अनिल शुक्ला उपसचिव जिन्होंने इस कार्य में समन्वयक के रूप में अपना योगदान दिया तथा श्री मुकेश कुमार जिन्होंने बतौर सहायक इसे अन्तिम रूप दिया– मैं उन्हें भी धन्यवाद देता हूँ।

१७ अगस्त, २००५
२६ श्रावण, श.सं. १९२७

(शरदिन्दु)
अध्यक्ष
राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद

श्रीमाँ का शिक्षा दर्शन

यह पुस्तक विद्यार्थियों एवं शिक्षकों के बीच उठने वाले दिन प्रतिदिन के प्रश्नों को उठाती है, एवं श्रीमाँ के अंतर्दर्शन के आधार पर उनका समाधान ढूँढ़ती है। इस पुस्तक में श्रीमाँ के लेख एवं उनके द्वारा दिये गए प्रश्नों के उत्तर हैं। आसानी की दृष्टि से इन्हें सरल विषयों एवं भागों में बाँटा गया है।

इस पुस्तक के पाँच प्रमुख भाग हैं;

- श्रीमाँ एवं शिक्षा के क्षेत्र में उनका कार्य
- शिक्षक का विकास
- सर्वांगीण शिक्षा
- बच्चे की परख और ज्ञान
- शिक्षा एवं मानव जीवन का लक्ष्य

इस पुस्तक को पढ़ते समय निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है :–

१. ये श्रीमाँ एवं श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र, पॉण्डिचेरी के बीच होने वाले वार्तालाप, पत्र एवं विशेष अवस्थाओं में मिलने वाले उत्तर हैं। अतः कुछ वाक्य उन विशेष परिस्थितियों से सम्बंध रखते हैं, परन्तु उनकी सार्वभौमिकता के कारण उनका चयन किया गया है।

२. ये अंश श्रीमाँ के शिक्षा दर्शन के प्रति प्रवेश–द्वार हैं, एवं शिक्षा–कार्य से सम्बन्धित व्यावहारिक विषयों में अंतदृष्टि प्रदान करते हैं। परन्तु यह याद रखना आवश्यक है कि किसी भी बात को सब पर एक तरह से लागू होने वाले अबाध्य नियम के रूप में नहीं प्रयोग किया जा सकता यदि वह बच्चे के स्वाभाविक, स्वतंत्र एवं व्यक्तिगत विकास के विरोध में आता है। श्रीमाँ के ही शब्दों में

"हम एक सिद्धांत नहीं बना सकते। यह हर व्यक्ति, सम्भावना एवं परिस्थिति पर निर्भर करता है। यह एक भाव है जो शिक्षक के अन्दर होना चाहिए

एवं जितनी अच्छी तरह हो सके उसे व्यवहार में लाना चाहिये, तथा उत्तरोत्तर अच्छे से अच्छे ढंग से करना चाहिये।"

और अन्त में, श्रीमाँ के शब्दों में :-

"मैंने तुम्हें यह बातें इसलिये कहीं क्योंकि तुम्हें उन्हें सुनने की आवश्यकता थी, परन्तु इन्हें अकाट्य सिद्धान्त मत बनाना, वरना उनका सत्य निकल जाएगा।"

भाग–१

श्रीमाँ एवं उनका शिक्षा सम्बन्धी कार्य

यह भाग श्रीमाँ एवं शिक्षा के क्षेत्र में उनके कार्य तथा दर्शन की एक ऊपरी झलक है, जिसमें निम्नलिखित अध्याय शामिल हैं:–

१. **श्रीमाँ कौन हैं? – जीवन की कुछ झलकियाँ**

- बाह्य जीवन १८७८–१९२०
- १९२०–१९७३ साधकों, आश्रम तथा बच्चों के विकास में मार्गदर्शन

२. **श्रीमाँ एवं शिक्षा**

- एक स्वप्न
- श्रीमाँ का बच्चों के साथ कार्य
- ऑरोविल की स्थापना

अध्याय–१

श्रीमाँ कौन हैं

कुछ झलकियाँ

श्रीअरविन्द यह घोषणा कर गए हैं कि एक आध्यात्मिक व्यक्ति का सच्चा जीवन आन्तरिक होता है "यह आन्तरिक जीवन है जो बाहरी जीवन को शक्ति प्रदान करता है एवं एक आध्यात्मिक व्यक्ति का आन्तरिक जीवन विशाल एवं पूर्ण होता है तथा, कम से कम महान विभूतियों में, महत्त्वपूर्ण चीजों से इतना संकुलित व परिपूर्ण कि कोई भी जीवनी लिखने वाला या इतिहासकार उसे पूरा ग्रहण करने या कह पाने की आशा नहीं कर सकता।"[1]

श्रीमाँ का बाहरी जीवन भी प्रारंभिक ढंग से पकड़ पाना या कहना कठिन है। उन्होंने कभी अपने बाहरी जीवन का कोई विस्तृत विवरण नहीं लिखा। परन्तु उनके बाहरी जीवन का थोड़ा बहुत सतही वृत्तान्त उनकी वार्ताओं, शिष्यों के साथ पत्र–व्यवहार तथा आश्रम की छपी पुस्तकों में पाया जा सकता है।[2]

बाह्य जीवन : १८७८–१९२०

"श्रीमाँ का जन्म २१ फरवरी, १८७८ को सुबह १०.१५ बजे ४१, बुलवर्ड हौसमान, पेरिस में, मिरा अल्फासा के नाम से हुआ। वे एक तुर्क बैंकर मौरिस

---

१ श्री अरविन्द को लेटर्स आन योग पार्ट १ पृष्ठ ४२८, श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १९७०

२ के.डी. सेठना, इन नीलिमा दास ग्लिम्पसेस आफ दि मदर्स लाइफ खण्ड १ फारवर्ड, पी.पी. श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १९८०

अल्फासा एवं उनकी इजिप्सियन (मिस्र देश) पत्नी मातिल्दे इस्मालून की दूसरी सन्तान थीं। चूंकि वे (माता–पिता) भौतिकवादी थे, इसलिए मिरा का पालन–पोषण धार्मिक प्रभाव से मुक्त रहा।

मिरा की प्रारंभिक शिक्षा घर में ही हुई। उनकी माता नन्हीं मिरा को अक्सर कहा करतीं, "तुम्हारा जन्म उच्चतम आदर्शों की सिद्धि के लिए हुआ है"[३] और उन्हें सिखाया "अनुशासन तथा अपने कर्म की एकाग्रता में स्वयं को भूल जाने की आवश्यकता।"[४]

अपने पूरे बचपन के दौरान श्रीमाँ एक अति मानवीय शक्ति एवं प्रकाश को अपने सिर के ऊपर अनुभव करती थीं; प्रायः यह उनके शरीर में उतरकर अलौकिक ढंग से कार्य करता था। वे इस शक्ति को अपनी ही गुह्य सत्ता में से एक जानती थीं। उस शक्ति के कार्य के कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं। तब वे करीब सात वर्ष की थीं। लगभग तेरह वर्ष का लड़का था, एक दुष्ट लड़का, जो लड़कियों पर व्यंग्य कसता, यह कहकर कि वे किसी काम की नहीं हैं। एक दिन मिरा ने उसे कहा, "क्या तुम चुप करोगे!" परन्तु वह छेड़ता ही रहा। अचानक उन्होंने (मिरा ने) उस लड़के को पकड़ा, जमीन से ऊपर उठाया और एक झटके के साथ नीचे फेंक दिया हालांकि वे उससे कहीं अधिक छोटी थीं। जो शक्ति उनके अन्दर उतर आई थी और उनको अपार बल दे दिया था उसे उन्होंने बाद के जीवन–काल में महाकाली के रूप में पहचाना। एक और घटना तब घटी जब वे फॉण्टेनब्लु के वन में खेलने गई थीं। वे एक पहाड़ी पर चढ़ रही थीं कि उनका पाँव फिसला और वे गिरने लगीं। नीचे की सड़क नुकीले काले पत्थरों से भरी थी। जैसे ही वे गिर रही थीं उन्हें लगा मानों कोई उन्हें सहारा देकर धीरे–धीरे नीचे ला रहा है। जब वे जमीन पर पहुँचीं तो वे सुरक्षित अपने दोनों पाँव पर खड़ी थीं, अपने साथियों के सुखद आश्चर्य के बीच...।

जब वे नौ वर्ष की थीं तब उन्होंने एक निजी विद्यालय में प्रवेश लिया... स्कूल–शिक्षा की समाप्ति पर उन्हें 'प्रिक्स दि ऑनर' (विशेष सम्मान पुरस्कार) मिला।

घर पर वे यह जानने को लालायित थीं कि पुस्तकें उनके प्रश्न हल कर पाएंगी या नहीं, उन्होंने अपने पिता के पुस्तकालय की ८०० पुस्तकें पढ़ डालीं।

---

३ मातृवाणी भाग २ पृष्ठ १३१

४. मातृवाणी भाग १२, पृष्ठ १३०

उन्होंने अपने भाई को पढ़ाया जाने वाला विशेष गणित भी पढ़ा... उन्होंने टेनिस खेलना और पियानो बजाना सीखा और पेंटिंग तथा चित्रकला में व्यक्तिगत रूप से शिक्षा प्राप्त की तथा तैल एवं अन्य माध्यमों के प्रयोग से जीवित व्यक्तियों के चित्र बनाए।

१८९३ एवं १८९७ के बीच में श्रीमाँ ने पेरिस स्थित जुलियन अकादमी की चित्रकला परिषद में भाग लिया। सबसे कम उम्र की होने के बावजूद सभी विद्यार्थी उन्हें अपने आपसी झगड़ों की निर्णायक मध्यस्थता के लिए ढूंढ़ा करते। वे हमेशा अपने कार्य में गंभीर एवं व्यस्त रहतीं तथा उन्हें वे सब स्फिंक्स (मिस्र देश की कथाओं का एक अतीन्द्रिय जीव जो गूढ़ प्रश्नों के लिए विख्यात है) कहकर बुलाते थे। शब्दों से भी अधिक विचारों पर उनका प्रभुत्व था। एक घटना जो उनके व्यक्तित्व की शक्ति को प्रकाश में लाती है, उन्होंने एक श्रेष्ठ छात्रा को अधिकारियों के अन्यायपूर्ण निष्कासन से बचाया।

अकादमी में अपनी शिक्षा समाप्ति के बाद श्रीमाँ एक प्रतिष्ठित चित्रकार बनीं, उनके द्वारा किये गये छः चित्र सालोन 'दि ला सोसायटी नेशनल दे ब्यु आर्ट्स' (एक विश्व–विख्यात चित्रकला केन्द्र) द्वारा उस समय के अन्य ख्याति–प्राप्त कलाकारों के चित्रों के साथ प्रदर्शित किये गये।

१३ अक्तूबर १८९७ में श्रीमाँ का हेनरी मोरिसेत के साथ विवाह हुआ जो एक चित्रकार थे। उनके पुत्र, आन्द्रे का जन्म 23 अगस्त १८९८ को हुआ।

१८९६ से १९०७ का काल उनकी प्राण सत्ता एवं सौन्दर्य–बोध चेतना को प्रशिक्षित करने में बीता। वे उस समय के अग्रणी कलाकार–जिनमें रॉनिड, मातिसे एवं लेखिका एमिले जोला भी हैं– के सम्पर्क में आईं।

१९०१ में उनका परिचय... 'ले मूवमेंट कॉस्मिक' (गुह्य–विद्या एवं तंत्र का एक समूह) से हुआ जिसकी स्थापना पॉलिश गुह्य शास्त्री तथा तांत्रिक मैक्स तेयों तथा उनकी पत्नी ने की थी। बाद में उन्होंने इस समूह की पत्रिका 'ले रिव्यू कॉस्मिक' के सम्पादन में सहायता की एवं उसके पेरिस अध्याय में एक केन्द्रीय भूमिका भी निभाई।

१९०५ में उन्होंने 'ले आइडी' नामक जिज्ञासुओं के एक समूह की स्थापना की जो उनके घर में मिला करते थे।

उसी वर्ष १९०५ में श्रीमाँ मैक्स तेयों से मिलीं। अगले दो वर्षों में ... उन्होंने 'लेमकॉन, अल्जीरिया' की यात्राएँ की और तेयों दम्पति से गुह्य विद्या सीखीं।

पहले ही दिन उन्होंने तेयों से कह दिया, "मेरी चैत्य सत्ता (अन्तरात्मा) मुझे शासित करती है। मैं किसी चीज़ से नहीं डरती।"[५]

अल्जीरिया में तेयों के साथ श्रीमाँ गुह्य तंत्र विद्या में आगे बढ़ती रहीं जो उन्होंने पहले ही प्रारंभ कर दी थी। उनकी उस समय की लेखनी में वर्णन है कि किस तरह वे सूक्ष्म घटनाओं पर आधिपत्य कर पाती थीं, खतरों का उन्हें अकस्मात् अन्तर्भास हो जाता था। अन्तर्भास एवं अपनी नींद में वे सचेतन रूप से कार्य करती थीं। उन्होंने शरीर से बाहर चेतना को प्रक्षिप्त करने के प्रयोग भी किये अपने सूक्ष्म प्राण–शरीर में पेरिस जाकर।

१९०८ से १९१४ का समय श्रीमाँ के लिए एक "तीक्ष्ण मानसिक विकास" का काल था जिसमें उन्होंने मन के अंतर्गत सभी ज्ञान के परे एक सत्य एवं प्रकाशमय सामंजस्य का बोध प्राप्त किया।

इसी काल में वे बहाई धर्म के संस्थापक बहाउल्लाह के पुत्र एवं उत्तराधिकारी अब्दुल बहा तथा बौद्ध धर्म के अनुयायी यात्री एवं लेखिका 'एलेक्जेंड्रा डेविड–नील' से मिलीं। १९१२ और १९१४ के बीच श्रीमाँ ने बौद्ध ग्रंथ, *अमृतबिन्दु, कैवल्य* एवं *ईश उपनिषद, नारद भक्ति सूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता* तथा श्री रामकृष्ण वचनामृत के कुछ अंशों का अंग्रेजी से फ्रेंच में अनुवाद किया।[६]

"श्रीमाँ के पेरिस की आध्यात्मिक जिज्ञासुओं की साप्ताहिक मण्डली में पॉल रिचर्ड एक दार्शनिक विचारों वाले, पूर्व एवं पश्चिम के धर्म–ग्रंथों के प्रचुर महान अध्येता एवं वेदान्तिक योग में रुचि रखने वाले व्यक्ति के रूप में जाने जाते थे। श्रीमाँ ने उनके साथ मानवता के उत्थान के हेतु हाथ मिलाया।

१९१० में रिचर्ड एक राजनीतिक अभियान में पॉण्डिचेरी आए। परन्तु यह उनके लिये श्रीअरविन्द से मिलने का एक अवसर साबित हुआ। जब रिचर्ड भारत से पेरिस लौटे तो उन्होंने श्रीमाँ को श्रीअरविन्द के विषय में सूचना दी।"[७]

२९ मार्च १९१४ को श्रीमाँ अपने पति पॉल रिचर्ड के साथ पेरिस से पॉण्डिचेरी पहुँचीं। श्रीअरविन्द को देखते ही उन्हें स्मरण हो आया कि ११–१३ वर्ष

---

५. *दि मदर* के.आर. श्रीनिवास आयंगर, आन दि मदर : दि क्रॉनिकल्स आफ ए मैनीफिस्टेशन एण्ड मिनिस्ट्री, थर्ड रिवाइज्ड एडीशन पृष्ठ ४८४

६. दि मदर : *इमेजेज ऑफ हर लाइफ*, श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, २००१

७. नीलिमा दास, *ग्लिम्पसेस ऑफ दि मदर्स लाइफ*, पृ १२

की आयु में वे जब अंतर्दर्शन में अनेक ऋषि, महात्माओं से मिलती थीं, उनका किस तरह एक के साथ विशेष सम्बंध स्थापित हो गया था। वह 'विशेष व्यक्ति श्रीअरविन्द ही थे, जिन्हें वे अंतर्दर्शन में कृष्ण कहकर जानतीं एवं पुकारती थीं। तभी उन्हें यह स्पष्ट हो गया कि उनकी कर्म-भूमि श्रीअरविन्द के साथ यहीं पॉण्डिचेरी, भारत में है।

जुलाई १६१४ में यूरोप में प्रथम विश्व-युद्ध छिड़ गया और फ्रेंच सरकार के नियम के तहत श्रीमाँ को वापस फ्रांस जाना पड़ा। २२ फरवरी, १६१५ को, अपने सैंतीसवें जन्म दिवस के ठीक एक दिन बाद वे फ्रांस लौटीं। एक साल बाद वे जापान में जाकर लगभग ४ वर्ष रहीं परन्तु २४ अप्रैल, १६२० में वापस पॉण्डिचेरी लौटने तक श्रीअरविन्द के साथ उन्होंने अपना पत्र व्यवहार जारी रखा।[८]

८ दि मदर : इमेजेज ऑफ हर लाइफ

१९२०–१९७३ : साधकों, आश्रम एवं बच्चों के विकास में मार्गदर्शन

१९२० से १९३१ के बीच श्रीमाँ का सभी कार्यों में आगे आने का क्रम धीरे–धीरे प्रारम्भ हुआ।

१९२६ से १९३१ के बीच श्रीमाँ आश्रम के सभी छोटे–बड़े कार्यों को तथा साधकों के आध्यात्मिक विकास को बारीकी से देखा करती थीं।

१९२७ से १९३३ के बीच साधकों की संख्या २५ से बढ़कर १५० हो गई और बढ़ती ही चली गई। लगभग सभी नये आने वाले साधकों को विकसित हो रहे किसी न किसी कार्य–क्षेत्र में काम दिया गया– जैसे कि मकान बनाने का काम, अतिलियर (कार्यशाला), बागवानी, तंदूर और रसोई। श्रीमाँ के मार्ग–दर्शन में आश्रम की सभी सेवायें तेजी से विकसित हुई। वे बहुत ही विलक्षण संयोजक थीं और वह एक सूत्र जो साधकों के जीवन को बांधे था, एक आनंद जो वे अनुभव करते थे, वह था श्रीमाँ की इच्छा को अनुभव करना तथा उसके अनुसार कार्य करना। उनकी देखरेख में कार्य, ध्यान और भक्ति के माध्यम से साधना अविरल रूप से चलती रही।

उन्हीं दिनों यूरोप में फिर युद्ध के बादल छा गए और १९३९ में दूसरा महायुद्ध छिड़ गया।

युद्ध का आश्रम के जीवन पर एक और प्रभाव पड़ा : बच्चों का आगमन

२ दिसम्बर, १९४३ को २० बच्चों के साथ आश्रम में एक विद्यालय का प्रारंभ हुआ तथा मार्च १९४५ में एक शारीरिक शिक्षा विभाग। श्रीमाँ स्कूल की प्रगति की देख–रेख करती थीं तथा स्वयं पढ़ाती थीं। शारीरिक शिक्षा के कार्यक्रम में, सभी उम्र के भाग लेने वाले लोगों को अलग–अलग समूहों में बांटा गया और खेल के मैदान में श्रीमाँ नवयुवक तथा वृद्धों को एक साथ ले आई...

श्रीमाँ ने आश्रम के सामूहिक जीवन में शिक्षा को एक केन्द्रीय स्थान दिया। इसी के अनुसार उनको लगा कि श्रीअरविन्द मेमोरियल कन्वेन्सन का एक उचित अवसर है। इसे अप्रैल २४ तथा २५, १९५१ को कार्यान्वित किया गया और "इंटरनेशनल यूनिवर्सिटी सेंटर" खोलने का निर्णय लिया गया। इस तरह ६

जनवरी १९५२ को आश्रम में श्रीअरविन्द इन्टरनेशनल यूनिवर्सिटी सेंटर का उद्घाटन हुआ।

१९५१ और १९५८ के बीच श्रीमाँ की गतिविधियाँ– विशेषकर बच्चों की गतिविधियों में सक्रिय रूप से संलग्न रहीं। वे नियमित रूप से पढ़ातीं, प्रदर्शनियों का उद्घाटन करतीं, नाटक लिखतीं, पथ–प्रदर्शन करतीं, खेल प्रतियोगिताओं में हिस्सा लेतीं तथा टेनिस खेलती थीं।

२८ फरवरी, १९६८ को श्रीमाँ का एक और स्वप्न चरितार्थ हुआ–"एक ऐसी जगह जिसे कोई देश सिर्फ अपना न कह सके... एक ऐसा स्थान जहां आत्मा की आवश्यकता तथा प्रगति का महत्व, कामनाओं और वासनाओं की संतुष्टि से ऊपर स्थान ले सके..."[९] इसी दिन *'ऑरोविले'* यानी उषा नगरी–का उद्घाटन हुआ। श्रीमाँ ने इस नए नगर का लक्ष्य जो पॉण्डिचेरी से १० कि.मी. उत्तर की ओर बसाया जा रहा है, इस प्रकार बताया, "*ऑरोविले* एक विश्व व्यापक नगर बनना चाहता है जहाँ सभी देशों के नर–नारी सारे मत–सम्प्रदाय, सारी राजनीति और सारी राष्ट्रीयता से ऊपर उठकर, शान्ति एवं प्रगतिशील सामंजस्य में जी सकें, *ऑरोविले* का लक्ष्य मानव एकता को साधना है।"[१०]

१५ अगस्त, १९६१ को श्रीमाता जी ने श्रीअरविन्द जन्म शताब्दी समारोह का उद्घाटन किया।

१७ नवम्बर, १९७३ को शाम ७.२५ पर श्रीमाँ ने अपना शरीर छोड़ दिया।"[११]

---

९. मातृवाणी भाग १२, पृष्ठ ९३

१०. मातृवाणी भाग १३ पृष्ठ १९४

११. *दि मदर इमेजेस ऑफ हर लाइफ*

अध्याय–२

श्रीमाँ एवं शिक्षा

यदि हम शिक्षा को उसके विशालतम अर्थ में देखें, तो शिक्षा के क्षेत्र में श्रीमाँ का कार्य उनके पूरे जीवन–काल में चलता रहा। उन्होंने जो कुछ भी किया उसने आने वाले कार्यों के लिए दृष्टान्त स्थापित किया। कई पुस्तकें हैं[1] जो शिष्यों के साथ उनके कार्य, आश्रम को एक विस्तृत एवं आदर्श रूप में प्रतिदिन के कार्य के केन्द्र (तन्दूर, धुलाई, मुद्रण, लुहारी, बढ़ईगीरी, कढ़ाई एवं अन्य कई विभाग) उनके द्वारा विद्यार्थियों के लिए एक नए प्रकार के शिक्षा–केन्द्र तथा मानव एकता के आदर्श पर आधारित एक भविष्य का नगर, इन सब पर एक अन्तर्दृष्टि प्रदान करती हैं।

यह अध्याय, संक्षिप्त रूप में श्रीमाँ के भावी समाज के स्वप्न पर केन्द्रित है– जिसके लिये वे शिक्षा को एक अनिवार्य माध्यम मानती थीं– तथा श्रीअरविन्द आश्रम, पॉण्डिचेरी एवं उसके विद्यालय, श्री अरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र के बच्चों के साथ कुछ कार्य, साथ ही एक अन्तर्राष्ट्रीय नगर, ऑरोविले की स्थापना, पर आधारित है।

---

1 कृपया परिशिष्ट' देखें।

एक स्वप्न

"संसार में एक ऐसा स्थान होना चाहिये जिसे कोई देश या राष्ट्र अपनी ही सम्पत्ति न कह सके, ऐसा स्थान जहां सब लोग पूरी स्वतंत्रता से विश्व नागरिक बनकर एकमात्र सत्ता– परम सत्य की आज्ञा का पालन करते हुए रह सकें; वह शांति, एकता और सामंजस्य का स्थान होगा जहां मनुष्य की सारी युद्ध–वृत्तियों का उपयोग दुःख और दर्द को जीतने में, अपनी कमजोरियों और अज्ञान पर प्रभुत्व प्राप्त करने में, तथा अपनी सीमाओं और अशक्यताओं पर विजय प्राप्त करने में होगा; ऐसा स्थान जहां मामूली इच्छाओं और आवेगों की तृप्ति तथा भौतिक सुख और आमोद–प्रमोद की अपेक्षा आत्मा की आवश्यकताओं और प्रगति को अधिक महत्त्व दिया जाएगा। इस स्थान पर, बच्चे अपनी आत्मा के साथ सम्बंध खोये बिना समग्र रूप से बढ़ और विकसित हो सकेंगे; शिक्षा भी यहां परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने, प्रमाणपत्र प्राप्त करने अथवा ऊँचे पद पाने के लिए नहीं दी जायगी, वह विभिन्न क्षमताओं को बढ़ाने और नई क्षमताओं को प्रकट करने में सहायता देगी। इस स्थान पर सेवा करने और संगठित करने के अवसर उपाधियों और पदों का स्थान ले लेंगे। प्रत्येक व्यक्ति की शारीरिक आवश्यकताओं को समान रूप से पूरा किया जाएगा। सामान्य अवस्था में मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक श्रेष्ठता जीवन के सुखों व शक्तियों के बढ़ावे में नहीं, बल्कि कर्तव्यों और जिम्मेदारियों की वृद्धि में अभिव्यक्ति पायेगी। सभी लोगों को सभी प्रकार का कलात्मक सौंदर्य, चित्रकला, शिल्प, संगीत, साहित्य आदि समान रूप से प्राप्य होगा। इस कलात्मक सौंदर्य का आनंद प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामाजिक या आर्थिक परिस्थिति के बल पर नहीं, बल्कि अपनी आंतरिक क्षमताओं के अनुपात में ही प्राप्त कर सकेगा। क्योंकि इस आदर्श–स्थान में धन सम्राट नहीं होगा; भौतिक संपत्ति तथा सामाजिक पद की अपेक्षा व्यक्तित्व का अधिक मूल्य होगा। यहां पर, काम आजीविका के लिए नहीं, बल्कि अपने–आपको अभिव्यक्त करने और अपनी क्षमताओं तथा संभावनाओं को विकसित करने के लिए होगा, साथ ही यह काम पूरे समुदाय के लिए भी होगा। दूसरी ओर, समुदाय हर एक के निर्वाह तथा कार्य क्षेत्र का प्रबंध करेगा। संक्षेप में, यह ऐसा स्थान होगा जहां मानव सम्बंध, जो प्रायः एकांतिक रूप से प्रतियोगिता और संघर्ष पर आधारित होते हैं,

अधिक अच्छा करने की स्पर्धा तथा सहयोग में और भ्रातृ–भाव में बदल जायेंगे।

"निश्चय ही, पृथ्वी अभी ऐसे आदर्श को चरितार्थ करने के लिए तैयार नहीं है, क्योंकि अभी तक मानव के पास इसे समझने और स्वीकार करने के लिए आवश्यक ज्ञान नहीं है, न इसे कार्यान्वित करने के लिए अनिवार्य सचेतन शक्ति ही है; इसीलिये मैं इसे स्वप्न कहती हूं।

"फिर भी यह स्वप्न वास्तविक बनने की तैयारी में है। हम श्रीअरविन्दाश्रम में अपने सीमित साधनों के अनुसार एक छोटे पैमाने पर यही करने का प्रयास कर रहे हैं। उपलब्धि अभी पूर्णता से काफी दूर है, फिर भी प्रगति हो रही है; धीरे–धीरे हम अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं। हम आशा करते हैं कि एक दिन वर्तमान दुर्व्यवस्था में से निकल कर अधिक सत्य और अधिक समस्वर नये जीवन में प्रवेश के लिए हम इसे संसार के सामने एक क्रियात्मक और प्रभावशाली साधन के रूप में रख सकेंगे।"[२]

"पृथ्वी पर मनुष्य जिन परिस्थितियों में जीवन जीते हैं वह उनकी चेतना की अवस्था का परिणाम है। बिना चेतना को बदले, इन परिस्थितियों को बदलने का प्रयास एक व्यर्थ कल्पना है।...

"प्रतिस्पर्द्धा के सभी भाव, शासन करने और अगुआ बनने का संघर्ष गायब हो जाना चाहिये और उसकी जगह एक सामंजस्यपूर्ण संयोजना के संकल्प, एक स्पष्टदर्शिता एवं प्रभावपूर्ण सहयोग को रास्ता मिलना चाहिये।

"यह सम्भव करने के लिए, बच्चों को बहुत ही प्रारंभिक आयु से ही न सिर्फ यह विचार, परन्तु इसके अभ्यास का भी आदी होना चाहिये।

"केवल व्यवस्था एवं सामूहिक संयोजन, परस्पर सद्भावना पर आधारित सहयोग में ही मनुष्य की इस दुखद अव्यवस्था से जिसमें वह स्वयं को पाता है– ऊपर उठने की सम्भावना है।"[३]

---

२. मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ ६६,६७

३. मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ ३९–४२

श्रीमाँ का बच्चों के साथ कार्य

"१९२० से १९३० के बीच, श्रीमाँ का शिक्षा–सम्बंधी मार्गदर्शन कुछ व्यक्तियों को फ्रेंच पढ़ाने तथा पाठ्यक्रम में सलाह देने तक सीमित था। तब, आश्रम के नियमानुसार, बच्चों को रहने की अनुमति नहीं थी। लेकिन १९४० के प्रारंभ में कुछ परिवारों को आश्रम में रहने की अनुमति मिली और बच्चों को पढ़ाने का कार्य प्रारंभ हुआ। २ दिसम्बर, १९४३ को, श्रीमाँ ने लगभग २० बच्चों के लिए औपचारिक रूप से एक स्कूल खोला। वे स्वयं शिक्षकों में से एक थीं। विद्यार्थियों की संख्या अगले ७ वर्षों में धीरे–धीरे बढ़ती गई।"

२४ अप्रैल, १९५१ को, श्रीमाँ ने एक सभा की अध्यक्षता की जिसमें एक "अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय केन्द्र" की स्थापना का निर्णय लिया गया। ६ जनवरी, १९५२ को उन्होंने "श्री अरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय केन्द्र" का उद्घाटन किया।[४, ५]

"कक्षाएं... बच्चों के लिए १६ नवम्बर १९५० से ही शुरू हो गई थीं। मंगलवार को पठन, गुरुवार को कहानी–कथन तथा रविवार को श्रुति–लेख होता था। फिर श्रीमाँ ने बड़े बच्चों के लिए कक्षाएँ जोड़ीं : विद्यालय के उन प्रारंभिक सात वर्षों में, ये बच्चे बड़े हो गए थे और अन्य जुड़ गए थे। श्रीमाँ ने इन बड़े बच्चों की कक्षाएँ बुधवार को लेनी शुरू कीं जिसमें कुछ साधक भी आने लगे। बुधवार की कक्षाएँ, जैसा उन्हें जाना जाने लगा, सूचना, ज्ञान एवं आध्यात्मिक प्रकाश को संचारित करने की एक अद्‌भुत माध्यम बन गई। सप्ताह में तीन दिन, संध्या की मार्चिंग (आश्रम के नियमित शारीरिक प्रशिक्षण का एक हिस्सा) के बाद, श्रीमाँ फ्रेंच कक्षायें लेने लगीं... बच्चों के लिये...बाद में ये कक्षाएँ उन्हें *धम्मपद* की जानकारी देने के लिए उपयोगी हुई।

यह विद्यालय अन्य विद्यालयों की तरह होने के लिए नहीं बना था और यहाँ केवल शास्त्र–विषयक पढ़ाई पर जोर नहीं दिया जाता था। यह वास्तव में सत्ता की सभी प्रतिभाओं एवं क्षमताओं के विकास का केन्द्र था। शरीर, मन, आत्मा की चेतना के विकास का केन्द्र।

जैसे–जैसे विद्यालय बढ़ता गया, साथ–साथ शारीरिक शिक्षा विभाग भी

---

४. परिशिष्ट २

५. मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ १०९

बढ़ने लगा। १९४५ में प्रारंभ किया गया श्रीमाँ की देख–रेख में यह सुनियोजित रूप से व्यवस्थित होता गया, बच्चों की विकसनशील अन्तरात्मा के घर के रूप में शरीर के लिए एक दृढ़ एवं स्वस्थ नींव तैयार करने हेतु।

श्रीमाँ सदैव खेल के मैदान में होने वाली एथलेटिक्स प्रतियोगिताओं में विशेष रुचि लेती थीं। कई प्रतियोगिताओं में तो वे स्वयं निर्णायक रहती थीं। वे सभी भाग लेने वालों के प्रयास का फल देखतीं। सहभागियों को उनकी आयु अथवा समूह के अनुसार नहीं बल्कि उनकी क्षमता के अनुसार वर्गीकृत किया जाता था।

श्रीमाँ कई बच्चों एवं शिक्षकों को रंगमंच व नाट्य–कला में भाग लेने को प्रोत्साहित करतीं। उन्होंने अभिनय के लिए स्वयं कुछ नाटकों की रचना की।"[६]

ऑरोविले की स्थापना

'२८ फरवरी, १९६८ को श्रीमाँ ने ऑरोविल, उषा नगरी (दि सिटी आफ डॉन) की स्थापना की, एक अन्तर्राष्ट्रीय नगर के रूप में, पॉण्डिचेरी से १० कि.मी. उत्तर की ओर। *ऑरोविले*, एक समाप्त न होने वाली शिक्षा का स्थान है, जहां शिक्षा, वातावरण, कृषि, निर्माण तथा ऊर्जा के क्षेत्र में कई प्रकार के प्रयोग किये जा रहे हैं।

ऑरोविले एक वैश्व नगरी बनना चाहता है जहां सभी देशों के नर–नारी शान्ति और बढ़ते हुए सामंजस्य में, सभी मतों, समस्त राजनीति और सब राष्ट्रीयताओं से ऊपर रह सकें।[७]

ऑरोविल अन्तहीन शिक्षा का, सतत विकास एवं एक ऐसे यौवन का स्थल होगा जिसे कभी बुढ़ापा नहीं व्यापेगा।[८]

शिक्षा का आधार यह रहेगा कि हम भविष्य से क्या पाने की आशा कर सकते हैं, न कि विगत ज्ञान के ऊपर। जो हम शिक्षा देना चाहते हैं वह मात्र एक मानसिक विचार नहीं है यह जीवन तथा चेतना की संसिद्धि का एक नया सूत्र है।[९]

---

६. *दि मदर इमेजेस आफ हर लाइफ*

७. मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ १८२

८ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ १८६

९ दिनकर

भाग–२

शिक्षक का विकास

अध्यापक की शिक्षा के सभी कार्यक्रम अध्यापक के प्रशिक्षण के लिये होते हैं, किन्तु वे स्वयं में कुछ क्षमताएं, सूचनाओं के आदान–प्रदान एवं कौशल तक ही सीमित होकर रह जाते हैं। बेशक ये आवश्यक हैं, परन्तु शिक्षक की योग्यता इस बात पर निर्भर करती है कि वह किस कोटि का एवं किस मात्रा में स्वयं सतत प्रगति कर रहा है।

शिक्षा को एक पवित्र कार्य माना गया है – यह कहा जाता है कि सच्चा शिक्षक होने के लिए एक योगी होने की आवश्यकता है – अतः विकास का बहुत महत्त्व है। केवल यही एक अन्तर्निहित भाव है जो उस ठहराव, शिथिलता, तनाव, अकर्मण्यता का हल है जो अधिकांश शिक्षक आधुनिक पाठशालाओं में अनुभव करते हैं।

श्रीमाँ द्वारा प्रतिपादित शिक्षा की पंचविध प्रणाली का सर्वांगीण मनुष्य के शारीरिक, प्राण, मानसिक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक पक्षों की शिक्षा के रूप में भी उल्लेख किया जाता है।

सर्वांगीण (सम्पूर्ण) शिक्षा के सिद्धांतों को व्यवहार में लाने के लिए शिक्षक की चेतना का सर्वाधिक महत्त्व है। यह उनकी चेतना की अवस्था है जो उनके शिक्षण–कार्य की सफलता का निर्णय करेगी। जिस सीमा तक वह विद्यार्थियों के साथ एकत्व स्थापित कर पाएगी वही उनके कार्य की कुशलता का निर्धारण करेगी।

इस भाग के नीचे लिखे अध्याय है :

१ – शिक्षक की प्रगति (*व्यावहारिक मार्गदर्शन*)

- शिक्षक की पहचान
- शिक्षक एक स्रष्टा और सहायक के रूप में

---

1 श्री माँ प्रतिपादित शिक्षा की पंचिविध प्रणाली का सर्वांगीण मनस्क रे शरीर के, प्राण, मानसिक मनोवैज्ञानिक और अध्यात्मिक पक्षो की शिक्षा के रूप में भी उल्लेख किया जाता है।

- शिक्षक का उत्तरदायित्व
- शिक्षक की कार्य–कुशलता
- शिक्षक का विकास

२ – शिक्षक की पंचविध भूमिका (व्यवहारिक मार्गदर्शन)

- अन्तर्द्रष्टा
- परिवर्तन का उत्प्रेरक
- आत्मावलोकन का अभ्यासी
- एक जीवंत उदाहरण
- एक नेता

३ – सच्ची शिक्षा के तीन सिद्धांत (*आत्मावलोकन कार्यपत्रक सहित*)

४ – इतिहास के तीन शिक्षक (*एक कथा*)

अध्याय–१

शिक्षक की प्रगति

व्यावहारिक मार्ग–दर्शन

शिक्षक की पहचान

शिक्षक का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य क्या है ?

जिन लोगों पर कोई जिम्मेदारी है उनका पहला काम – उदाहरण के लिये– जो बच्चों के शिक्षण की व्यवस्था करते हैं, दूसरों की देखभाल करते हैं, प्रशासकों से लेकर अध्यापकों और कक्षा नायकों तक – उनका पहला काम है यह सीखना कि दूसरों के साथ अपना तादात्म्य कैसे स्थापित किया जाए, उन्हीं की तरह कैसे अनुभव किया जाए। तब तुम जान सकते हो कि तुम्हें क्या करना चाहिये। तुम अपनी आंतरिक ज्योति को, अपनी चेतना को वहां रखो जहां उसे होना चाहिये, बहुत ऊंचे पर, प्रकाश में, और साथ–ही–साथ तादात्म्य प्राप्त करो, तब तुम देखोगे कि वे क्या हैं, उनकी प्रतिक्रियाएं क्या हैं, उनके विचार क्या हैं। इन सबको उस प्रकाश के सामने रखो, तब तुम भली–भाँति यह सोच सकने में सफल हो सकोगे कि उनके लिये क्या करना चाहिये। तुम हर एक से वही कहोगे जो उसे सुनने की जरूरत है, तुम हर एक के साथ ऐसा व्यवहार करोगे

जो उसे समझाने के लिए जरूरी है। और इसलिए यह एक अद्‌भुत कृपा होती है जब तुम्हें कुछ लोगों की जिम्मेदारी सौंपी जाती है, क्योंकि तब तुम सबसे आवश्यक प्रगति करने के लिए बाधित होते हो।[1]

"पहले अच्छी तरह से जानो कि तुम्हें क्या पढ़ाना है। अपने बच्चों और उनकी विशेष आवश्यकताओं को अच्छी तरह समझने की कोशिश करो।

'बहुत शांत रहो और बहुत धीरज रखो, कभी गुस्सा न करो ; दूसरों का स्वामी बनने से पहले स्वयं अपने स्वामी बनो।[2]"

---

१. मातृवाणी, भाग–५, पृष्ठ ३०० (अब ही देखो : एजुकेशन भाग–२, पृष्ठ–१६४)

२. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १९५

शिक्षक एक स्रष्टा और सहायक के रूप में

'शिक्षक को एक किताब नहीं बनना चाहिए जो स्वभाव और चरित्र का भेद किये बिना, सबके लिये एक समान, ऊंची आवाज से पढ़ी जाए। शिक्षक का पहला कर्तव्य है कि वह छात्र को अपने–आपको जानने में जिस चीज के योग्य है उसकी खोज करने में मदद दे।

इसके लिए उसके खेलों को, वह सहज और स्वाभाविक रूप से जिन क्रिया–कलापों की ओर आकर्षित होता है और यह भी कि वह क्या सीखना पसंद करता है, क्या उसकी बुद्धि सजग है या नहीं, उसे कैसी कहानियां अच्छी लगती हैं, कौन–से कामों में वह रस लेता है, कौन–सी मानवीय उपलब्धियां उसे आकर्षित करती हैं, यह सब उसे ध्यान में रखना होगा।

शिक्षक को यह पता लगाना होगा कि जिन बच्चों का उस पर उत्तरदायित्व है उनमें से हर बच्चा किस श्रेणी का है और सतर्क निरीक्षण के पश्चात् यदि उसे दो या तीन असाधारण बच्चे मिल जायें जिनमें जानने की प्यास हो, प्रगति के लिये लगन हो, तो उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि जो शक्तियां उनका व्यक्तिगत विकास साधित करती हैं उनमें चुनाव की स्वतंत्रता देते हुए वह इस उद्देश्य के लिये उन शक्तियों का उपयोग करने में उनकी मदद करे।

एक साथ बैठे श्रेणी के बच्चों को एक ही पाठ पढ़ाने का पुराना तरीका, निश्चय ही मितव्ययी और आसान है, पर साथ ही वह नितांत प्रभावहीन भी है, और इस तरह सबका समय बरबाद होता है।'[1]

मैं एक सफल शिक्षक कैसे बन सकता हूँ ?

सफल शिक्षक के व्यक्तित्व की विशेषताएं :

१. पूरा–पूरा आत्म–संयम, केवल इतना ही नहीं कि अपना क्रोध न दिखलाओ, बल्कि सभी परिस्थितियों में पूरी तरह शांत, स्थिर और अविचल बने रहना।

२. आत्म विश्वास के मामले में अपने महत्त्व की सापेक्षता का भी भान होना चाहिये।

सबसे बढ़कर, यह ज्ञान होना चाहिये कि अगर अध्यापक चाहता है कि

---

१. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ३४९, ३५०

उसके विद्यार्थी प्रगति करें तो स्वयं उसे भी हमेशा प्रगति करनी चाहिये। उसे कमी, वह जो है या वह जितना जानता है उससे सन्तुष्ट न होना चाहिये।

३. अध्यापक में अपने विद्यार्थियों के प्रति मूलभूत श्रेष्ठता का भाव न होना चाहिये और न ही उनमें से किसी के लिए वरीयता या आसक्ति।

४. उसे यह मालूम होना चाहिये कि आध्यात्मिक दृष्टि से सब समान हैं और उसके अंदर केवल सहिष्णुता की जगह व्यापक बोध और समझ होनी चाहिये।

५. "अध्यापक और माँ–बाप दोनों का यह काम है कि बच्चे को अपने आपको शिक्षित करने के योग्य बनायें और इसमें उसकी मदद करें, उसे अपनी बौद्धिक, नैतिक, सौंदर्य–बोधात्मक और व्यावहारिक क्षमताओं को विकसित करने और एक मूलभूत सत्ता के रूप में खुले तौर पर विकसित होने में मदद दें जिसे जड़ लोचदार पदार्थ की तरह कोई आकार होने के लिये गूंथने या दबाने की जरूरत नहीं।" ?

(श्रीअरविन्द, मानव क्रम–विकास)[५]

शिक्षक के रूप में मुझे किस चीज से बचना चाहिये ?

किसी बच्चे से ऐसी कोई बात न कहो जिसे सचमुच जानने के लिये भुलाना पड़े। किसी बच्चे के आगे ऐसा कोई काम न करो जो उसे बड़ा होकर न करना चाहिये।[६]

बच्चों के साथ कैसे व्यवहार किया जाये ?

बच्चों को प्रेम और मृदुता के वातावरण में शिक्षा देनी चाहिये।

मार–पीट नहीं, कभी नहीं।

डांट–डपट नहीं, कभी नहीं।

---

५. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १६७

६. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १९८

हमेशा मृदु सहृदयता, और अध्यापक को उन गुणों का जीता–जागता उदाहरण होना चाहिये जिन्हें बच्चों को प्राप्त करना है।

बच्चों को विद्यालय जाते हुए खुश होना चाहिये, सीखते हुए खुश होना चाहिये, और अध्यापक को उनका पहला मित्र होना चाहिये जो उनके आगे उन गुणों का उदाहरण रखता है जो उन्हें प्राप्त करने चाहिये। और

यह सब एकांतिक रूप से अध्यापक पर निर्भर है। इस पर कि वह क्या करता है और कैसे व्यवहार करता है।[६]

शिक्षक की सच्ची क्षमता का मूल्य कैसे आंका जाये ?

पहले तो उसे यह समझना, यह जानना चाहिये कि हम क्या करना चाहते हैं और ठीक–ठीक यह समझे कि उसे कैसे किया जाये।

दूसरे, उसमें छात्रों को समझने के लिये मनोवैज्ञानिक विवेक होना चाहिये, उसे यह पता होना चाहिये कि उसके छात्र कैसे हैं और क्या कर सकते हैं।

स्वभावतः, जो विषय पढ़ाता है उसमें वह पारंगत हो। यदि वह फ्रेंच पढ़ाता है, तो उसे फ्रेंच आनी चाहिये। यदि वह अंग्रेजी, भूगोल, विज्ञान पढ़ाता है, वह जो कुछ पढ़ाता हो उसे उसका ज्ञान होना चाहिये।

लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसमें मनोवैज्ञानिक विवेक हो।[७]

क्या अध्यापकों के वर्ग बनाने चाहिये ?

क्या ये वर्ग उनके पढ़ाने के तरीके के अनुसार बनाने चाहिये, या वस्तुओं, या अमुक विषयों के लिये उनके सादृश्य को देखकर उनके वर्ग बनाए जाने चाहिए ?

इसके लिए आवश्यक है कि जो पढ़ाई की व्यवस्था करते हैं उन्हें सूक्ष्मदर्शी मनोवैज्ञानिक, सचेत होना चाहिये और उनमें बहुत सद्भावना होनी चाहिये, उन्हें यह पता हो कि उन्हें भी सीखना है और प्रगति करनी है।

सच्ची मनोवृत्ति तो यह होनी चाहिये कि जीवन सतत अध्ययन का क्षेत्र है जहां सीखना यह सोचकर कभी बंद नहीं करना चाहिये कि हमें जो कुछ जानना चाहिये वह सब हम जानते हैं। हम सदा अधिक सीख सकते हैं और ज्यादा समझ सकते हैं।[८]

---

६. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १९८

७. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १९९

८. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ३७८

९. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ३७७

शिक्षक का उत्तरदायित्व

मैं बच्चे के विकास में कैसे सहयोग दे सकता हूं ?

"सीखने से प्रेम वह सबसे अधिक मूल्यवान उपहार है जो हम किसी बच्चे को दे सकते हैं, हमेशा और हर जगह सीखना।"[१०]

"हर जीवित सत्ता के लिये अपने–आपको जानना और अपने ऊपर काबू रखना" सीख लेना एक अमूल्य संपदा है। अपने–आपको जानने का अर्थ है अपनी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का हेतु जानना, अपने अंदर जो कुछ होता है उसका 'क्यों' और 'कैसे' जानना। अपने–आप पर काबू पाने का अर्थ है जो निश्चय कर लिया है वही करना, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं, आवेगों, कामनाओं या सनकों की न तो सुनना और न उनका अनुसरण करना।

स्पष्ट है कि किसी बालक को नैतिक नियम बतलाना कोई आदर्श चीज नहीं है; लेकिन उसके बिना काम चलाना बहुत कठिन है। जैसे –जैसे बच्चा बढ़ता जाय, उसे सभी नैतिक और सामाजिक नियमों की सापेक्षता बतलायी जा सकती है ताकि वह अपने अंदर ज्यादा ऊंचे और ज्यादा सत्य नियमों को पा सके। लेकिन इस मामले में सावधानी से आगे बढ़ना चाहिये और सत्य नियम को खोज पाने की कठिनाई पर जोर देना चाहिये। जो मानव विधि–विधान को अस्वीकार करके अपनी स्वाधीनता की घोषणा करते हैं और कहते हैं कि वे "अपना ही जीवन जीते हैं " उनमें से अधिकतर अति सामान्य प्राणिक गतिविधि की आज्ञा के अनुसार चलते हैं और उसे अपनी आंखों में न सही, कम–से–कम दूसरों की आंखों में छद्म रूप देकर न्याय संगत ठहराने की कोशिश करते हैं। वे नैतिकता को सिर्फ इसलिये ठोकर मारते हैं क्योंकि वह उनकी सहजवृत्तियों की तुष्टि में बाधक होती है।

किसी को नैतिक और सामाजिक विधानों के बारे में कोई निर्णय करने का अधिकार तब तक नहीं है जब तक कि वह उनसे ऊपर का आसन न पा ले ; आदमी उन्हें तब तक नहीं छोड़ सकता जब तक कि उनके स्थान पर कोई ज्यादा ऊंची चीज प्रतिष्ठित न कर ले, जो इतना आसान नहीं है।

---

१०. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १६७

बहरहाल, बच्चे को हम जो अच्छे से अच्छा उपहार दे सकते हैं वह है उसे अपने–आपको जानना और अपने ऊपर शासन करना सिखलाना।"[११]

हम एक विद्यार्थी को अपने–आपको जानने में किस तरह सहायता कर सकते हैं ? क्या उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि हम स्वयं एक उच्चतर चेतना के स्तर को प्राप्त कर चुके हों ?

" हाँ, जरूर।

शिक्षक की मनोवृत्ति होनी चाहिये प्रगति के लिए सतत संकल्प, वह बच्चों को जो सिखाना चाहता है केवल उसी को ज्यादा अच्छी तरह जानने के लिये ही नहीं, बल्कि उससे भी बढ़कर वे क्या बन सकते हैं यह दिखाने के लिये उसका जीवंत उदाहरण बनना।

(*पांच मिनट के ध्यान के बाद*) शिक्षक बच्चों से जो बनने की अपेक्षा रखता है उसे उसका जीता–जागता उदाहरण बनना चाहिये।"[१२]

क्या विद्यार्थियों को स्वयं को जानने की शिक्षा देने का यही एक रास्ता है ?

"ठीक तरीका बस यही है। यदि शिक्षक उनसे कहे :"झूठ नहीं बोलना चाहिये" और वह खुद बोले ; "गुस्सा नहीं करना चाहिये" और वह स्वयं गुस्सा करे – तो इसका फल क्या होगा ? बच्चे न केवल अध्यापक पर विश्वास करना छोड़ देंगे, बल्कि उस पर भी, जो वह सिखाता है ...."[१३]

विद्यालय में मेरा क्या भाव होना चाहिए ?

"विद्यालय अध्यापक और विद्यार्थी, दोनों की प्रगति का अवसर होना चाहिए। हर एक को मुक्त रूप से विकसित होने का अवसर मिलना चाहिए।

कोई पद्धति उतनी अच्छी तरह से कभी नहीं लागू की जा सकती जब तक

---

११. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १६७
१२. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ३७२
१३ मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ३७२, ३७३

कि स्वयं अध्यापक ने ही उसे न खोजा हो। अन्यथा वह अध्यापक के लिये उतनी ही उबाऊ होती है जितनी विद्यार्थी के लिए।[१४]

यह जानी हुई बात है कि हर एक, उसमें चाहे जो भी गुण और क्षमतायें क्यों न हों, उस आदर्श की सिद्धि की ओर निरन्तर प्रगति कर सकता है और करते जाना चाहिये जो अब भी वर्तमान मानव उपलब्धियों से बहुत ऊँचा है।

पर यदि कोई सचमुच अच्छे–से–अच्छा करने को उत्सुक है तो वह काम करते–करते ही प्रगति करता जाता है और अधिक–से–अधिक अच्छा करना सीखता है।

आलोचना कभी–कभार ही उपयोगी होती है, वह सहायता करने के बदले निरुत्साहित ही अधिक करती है। हर शुभ संकल्प को बढ़ावा देना चाहिये, क्योंकि ऐसी कोई प्रगति नहीं जो धैर्य और सहनशीलता से साधित न हो सके।

मूल बात तो यह है कि व्यक्ति में यह विश्वास होना चाहिये कि चाहे जितना भी उपलब्ध हो चुका हो, फिर भी उसके अन्दर इच्छा हो तो वह हमेशा ज्यादा अच्छा कर सकता है।

जिस आदर्श को प्राप्त करना है वह है आत्मा और चरित्र की अचूक *समता*, हर कसौटी पर अटल धीरता और, स्वभावतः, पसन्द–नापसन्द और कामना का अभाव।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जो सिखाता है उसके काम की उचित पूर्ति के लिये अनिवार्य शर्त है अहंकार का अभाव ; और ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो उस प्रयास की आवश्यकता से बच सके।[१५]

किसी समय कार्य की श्रेणी निम्न क्यों हो जाती है ?

'प्राण के असहयोग से उत्पन्न शक्ति की कमजोरी शिथिलता का कारण है। बच्चे इतने पर्याप्त रूप से मन में नहीं रहते कि वे सहज रूप से ऐसे मानसिक संकल्प की बात मान लें जिसे प्राण–शक्ति का सहारा प्राप्त न हो, जो उन्हें बाहरी अभिव्यक्ति के बिना ही प्रभावित करती हो। जब प्राण सहयोग देता

---

१४. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १६९
१५. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १६५

है, तो मेरी शक्ति उसके द्वारा काम करती है और अपनी उपस्थिति मात्र से प्राण में सहज रूप से व्यवस्था बनाये रखती है।

छोटे बच्चे उस मानसिक शक्ति के प्रति कम संवेदनशील होते हैं जो प्राण–शक्ति से आवेष्ठित न हो। और प्राण–शक्ति प्राप्त कर सकने के लिये स्वयं तुम्हें *पूर्ण रूप से स्थिर* होना चाहिए।"[१६]

मैं संचालन व्यवस्था अथवा प्रणाली को बदले बिना परिवर्तन कैसे ला सकता हूँ ?

'संगठन के ब्योरों को इतना अधिक नहीं, *वृत्ति* को बदलना चाहिये।

ऐसा मालूम होता है कि जब तक स्वयं अध्यापक सामान्य बौद्धिक स्तर से ऊपर नहीं उठते तब तक उनके लिए अपना कर्तव्य पूरा करना और अपने कार्य को सिद्ध करना कठिन होगा।[१७]

कोई शिक्षा की एकता को कैसे प्राप्त कर सकता है ?

"एकरूपता के द्वारा एकता नहीं प्राप्त की जा सकती।

कार्यक्रमों और पद्धतियों की एकरूपता के द्वारा शिक्षा की एकता नहीं पायी जा सकती।

एकता प्रश्न की मांग के अनुसार मौन या प्रकट रूप से केन्द्रीय आदर्श, केन्द्रीय शक्ति या ज्योति, शिक्षा के उद्देश्य या लक्ष्य के साथ सतत संपर्क द्वारा ही आ सकती है।

सत्य और परम 'एकता' अपने–आपको विविधता के द्वारा ही प्रकट करती है। मानसिक तर्क ही अभिन्नता की मांग करता है। व्यवहार में, हर एक को अपनी ही पद्धति – जिसे वह समझता और अनुभव करता है – खोजनी और काम में लानी होगी। केवल इसी तरह शिक्षा प्रभावकारी हो सकती है।"

---

१६. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ११६
१७. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १७२

शिक्षक की कार्य कुशलता

मैं अपनी शिक्षा की पद्धति को कैसे विकसित कर सकता हूं ?

"पढ़ाने का पुराना ढंग निश्चय ही पुराना पड़ चुका है और धीरे–धीरे सारे संसार से उठ जायगा।

सच्ची बात तो यह है कि हर अध्यापक को, आधुनिक विचारों से प्रेरणा लेते हुए वह पद्धति खोजनी चाहिए जो उसकी प्रकृति के अधिक अनुकूल है।[१८]

साधारण कक्षाएं भूतकाल की चीजें हैं और धीरे–धीरे गायब हो जायेंगी। रही बात अलग काम करने की या "पूर्णता की ओर" कक्षाओं के साथ मिलने की, तो यह चुनाव पूरी तरह तुम पर निर्भर है। क्योंकि किसी को चलाने, उसे पढ़ाने के लिए तुम्हें सिद्धांतों और बौद्धिक चिंतनों से हटकर बहुत ठोस व्यावहारिकता और उसके सभी ब्यौरों में आना होगा।[१९]

मुझे अपने विषय एवं पाठ्यचर्या के लक्ष्यों की तैयारी कैसे करनी चाहिए ?

एक बात जिस पर मुझे जोर देना चाहिए ....विद्यार्थियों में केवल आंकड़े और जानकारी ठूंसने की कोशिश न करो। उन्हें इतना अधिक काम न दो कि उन्हें और किसी चीज के लिए समय ही न मिले। तुम्हें रेल पकड़ने की जल्दी नहीं है। विद्यार्थी जो सीखते हैं उसे समझने दो। उन्हें उसे आत्मसात् करने दो। पाठ्यक्रम समाप्त करना तुम्हारा लक्ष्य नहीं होना चाहिए। तुम्हें कार्यक्रम इस तरह बनाना चाहिये कि विद्यार्थियों को उन दूसरी चीजों के लिये भी समय मिल सके जिन्हें वे सीखना चाहते हैं। उन्हें शारीरिक व्यायाम के लिए काफी समय मिलना चाहिए। मैं नहीं चाहती कि वे बहुत अच्छे विद्यार्थी तो हों, पर रहें दुबले–पतले, रक्तहीन और पांडुर।[२०]

एक निर्धारित पाठ्यक्रम को डिजाइन, आविष्कार एवं मौलिकता के लिये पर्याप्त समय के साथ कैसे जोड़ा जाए ?

---

१८ मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १८२
१९ मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १८२
२० मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १७०

तैयार करने की जगह अपने आप तैयार करने का कष्ट उठाना चाहिये। उसे काफी जानना चाहिये और दिन-प्रतिदिन पाठ तैयार करने का कष्ट उठाना चाहिये और तब वह किसी विषय का पाठ तभी बंद करेगा जब – मैं यह नहीं कहती कि हर एक समझ लेगा, क्योंकि यह तो असंभव है – कम-से-कम जिन्हें वह कक्षा में रस लेने वाले समझता है, वे समझ लेंगे, तब नया विषय लिया जाता है। और अगर यह चलता रहे और कोई विशेष विषय एक साल की जगह दो साल ले ले या कोई और विषय दो साल की जगह डेढ़ में ही पूरा हो जाये तो इसमें कोई हर्ज नहीं; क्योंकि यह उसकी अपनी रचना है, उसका अपना लिखा हुआ पाठ है जिसे वह कक्षा की आवश्यकता के अनुसार लिखता है। पढ़ाने के बारे में मेरी यही धारणा है। अब, इसकी अपनी कठिनाइयां हैं। लेकिन काम करने का सच्चा तरीका यही है। क्योंकि एक किताब लेकर उसी का अनुसरण करने से और विशेषकर ऐसी किताब जो विद्यार्थियों के लिये जरा भी अनुकूल न हो ...... मैं नहीं कहती कि एक विशेष पाठ्यक्रम सबके लिये अनुकूल हो सकता है, सबको संतुष्ट करना असंभव है। लेकिन कुछ लोग ऐसे हैं जो प्रयास करना चाहते हैं ; तुम्हें इनका ख्याल करना चाहिये। जो आलसी, निद्रालु और अकर्मण्य हैं उन्हें तो अपने आलस्य, निद्रालुता और अकर्मण्यता में ही छोड़ दो। अगर वे सारे जीवन सोते रहना चाहते हैं तो सोने दो, जब तक कि कोई चीज उन्हें काफी झकझोर कर जगा न दे। लेकिन श्रेणी में वह भाग ध्यान देने योग्य है जो सीखना चाहता है, जो लोग सचमुच सीखना चाहते हैं कक्षा उन्हीं के लिये ली जानी चाहिये। तुम देखते नहीं हो कि शिक्षा की वर्तमान पद्धति एक प्रकार से समतल बनाना है। हर एक को उसी स्तर पर होना चाहिये। तो जिन लोगों के सिर ज्यादा ऊंचे हैं उनके सिर काट दिये जाते हैं और जिनके बहुत छोटे हैं उन्हें नीचे से धक्का दिया जाता है। लेकिन इससे कोई लाभ नहीं । तुम्हें उन्हीं की परवाह करनी चाहिये जो ऊपर आते हैं, दूसरे जितना ले सकते हैं, लेंगे। और वास्तव में मैं इस बात की कोई जरूरत नहीं समझती कि हर एक को एक ही चीज का ज्ञान हो – क्योंकि यह सामान्य बात नहीं है। लेकिन जो जानना चाहते हैं और जान सकते हैं, जिन्हें काम करना चाहिये, उन्हें काम करने के पूरे, सब संभव साधन दिये जाने चाहिये, उन्हें हमेशा ऊपर उठाना चाहिये और नया भोजन देना चाहिये। वे भूखे हैं और उन्हें खिलाना चाहिये। ....आह! अगर मेरे पास

समय होता तो मैं कक्षा लेती। इसमें मुझे बहुत रस आयेगा – यह दिखाने में कि यह कैसे किया जाना चाहिये। लेकिन हम एक ही समय में हर जगह नहीं हो सकते।[२१]

पाठ्यपुस्तक का सही उपयोग कैसे किया जाय ?

"उन्हें (विद्यार्थियों को) सचमुच पुस्तकों की जरूरत नहीं है। अध्यापक या अध्यापकों को पुस्तक का उपयोग करके विद्यार्थियों की आवश्यकता के अनुसार, उन की जानकारी और क्षमता के अनुसार पाठ तैयार करने चाहिये। मतलब यह कि अध्यापक को पढ़ना चाहिये कि पुस्तक में क्या है, उसे थोड़ा–थोड़ा करके, काफी व्याख्या के साथ, टिप्पणियों और उदाहरणों के साथ विद्यार्थियों को समझाना चाहिये ताकि विषय सुगम और आकर्षक बन सके, यानी, निर्जीव, सूखा सिद्धांत न बनकर सजीव व्यावहारिक चीज बन जाये।[२२]

काम के दबाव से कैसे पेश आएँ ?

"जब तुम काम करो, उस समय यदि तुम एकाग्र हो सको तो तुम ठीक दस मिनट में उतना काम कर सकोगे जितने में अन्यथा एक घंटा लग जाता। अगर तुम समय लाभ बचाना चाहो तो एकाग्र होना सीखो। ध्यान देकर काम करने से ही आदमी तेजी से काम कर सकता है और काम ज्यादा अच्छा भी होता है। अगर तुम्हारे पास आधे घंटे का काम है – मैं यह नहीं कहती, निश्चय ही – कि यदि तुम्हें आधा–घंटा लिखना हो – नहीं, यदि तुम्हें सोचना हो और तुम्हारा मन इधर–उधर उड़ता फिर रहा हो, अगर तुम जो कुछ कर रहे हो उस पर ध्यान न देकर यह भी सोचो कि तुम क्या कर चुके हो, और क्या करने वाले हो, और इसी तरह और चीजें सोचा करो, तो इन सबके कारण, काम में जितना समय लगना चाहिये उससे तिगुना समय नष्ट होता है। जब तुम्हारे पास बहुत अधिक काम हो तो तुम्हें, जो कर रहे हो, केवल उसी पर एकाग्र होने की आदत डालनी चाहिये। ध्यान देकर काम करने से जिस काम में एक घंटा लग जाता वही काम दस मिनट में हो सकता है।[२३]

---

२१. मातृवाणी, भाग–५, पृष्ठ १०६, १०७ (देखें एजूकेशन भाग–२, पृष्ठ १५६–१५७ भी)

२२. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १८०–८१

२३. मातृवाणी, भाग–५, पृष्ठ १२५ (देखें एजूकेशन भाग–२, पृष्ठ १५८–१५९ भी)

बच्चों पर व्यक्तिगत ध्यान कैसे दिया जाय ?

"इसके लिए कोई सिद्धांत नहीं बनाया जा सकता। यह व्यक्ति–विशेष पर, संभावनाओं और परिस्थितियों पर निर्भर है। यह एक मनोवृत्ति है जिसे शिक्षक को अपनाना चाहिये और अपनी शक्ति भर अच्छी से अच्छी तरह काम में लाना चाहिये और संभव हो तो अधिकाधिक काम में लाना चाहिये।"[२४]

हमें छोटे बच्चों के लिये क्या करना चाहिये ?

"ओह, छोटे बच्चे बहुत अद्‌भुत होते हैं ! मैं बहुत से छोटे बच्चों को देखती हूँ। लोगों को उन्हें मेरे पास लाने की आदत हो गयी है। उन बच्चों में जो अभी दो वर्ष से भी कम के हैं उनमें अभी से जो चेतना होती है वह अद्‌भुत है। वे सचेतन होते हैं। उनके पास अपने–आपको अभिव्यक्त करने के लिये साधन नहीं होते, शब्द नहीं होते, परंतु वे बहुत सचेतन होते हैं। अतः बच्चे को डांटना, लगता है कि ....!

उस दिन परसों, एक बच्चा मेरे पास लाया गया था और वह बुड़बुड़ा रहा था। और निश्चय ही उसकी मां ....। तो मैंने उसे एक गुलाब दिया और कहा : "देखो, यह तुम्हारे लिये है !" निश्चय ही, वह शब्द तो नहीं समझा, पर उसने गुलाब को इधर–उधर घुमाया और शांत हो गया। छोटे बच्चे अद्‌भुत होते हैं। यह काफी है कि उनके चारों ओर चीजें रख दो और उन्हें छोड़ दो। जब तक कि बहुत जरूरी न हो बीच में मत पड़ो। और उन्हें छोड़ दो। और उन्हें कभी मत डांटो।"[२५]

"बच्चों की कक्षाओं के शिक्षकों से

एक ऐसा नियम जिसका कठोरता से पालन होना चाहिये" :

बच्चों को पीटना *सख्ती से मना है* – सब प्रकार की मार निषिद्ध है, हल्का या तथाकथित मैत्रीपूर्ण घूँसा भी। किसी बच्चे को इसलिये मारना क्योंकि वह आज्ञा पालन नहीं करता या नहीं समझता या औरों को तंग करता है, आत्म–संयम के अभाव का सूचक है, और यह अध्यापक तथा विद्यार्थी, दोनों के लिये हानिकारक है।

---

२४. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १७८

२५. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १९५–९६

हानिकारक है।

जरूरत हो तो अनुशासनात्मक कार्यवाही की जा सकती है पर पूरी तरह स्थिर शांति के साथ, किसी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया के कारण नहीं।"[२६]

हम छोटे बच्चों को कैसे पढ़ाएँ ?

"सात वर्ष की अवस्था तक बच्चों को मौज करनी चाहिये। विद्यालय एक खेल हो और वे खेल ही खेल में सीखें। खेलते-खेलते उनके अंदर सीखने, जानने और जीवन को समझने के लिये रस उत्पन्न होगा। पद्धति का बहुत महत्त्व नहीं है। अध्यापक की वृत्ति का महत्त्व है। अध्यापक को ऐसी चीज नहीं होना चाहिये जिसे दबाव के कारण स्वीकार किया जाता है। वह सदा एक ऐसा मित्र होना चाहिये जिससे तुम प्यार करते हो क्योंकि वह तुम्हारी मदद और मनोरंजन करता है।[२७]

यह कभी न भूलो कि छः वर्ष से कम का छोटा बच्चा जितना कर सकता है उससे बहुत अधिक जानता है।[२८]

हम बड़े बच्चों को कैसे पढ़ाएँ ?

स्वभावतया, जिस अनुपात में बच्चों की चेतना और बुद्धि विकसित होती है, हमें इन चीजों के द्वारा बच्चों के साथ व्यवहार करना चाहिये।[२९]

११-१३ वर्ष के बच्चों को क्या सिखाएँ ?

"सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात जो उन्हें सिखानी चाहिये वह है सच्चे और निष्कपट होने की परम आवश्यकता ।

समस्त असत्य को, चाहे वह कितना भी हल्का क्यों न हो, अस्वीकार करो।

उन्हें सदा प्रगति करते रहना भी सिखाना चाहिये क्योंकि जैसे ही कोई प्रगति करना बंद करता है, वैसे ही वह पीछे गिरता है और यह क्षय का आरंभ है।[३०]

किशोरावस्था में बच्चों के साथ कैसा व्यवहार करें ?

---

२६. मातृवाणी, भाग-१२, पृष्ठ १९७
२७. मातृवाणी, भाग-१२, पृष्ठ १८४
२८. मातृवाणी, भाग-१२, पृष्ठ १९८
२९. मातृवाणी, भाग-१२, पृष्ठ ३७९
३०. मातृवाणी, भाग-१२, पृष्ठ १५२-१५३

चाहिये कि चौदह वर्ष से ऊपर के बच्चों को स्वाधीनता मिलनी चाहिये। उन्हें सलाह तभी दी जाये जब वे सलाह मांगें।

उन्हें यह पता होना चाहिये कि अपने जीवन की व्यवस्था करने के लिये वे स्वयं जिम्मेदार हैं।[३१]

हम अपनी कक्षा के बच्चों को श्रेणी में कैसे डालें ?

"उनका रहन–सहन देखकर ।

बच्चों को श्रेणीबद्ध करने के लिये उनके चरित्र को, उनकी आदतों और प्रतिक्रियाओं के निरीक्षण द्वारा जानना होगा। शिक्षक को पाठ सुनाने का यंत्र नहीं बनना चाहिये, उसे मनोवैज्ञानिक और निरीक्षक बनना होगा।[३२]

हम शारीरिक प्रशिक्षण सीखने वालों की श्रेणी कैसे बनाएँ ?

शारीरिक व्यायाम के लिये, सब कुछ शरीर और उसकी क्षमताओं पर निर्भर है। सरल और न थकाने वाले व्यायाम सभी को दिये जा सकते हैं।

इसके बाद, सब कुछ उनके शरीर, उनकी शक्ति, उनके स्वास्थ्य, थकान के प्रति उनकी सहनशक्ति आदि, पर निर्भर है।

क्षमताओं के अनुकूल व्यायाम देना चाहिये और क्षमताओं के अनुरूप ही बच्चों का वर्गीकरण होना चाहिये। यह अनुभव और निरीक्षण का प्रश्न है।

शारीरिक शिक्षा का अच्छा शिक्षक बनने के लिये शरीर–विज्ञान, शरीर अवयवों के अलग–अलग काम, उनका विकास और उनकी क्रियाओं के बारे में जानना चाहिये।[३३]

बच्चों को खेल–कूद कैसे सिखाएँ ?

"योजना अच्छी चीज है, लेकिन बच्चों की अपेक्षा तुम्हारे लिये ज्यादा अच्छी है। मेरा मतलब यह है कि तुम्हें ठीक–ठीक पता होना चाहिये कि तुम क्या करना चाहते हो और तुम्हें अपने काम की व्यवस्था करनी चाहिये। लेकिन अपनी

---

३१. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १५३
३२. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १५७
३३. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ३८२

पद्धति को बहुत कठोरता से लागू मत करो क्योंकि बच्चे अपनी गतिविधि में स्वतंत्र और सहज होना चाहते हैं और स्वतंत्रता उनके विकास के लिये अच्छी है।[१४]

यौन शिक्षा के प्रति मेरा प्रारम्भिक कदम क्या होना चाहिये ?

"यौन शिक्षा" क्या है ? वह क्या सिखाती है ?

मुझे तो पसंद नहीं कि इन चीजों में व्यस्त रहा जाय। हमारे समय में हम कभी इन विषयों में नहीं उलझा करते थे। अब बच्चे हर घड़ी इसी की चर्चा करते हैं – यह उनके दिमाग में, उनकी भावना में घर कर गया है। यह बात घिनौनी है। यह कठिन है, बहुत कठिन है।

लेकिन यदि बाहर इसकी चर्चा करते हैं तो यहां भी उसके बारे में बताना चाहिये। उन्हें यह बता देना चाहिये कि इन चीजों का क्या परिणाम होता है। खासकर लड़कियों को बता देना चाहिये कि परिणाम घातक हो सकते हैं। मैं जब छोटी थी, उस जमाने में, कभी इन सब चीजों की चर्चा नहीं होती थी, इन विषयों में सिर नहीं खपाया जाता था। उस जमाने में, इन सबके बारे में कोई बात ही नहीं करता था। मैं नहीं चाहती कि यहां इस विषय पर बहस की जाय। इसीलिये तो तुम शारीरिक व्यायाम में लगे रहते हो। इस तरह सारी शक्तियां बल, सुन्दरता, क्षमता आदि विकसित करने में काम आती हैं, और तुम्हें अधिकाधिक संयम करने का बल मिलता है। तुम देखोगे कि जो बहुत शारीरिक व्यायाम करते हैं वे आवेगों को दमन करने में अधिक सबल होते हैं।

(ध्यान के बाद) जिस शक्ति का उपयोग मनुष्य प्रजनन में करते हैं और जिसने उनके जीवन में एक गुरुतर स्थान बना लिया है, उस शक्ति का उपयोग उन्हें इसके विपरीत प्रगति और उच्चतर विकास के लिये करना चाहिये, नयी जाति के आगमन की तैयारी में लगाना चाहिये पर पहले शरीर और प्राण को कामनाओं से मुक्त करना होगा, नहीं तो भयंकर अनर्थ होने का डर रहता है।[१५]

कक्षा को अनुशासन में कैसे रखें ?

तुम बच्चों पर मनोवैज्ञानिक शासन तभी ला सकते हो जब तुम्हें स्वयं

---

१४. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ २६८

१५. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ३७८, ३७९

१६. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १९५

अपनी प्रकृति पर काबू हो।[३६]

अगर तुम्हें दूसरों पर अधिकार का प्रयोग करना है तो पहले स्वयं अपने ऊपर अधिकार प्राप्त करो। अगर तुम बच्चों में अनुशासन नहीं रख सकते तो मार–पीट न करो, चिल्लाओ मत, व्यग्र मत होओ – इसके लिये अनुमति नहीं दी जा सकती। ऊपर से स्थिरता और शांति को उतारो। उनके दबाव से चीजें सुधर जायेंगी।[३७]

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है आत्म–संयम और कभी गुस्सा न करना। अगर तुम्हें अपने ऊपर संयम न हो तो तुम दूसरों को वश में करने की आशा कैसे कर सकते हो, और फिर, बच्चे तो तुरन्त पहचान लेते हैं कि तुम आपे से बाहर हो ?[३८]

विद्यार्थियों के आदर के योग्य कैसे बनें ?

मुझे तुम्हें यह बतला देना चाहिये कि अगर कोई अध्यापक मान चाहता है तो उसे *माननीय* होना चाहिये। पहले तुम्हें आत्म–संयम करना चाहिये और अपनी इच्छा लादने के लिये कभी पाशविक बल का प्रयोग नहीं करना चाहिये।[३९]

कक्षा में शांति कैसे स्थापित करें, और बच्चों से कुछ कार्य करवाएँ ?

सबसे उपयोगी चीज है उनके अंदर अध्ययन के लिये *सच्ची* रुचि, *सीखने और जानने की आवश्यकता* पैदा करना या जगाना, उनकी मानसिक जिज्ञासा को जाग्रत करना।[४०]

अगर तुम्हारी स्थिरता सर्वांगीण है, यानी, एक साथ आंतरिक और बाह्य है, अगर वह 'भागवत उपस्थिति' की धारणा पर आधारित है, और निर्विकार है, यानी, हर परिस्थिति में सतत और अपरिवर्तनीय है तो वह निःसंदेह सर्वशक्तिमान होगी, और बच्चे अनिवार्य रूप से उसके प्रभाव के आगे झुक जाएंगे और कक्षा, सहज और लगभग स्वाभाविक रूप से, ठीक वही होगी जो तुम चाहते हो कि हो।[४१]

---

३७. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १९५
३८. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १९७
३९. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १९६–१९७
४०. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ३३५
४१. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ३३९

दूसरों के साथ काम करने का सही तरीका क्या है ?

प्रगति विस्तार में है, प्रतिरोध में नहीं।

सभी दृष्टि बिन्दुओं को, हर एक को उसके सच्चे स्थान पर रखकर, साथ लाना चाहिये, किसी की अवहेलना करके किसी और पर जोर न देना चाहिये।

सच्ची प्रगति आत्मा के विस्तार और सभी सीमाओं के समापन में है।[४२]

---

४२. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १८३, १८४

शिक्षक का विकास

शिक्षक के लिए आत्म–विकास क्यों आवश्यक है ?

तुम बच्चों पर मनोवैज्ञानिक शासन तभी ला सकते हो जब तुम्हें स्वयं अपनी प्रकृति पर काबू हो।"[४३]

प्रगति क्यों ?

आदमी को हमेशा केवल बौद्धिक ढंग से नहीं, मनोवैज्ञानिक ढंग से भी सीखते रहना चाहिये, उसे चरित्र की दृष्टि से प्रगति करनी चाहिये, अपने अन्दर गुण उपजाने और दोष ठीक करने चाहिये ; हर चीज को अपने अज्ञान और अक्षमता को दूर करने का अवसर बनाना चाहिये, तब जीवन बहुत दिलचस्प और जीने योग्य बन जाता है।"[४४]

क्या कोई यथास्थान बना रह सकता है – बिना प्रगति या अवनति के ?

व्यक्ति निश्चल नहीं रह सकता। यदि व्यक्ति सब समय भली प्रकार सावधान रहे, क्योंकि वह कई टुकड़ों से बना है, यदि व्यक्ति में पीछे छूट जाने वाले टुकड़ों को अपने साथ घसीटने की आदत न हो, तो वह यदि एक ओर आगे बढ़ता है तो एक ओर पीछे भी हट सकता है। ऐसा होता है। और तब पूरा परिणाम बहुत अधिक संतोषजनक नहीं होता।

सामान्य जीवन में, सामान्य व्यक्तियों के साथ, सदा यही होता है। उदाहरणार्थ, एक ऐसे व्यक्ति को लो जो अध्ययन कर रहा है या कोई काम कर रहा है – वैज्ञानिक कोई खोज कर रहा है। वह अपने अध्ययन में आगे बढ़ रहा है, वह अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त कर रहा है। किंतु चूंकि वह अपने अंतरीय या निजी जीवन अथवा बाह्य जीवन के विषय में लापरवाह रहता है, तो हो सकता है कि वह अधिकाधिक पिछड़ जाय या अचेतन ही रहे या उसमें बहुत बुरे दोष भी उत्पन्न हो सकते हैं ; चाहे वह विज्ञान के क्षेत्र में कितनी ही प्रगति क्यों न कर ले, एक मनुष्य के रूप में वह एक बड़ा ही खेदजनक प्राणी हो सकता है। ऐसा प्रायः देखने में आता है। और अपने बारे में तुम यदि सावधानी नहीं बरतोगे,

---

४३. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १९५

४४. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १२४

तो हो सकता है कि तुम्हारा एक भाग प्रगति करे और दूसरा पीछे रह जाय। यदि व्यक्ति बहुत अधिक सावधान न रहे, यदि वह अपनी बाह्य क्रियाओं पर नियंत्रण न रखे, यदि वह अपने प्राण को अपनी ही रौ में बहते जाने की अनुमति न देने की विशेष सावधानी न बरते, तो, अचानक ही एक दिन वह देखेगा कि उसमें बहुत बुरी आदतें पैदा हो गयी हैं और वह एक बहुत निकृष्ट रास्ते का अनुसरण कर रहा है, चाहे उसकी सत्ता के मानसिक भाग में तीव्र अभीप्सा हो और वह ज्ञान के क्षेत्र में और यहाँ तक कि आध्यात्मिक जीवन में भी प्रगति कर रहा हो। यदि व्यक्ति इस ओर ध्यान न दे, तो बड़ी आसानी से गड्ढे में जा गिरता है। व्यक्ति एक गलत पग उठाता है और फिसलकर गड्ढे के तले के साथ जा टकराता है और तब अपने–आपसे कहता है: "किंतु यह सब हुआ कैसे ? यह क्या हुआ ?" केवल एक गलत कदम । तुमने सावधानी नहीं बरती, तुमने अपनी सत्ता के उस भाग को अपने क्षेत्र में खींच ले जाने की अनुमति दे दी; क्योंकि तुमने उसे उसके अपने रास्ते पर चलने से नहीं रोका, उसे तुम्हारा अपना अनुसरण करने को विवश नहीं किया, अब वह तुम्हें पीछे की ओर घसीट रहा है।

सामान्य जीवन में यह सब समय होता रहता है। बात केवल इतनी है कि तब तुम कहते हो: "परिस्थितियां ही ऐसी हैं, यही मेरे भाग्य में लिखा है, दुर्भाग्य है यह मेरा, यह उनका दोष है," या फिर "मेरे भाग्य ही अच्छे नहीं है।" यह सब कहना है भी बहुत, बहुत, बहुत सहज। व्यक्ति सब कुछ पर पर्दा डाल देता है और फिर आशा करता है... हां, व्यक्ति के अच्छे क्षण भी होते हैं और बुरे भी, और अंत में– हां, अंत में गड्ढे में जा गिरता है, प्रत्येक व्यक्ति, देर या सवेर, गड्ढे में गिरता है और गिरने की आशा भी करता है। तो, व्यक्ति या तो चिंता नहीं करता, या सारे समय चिंता करता रहता है– बात एक ही है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति अचेतन रहता है, अचेतन रूप में जीता है और जो कुछ होता है उसका सारा दोष दूसरों के माथे तथा परिस्थितियों पर मढ़ देता है पर कभी अपने–आपसे यह नहीं कहता : 'अरे! यह तो मेरा ही दोष है।' ... यह शुरू करने से पहले व्यक्ति में एक काफी विशाल चेतना की आवश्यकता होती है। उन लोगों में भी, जो अपने–आपको चेतन मानते हैं, ऐसे बहुत नहीं हैं जो स्पष्ट रूप में देख सकते हों कि जो कुछ उनके साथ होता है वह उसी से आता है जो वे हैं, और कहीं से नहीं। वे सदा यही कहते हैं : "अमुक दोषी है; परिस्थितियां ही प्रतिकूल हैं;

आह! ऐसा क्यों हुआ?'– यदि तुम जो हो वह न होते, तो बात ऐसी न होती। तब वह कुछ और ही ढंग से होती।"[४५]

मैं एक सुखी एवं उपयोगी जीवन कैसे पा सकता हूँ?

सुखी और सार्थक जीवन के लिए आवश्यक तत्त्व है निःष्कपटता, विनय, अध्यवसाय और प्रगति के लिए कभी न बुझने वाली प्यास। और सबसे बढ़कर तुम्हें प्रगति की असीम संभावना के बारे में विश्वास होना चाहिये। प्रगति ही यौवन है। सौ वर्ष की अवस्था में भी तुम युवक हो सकते हो। "[४६]

हम केवल अच्छे क्यों नहीं हो सकते?

हां, यदि व्यक्ति छाया को अलग कर सके। किंतु इसे अलग करना पड़ता है। यह काम अपने–आप नहीं होता। संसार जैसा कि इस समय है एक मिश्रित–सा संसार है। तुम्हें ऐसी कोई वस्तु नहीं मिल सकती जो एक ओर प्रकाश ग्रहण कर रही हो और दूसरी ओर उसकी छाया न पड़ रही हो। बात ऐसी ही है, बल्कि वास्तव में छायाएं ही तुम्हें प्रकाश देखने में सहायता पहुंचाती हैं। संसार ऐसा ही है, यदि व्यक्ति केवल प्रकाश ही चाहता है तो उसे निश्चित रूप से छाया दूर करने के लिए आवश्यक तपस्या करनी होगी।"[४७]

हम अपने भीतर की कमियों को प्रगति के हेतु किस तरह इस्तेमाल कर सकते हैं?

मैंने और आगे समझाया है; मैंने कहा है कि यह छाया मानो उस वस्तु का संकेत है जिसे तुम्हें अपनी प्रकृति में जीतना है ताकि तुम उस कार्य को सम्पन्न कर सको जिसे करने के लिए तुम पृथ्वी पर आये हो। यदि तुम्हें पृथ्वी पर कोई भूमिका निभानी है, किसी कार्य को पूरा करना है, तो सदा ही वह मुख्य कठिनाई तुम्हारे अंदर उपस्थित रहेगी जो तुम्हें उसे दूर करने से रोकती है, इस प्रकार वह विजय तुम्हारी पहुंच में रहती है जिसे तुम्हें प्राप्त करना ही है। यदि तुम्हें किसी ऐसी कठिनाई के विरुद्ध संघर्ष करना हो जो पृथ्वी पर सर्वत्र मौजूद है, तो ऐसा करना बहुत कठिन हो जायगा (उस अवस्था में तुम्हारे पास एक अत्यंत विशाल चेतना और एक अत्यधिक महान् शक्ति होनी चाहिये), उधर यदि तुम्हारी प्रकृति

---

४५. मातृवाणी, भाग–६, पृष्ठ ९६–९७ (देखें एजूकेशन भाग–२, पृष्ठ १८९–१९० भी)

४६. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १२३

४७. मातृवाणी, भाग–६, पृष्ठ ९७–९७ (देखें [illegible] शिक्षा, पृष्ठ ५६ भी)

में एक छाया या दोष हो जिस पर तुम्हें विजय प्राप्त करनी है, तो वह तुम्हारी पहुंच के भीतर है : तुम उस वस्तु का प्रभाव सब समय देखते रहते हो और एकदम उसके साथ सीधा युद्ध छेड़ सकते हो। यह बहुत व्यावहारिक व्यवस्था है।[४८]

क्रोध को वश में कैसे किया जाय?

हम जरा विचार कर देखें, तुम्हारे पास एक अनुशासनहीन, अवज्ञाकारी, उद्धत विद्यार्थी है; हां, वह वातावरण में एक विशेष स्पंदन फैलाता है जो, साथ ही, दुर्भाग्यवश बहुत संक्रामक है; परंतु स्वयं तुम्हारे अंदर यदि विपरीत स्पंदन नहीं है, अनुशासन, व्यवस्था, विनम्रता, अचंचलता और शांति का स्पंदन नहीं है, जिसे कोई चीज भंग नहीं कर सकती, तो तुम भला किसी प्रभाव की आशा कैसे कर सकते हो? क्या तुम उससे यह कहने जाओगे कि ऐसा करना उचित नहीं है?– या तो बात और भी अधिक बिगड़ जाएगी या वह तुम्हारी खिल्ली उड़ायेगा!

और यदि संयोगवश तुम्हारे अंदर संयम नहीं है और तुम क्रोधित हो जाते हो तो फिर सब समाप्त समझो! तुम अपने छात्रों पर किसी प्रकार का अधिकार जमाने की सारी संभावना सदा के लिये खो बैठते हो।

जो अध्यापक पूर्णतः शान्त–स्थिर नहीं होते, जो प्रत्येक कठिनाई का सामना नहीं कर सकते और जिनमें वह अचंचलता नहीं है जिसे कोई चीज भंग नहीं कर सकती, जिनमें आत्म–सम्मान की भावना नहीं है–जो लोग इस प्रकार के हैं वे कहीं नहीं पहुंच सकते। एक अच्छा अध्यापक होने के लिये हमें एक संत और एक वीर बनना होगा। एक अच्छा अध्यापक होने के लिए हमें एक बड़ा योगी होना होगा। विद्यार्थियों को पूर्ण मनोवृत्ति में बनाये रखने के लिये शिक्षक को भी पूर्ण मनोवृत्ति बनाये रखनी होगी। तुम किसी व्यक्ति से वह कार्य करने के लिए नहीं कह सकते जिसे तुम स्वयं नहीं करते। यह एक नियम है। अतः क्या है और क्या होना चाहिये इनके बीच जो अंतर है, उसे देखो और तब तुम श्रेणी के अंदर अपनी असफलता के यथार्थ स्वरूप को समझने में समर्थ होगे।[४९]

---

४८ मातृवाणी, भाग–६, पृष्ठ १७ (देखो [illegible] शिक्षा, पृष्ठ ५६ भी)

४९ मातृवाणी, भाग–८, पृष्ठ ३५३–३५४ (देखो एजूकेशन भाग–२, पृष्ठ १८९–१९० भी)

व्यक्तिगत एवं सामूहिक विकास के बीच संतुलन किस तरह स्थापित करें ?

सामुदायिक जीवन में अनुशासन आवश्यक है ताकि कमजोर बलवान् द्वारा सताये न जायें; और जो लोग समाज में रहना चाहते हैं उन सभी को इस अनुशासन का मान करना चाहिये।

किन्तु यह अनुशासन उनके द्वारा लागू होना चाहिये जिनका मन सबसे विशाल है यदि संभव हो तो ऐसों के द्वारा जो 'भागवत उपस्थिति' के प्रति सचेतन और समर्पित हों, ताकि समाज सुखी रह सके।

यह शक्ति उन्हीं के हाथों में होनी चाहिये जो 'भागवत इच्छा' के प्रति सचेतन हैं, ताकि धरती प्रसन्न रहे। पर अभी तो यह असंभव है क्योंकि जो 'भागवत इच्छा' के प्रति सचमुच सचेतन हैं उनकी संख्या नगण्य है, और चूँकि उनमें ऐसी कोई आकांक्षा भी नहीं है।

वास्तव में जब इस उपलब्धि का समय आयेगा तो वह स्वभावतः अपनी जगह ले लेगी।

प्रत्येक का कर्तव्य है कि अपनी शक्ति–भर पूरी तरह अपने–आपको इसके लिये तैयार करें।[५०]

कोई सच्चा प्रेम कैसे करे ?

यह अनिवार्य है कि दो मनुष्यों के बीच का प्रेम, वह चाहे जैसा भी हो, सदा अज्ञान, समझ के अभाव, दुर्बलता और पृथकता की उसी दुःखद भावना से बना होता है। यह तो मानों ऐसा हुआ कि व्यक्ति एक अभूतपूर्व 'वैभव' के साक्षात् सान्निध्य में आना चाहे और आरंभ में ही अपने और उस 'वैभव' के बीच एक पर्दा, दो पर्दे, तीन पर्दे, डाल ले और इस बात पर आश्चर्य करे कि उसे असली वस्तु तो दिखायी नहीं पड़ी, उसका एक धुंधला सा आभास ही मिला। इसके लिए पहला कार्य है पर्दों को हटा देना, इन सबको निकाल देना और आगे बढ़कर अपने–आपको उस 'वैभव' की उपस्थिति में पाना। और तभी तुम जानोगे कि वह 'वैभव' क्या है। किंतु यदि तुम अपने और उसके बीच में परदे पर परदे डाल लो

---

५०. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ३८२, ३८३

तो उसे कभी न देख पाओगे। तुम्हें एक धुंधली सी प्रतीति हो सकती है जैसे : "ओह ! कोई चीज है," बस, इतना ही।

स्वभावतया, ऐसे सब लोग हैं जो इस 'वैभव' की परवाह ही नहीं करते, जो इसकी ओर से पीठ फेर लेते हैं और अपनी सहज–प्रवृत्तियों में ही निवास करते हैं, जो पशुवत् होते हैं, उनसे कुछ अधिक पूर्ण। हम इनकी बात नहीं कर रहे। इन्हें अपने हाल पर ही छोड़ देना होगा, ये जो चाहे करते रहें, इसका बिलकुल कोई महत्त्व नहीं। इनका हम पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। मैंने ये बातें इनके लिये लिखी नहीं हैं।[५१]

हम स्वयं को भविष्य के लिए कैसे तैयार करें ?

एक चीज के बारे में तुम निश्चित हो सकते हो – *तुम्हारा भविष्य तुम्हारे ही हाथों में है*। तुम वही आदमी बनोगे जो तुम *बनना चाहते हो*। तुम्हारी अभीप्सा और आदर्श जितने ऊंचे होंगे, तुम्हारी सिद्धि भी उतनी ही ऊंची होगी। लेकिन तुम्हें दृढ़ निश्चय रखना चाहिये और अपने जीवन के सच्चे लक्ष्य को कभी न भूलना चाहिये।[५२]

युवावस्था क्या है ?

"युवा होने का अर्थ है भविष्य में जीना।

युवा होने का अर्थ है हमें जो कुछ होना चाहिये वह बनने के लिये, हम जो कुछ हैं उसे छोड़ने के लिये हमेशा तैयार रहना।

युवा होने का अर्थ है कभी यह न स्वीकार करना कि कोई चीज सुधारी नहीं जा सकती।[५३]

यौवन इस बात पर निर्भर नहीं है कि हम कितने छोटे हैं, बल्कि इस पर कि हममें विकसित होने की क्षमता और प्रगति करने की योग्यता कितनी है। विकसित होने का अर्थ है अपनी अंतर्निहित शक्तियां, अपनी क्षमताएं बढ़ाना ; प्रगति करने का अर्थ है अब तक अधिकृत योग्यताओं को बिना रुके निरंतर पूर्णता की ओर ले जाना। जरा (बुढ़ापा) आयु बड़ी हो जाने से नहीं आता बल्कि

---

५१. मातृवाणी, भाग–६, पृष्ठ १०२ (देखें एजुकेशन भाग–१, पृष्ठ १९५ भी)

५२ मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १२२

५३ मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १२२

विकसित होने और प्रगति करने की अयोग्यता के कारण अथवा विकसित होना और प्रगति करना अस्वीकार कर देने के कारण आता है। मैंने बीस वर्ष की आयु के वृद्ध और सत्तर वर्ष के युवक देखे हैं। ज्यों ही मनुष्य जीवन में स्थिर हो जाने और पुराने प्रयासों की कमाई खाने की इच्छा करता है, त्यों ही मनुष्य यह सोचने लगता है कि उसे जो कुछ करना था वह उसे कर चुका और जो कुछ उसे प्राप्त करना था वह प्राप्त कर चुका, संक्षेप में, ज्यों ही मनुष्य प्रगति करना, पूर्णता के मार्ग पर अग्रसर होना बन्द कर देता है, त्यों ही उसका पीछे हटना, बूढ़ा होना निश्चित हो जाता है।

शरीर के विषय में भी मनुष्य यह जान सकता है कि उसकी क्षमताओं की वृद्धि और उसके विकास की कोई सीमा नहीं, बशर्ते कि मनुष्य इसकी असली पद्धति और सच्चे कारण ढूंढ़ निकाले। यहाँ हम जो बहुत से परीक्षण करना चाहते हैं उन्हीं में से एक यह शारीरिक विकास भी है और हम मानव जाति की सामूहिक धारणा को निर्मूल कर संसार को यह दिखा देना चाहते हैं कि मनुष्य में कल्पनातीत संभावनाएं निहित हैं।[५४]

हम सदैव युवा कैसे रहें ?

"केवल वही वर्ष जो व्यर्थ में बिताये हैं तुम्हें बूढ़ा बनाते हैं।

जिस वर्ष में कोई प्रगति नहीं की गई, चेतना में कोई वृद्धि नहीं हुई, पूर्णता की ओर कोई अगला कदम नहीं उठाया गया वह वर्ष व्यर्थ में बिताया गया।

अपने जीवन को अपने–आप से कुछ उच्चतर और विशालतर वस्तु को चरितार्थ करने पर एकाग्र करो तो तुम्हें बीतते हुए वर्षों का भार कभी न लगेगा।[५५]

तुम जितने वर्ष जिये हो उनकी संख्या तुम्हें बूढ़ा नहीं बनाती। तुम बूढ़े तब होते हो जब प्रगति करना बन्द कर दो।

जैसे ही तुम्हें लगे कि तुम्हें जो कुछ करना था वह कर चुके, जैसे ही तुम अनुभव करो कि तुम्हें जो कुछ जानना था वह जान चुके, जैसे ही तुम बैठकर अपने परिश्रम का फल भोगना चाहो और यह सोचो कि तुम जीवन में काफी कुछ कर चुके तो तुम एकदम बूढ़े हो जाते हो और तुम्हारा क्षय शुरू हो जाता है।

---

५४. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ २५९

५५. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १२२

इसके विपरीत, जब तुम्हें यह विश्वास हो कि जो जानना बाकी है उसकी तुलना में तुम जो जानते हो वह कुछ भी नहीं है, जब तुम्हें लगे कि तुमने जो कुछ किया है व जो कुछ करना बाकी है उसका केवल आरंभ बिन्दु है, जब तुम भविष्य को प्राप्त करने योग्य अनन्त संभावनाओं से भरे चमकते सूर्य के रूप में देखो तब तुम युवा हो। तुमने धरती पर चाहे जितने वर्ष बिताये हों तुम युवा और भावी कल की उपलब्धियों से समृद्ध हो। अगर तुम नहीं चाहते कि तुम्हारा शरीर तुम्हें धोखा दे तो व्यर्थ की उत्तेजना में अपनी शक्ति नष्ट करने से बचो। तुम जो भी करो शान्त, स्थिर और प्रकृतिस्थ होकर करो। शान्ति और नीरवता में अधिकतम शक्ति है।[५६]

अगर चेतना के विकास को जीवन का मुख्य लक्ष्य मान लिया जाय तो बहुत–सी कठिनाइयों का समाधान मिल जाएगा।

बूढ़ा न होने का सबसे अच्छा तरीका है प्रगति को अपने जीवन का लक्ष्य बनाना।[५७]

शाश्वत यौवन का रहस्य है हर क्षण नये जीवन में पुनरुज्जीवित होना।[५८]

अक्षय ऊर्जा कैसे प्राप्त करें ?

किसी खिलाड़ी को यौगिक साधना से जो सबसे बड़ी सहायता मिल सकती है वह यह है कि साधना उसे यह सिखा सकती है कि विश्व ऊर्जा के अक्षय स्रोत से शक्ति खींचकर अपनी शक्ति को नया और ताजा कैसे बनाया जा सकता है।

आधुनिक विज्ञान ने पोषण –कला में बहुत उन्नति की है, अभी तक शक्ति पाने के लिए यही सबसे अधिक जाना–माना साधन है। लेकिन यह प्रक्रिया अपने अच्छे–से–अच्छे रूप में भी अनिश्चित है और नाना प्रकार की सीमाओं से घिरी है। यहां हम इस विषय को नहीं ले रहे, क्योंकि इस विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है। पर यह स्पष्ट है कि जब तक मनुष्य और संसार अपनी वर्तमान अवस्था में है तब तक भोजन अनिवार्य है। योग–विज्ञान शक्ति प्राप्त करने के अन्य साधनों को जानता है, और यहां हम दो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण साधनों की बात करेंगे।

---

५६. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १२३
५७. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १२३
५८. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १२४

पहला है जड़ और पार्थिव जगत् में एकत्रित शक्तियों के साथ नाता जोड़ना और उनके अक्षय भंडार से आजादी के साथ लाभ उठाना। ये भौतिक शक्तियां अँधेरी और निश्चेतन होती हैं ; ये मनुष्य के अंदर पाशविकता बढ़ाती हैं, लेकिन, साथ–ही–साथ, ये मानव शरीर और भौतिक प्रकृति के बीच एक सामंजस्य–पूर्ण संबंध भी स्थापित करती हैं। जो इन शक्तियों को लेना और इनका उपयोग करना जानते हैं उसमें सफल होते हैं। पर फिर भी वे बहुत हद तक जीवन की परिस्थितियों और शारीरिक स्वास्थ्य की अवस्था पर निर्भर रहते हैं। उनमें जो सामंजस्य पैदा होता है वह आक्रमणों से सुरक्षित नहीं होता ; जब परिस्थितियां उल्टी हो जायं तो वह गायब हो जाता है। बालक बिना नापे–तोले, खुशी से खुलकर इधर–उधर हाथ–पैर मारता हुआ शक्ति फेंकता और भौतिक प्रकृति से शक्ति पाता रहता है। लेकिन अधिकतर मनुष्यों में, जैसे–जैसे वे बड़े होते हैं, यह क्षमता जीवन की चिंताओं और चेतना में मानसिक क्रियाओं के महत्त्व पा लेने के कारण मर–सी जाती है।

फिर भी, शक्ति का एक स्रोत है। एक बार उसका पता लग जाय तो फिर जीवन की भौतिक अवस्थाएं चाहे जैसी क्यों न हों, चाहे जैसी परिस्थितियां क्यों न आ जाय, वह स्रोत कभी सूख नहीं सकता। कहा जा सकता है कि यह आध्यात्मिक शक्ति है जो नीचे से, निश्चेतना की गहराइयों में नहीं, बल्कि ऊपर से, मनुष्यों और जगत् के परम स्रोत से अतिचेतना के शाश्वत और सर्वशक्तिमान वैभवों से आती है। वह हर जगह, हमारे चारों ओर मौजूद है और हर चीज में घुसी हुई है ; और उसके साथ नाता जोड़ने के लिये और उसे पाने के लिये इतना काफी है कि उसके लिये सच्चाई से अभीप्सा की जाय, अपने–आपको पूरे श्रद्धा–विश्वास के साथ उसके प्रति खोला जाय, अपनी चेतना को विशाल बनाया जाय और विश्व 'चेतना'–के साथ एक हुआ जाय।

शुरू में, यह चीज संभव नहीं, तो कठिन जरूर प्रतीत हो सकती है। लेकिन अगर तथ्यों को जरा ज्यादा नजदीक से देखा जाय, तो मालूम होगा कि यह चीज इतनी परायी नहीं है, सामान्य रूप से विकसित मानव चेतना से इतनी दूर नहीं है। वास्तव में, ऐसे लोग बहुत कम होंगे जिन्होंने अपने जीवन में, कम–से–कम एक बार, यह अनुभव नहीं किया कि मानों वे अपने–आपसे परे

उठा लिये गये हैं, एक अप्रत्याशित और ऐसी असाधारण शक्ति से भर गये हैं जो उन्हें, उस समय के लिये, सब कुछ करने की सामर्थ्य देती है ; ऐसे क्षणों में कोई चीज बहुत कठिन नहीं मालूम होती और "असंभव" शब्द अपना अर्थ खो बैठता है।

यह अनुभव, चाहे कितना भी क्षणिक क्यों न हो, हमें उस उच्चतर शक्ति के संपर्क की एक झांकी दे देता है जिसे योग–साधना पाती और बनाये रखती है।

इस संपर्क को पाने की विधि यहां बड़ी मुश्किल से ही बतायी जा सकती है। इसके अतिरिक्त, यह एक व्यक्तिगत चीज है, हर एक के लिये अपना तरीका है जो हर व्यक्ति को वहीं आकर पकड़ता है जहां वह खड़ा हो, अपने–आपको उसकी निजी जरूरतों के अनुकूल बनाता है और उसे एक कदम आगे बढ़ने में सहायता देता है। रास्ता लंबा है और कभी–कभी गति धीमी होती है, लेकिन परिणाम कष्ट उठाने लायक है। हम भली–भांति कल्पना कर सकते हैं कि सब परिस्थितियों में इच्छानुसार सर्वशक्तिमान ज्योतिर्मय पवित्रता का ही परिणाम होगा। थकान, क्लांति, रोग, जरा और मृत्यु तक रास्ते की ऐसी बाधाओं के रूप में रह जाते हैं, जिन्हें स्थिर संकल्प के द्वारा ही निश्चित रूप से पार किया जा सकता है।[५९]

'अपने कर्म भगवान को अर्पित करने' का अर्थ क्या है ?

इसका अर्थ यह है कि तुम जो कुछ करो उसे किसी वैयक्तिक अहंभाव युक्त उद्देश्य, सफलता के लिये, यश–प्राप्ति के लिये, भौतिक लाभ के लिये अथवा झूठे घमंड के लिये न करो, बल्कि सेवा और निवेदन के भाव से करो ताकि तुम भागवत इच्छा के प्रति अधिक सचेतन हो सको तथा अपने–आपको अधिक संपूर्ण रूप से उन्हें सौंप सको, यह तब तक करते रहना चाहिये जब तक कि तुम इतनी उन्नति न कर लो कि तुम यह जान जाओ और यह अनुभव करने लगो कि स्वयं भगवान् ही तुम्हारे अंदर कार्य कर रहे हैं, उन्हीं की शक्ति तुम्हें अनुप्राणित कर रही है, उन्हीं का संकल्प तुम्हे सहारा दे रहा है – यह अनुभूति तुम्हें केवल एक मानसिक ज्ञान के रूप में ही नहीं होनी चाहिये, बल्कि यह तुम्हारी चेतना की सच्ची अवस्था, एक सशक्त, सजीव अनुभूति होनी चाहिये।

---

५९. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ २६३, २६४, (देखें *जीवन का विज्ञान* पृष्ठ ३८–३९ भी)

इसे संभव बनाने के लिये, सभी अहंभाव–युक्त हेतु तथा अहंभाव की सभी प्रतिक्रियाओं को लुप्त हो जाना चाहिये।[१०]

ध्यान और एकाग्रता में क्या अंतर है ?

ध्यान विशुद्धतः मानसिक क्रिया है ; इसमें केवल मानसिक सत्ता रस लेती है। मनुष्य ध्यान करते समय एकाग्र हो सकता है पर यह मानसिक एकाग्रता है; वह नीरवता प्राप्त कर सकता है पर यह शुद्ध मानसिक नीरवता है, और सत्ता के अन्य भाग अचल–अटल और निष्क्रिय रखे जाते हैं ताकि वे ध्यान में बाधा न डालें। तुम दिन के बीस घंटे ध्यान में बिता सकते हो फिर भी बाकी चार घंटे एदकम साधारण मनुष्य ही बने रहोगे, क्योंकि ध्यान के समय केवल मन ही संलग्न रहा है – सत्ता के बाकी अंगों को, प्राण और शरीर को, दबाकर रखा गया था ताकि वे बाधा न डालें। ध्यान में सत्ता के अन्य भागों के लिये सीधे तौर पर कुछ भी नहीं किया जाता।

अवश्य ही इसकी अप्रत्यक्ष क्रिया का कुछ फल हो सकता है पर ....। मैंने अपने जीवन में ऐसे लोगों को देखा है जिनमें ध्यान करने की अद्‌भुत क्षमता थी, परंतु ध्यान से बाहर आने पर, वे अत्यंत साधारण व्यक्ति बन जाते थे, यहां तक कि कभी–कभी बुरे व्यक्ति बन जाते थे ; अगर उनके ध्यान में बाधा पड़ती तो वे आग–बबूला हो उठते थे। क्योंकि उन्होंने केवल अपने मन को ही अपने वश में रखना सीखा था, सत्ता के बाकी अंगों को नहीं ।

परंतु एकाग्रता उससे अधिक सक्रिय स्थिति है। तुम मन में एकाग्र हो सकते हो, प्राण में, चैत्य पुरुष में, शरीर में, एकाग्र हो सकते हो। यहां तक कि सर्वांगीण रूप से सत्ता के समस्त भागों में एकाग्र हो सकते हो। एकाग्र होना अथवा एक बिंदु पर अपने–आपको एकत्र कर लेने में समर्थ होना ध्यान करने से कहीं अधिक कठिन है। तुम अपनी सत्ता या चेतना के एक भाग को एकत्र कर सकते हो अथवा अपनी संपूर्ण चेतना को या उसके विभिन्न अंशों को एकत्र कर सकते हो अर्थात्‌ तुम्हारी एकाग्रता आंशिक, पूर्ण या सर्वांगपूर्ण हो सकती है और प्रत्येक अवस्था में परिणाम अलग–अलग होगा।

---

१०. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ३११

अगर तुममें एकाग्र होने की शक्ति है तो तुम्हारा ध्यान अधिक मजेदार और करने में अधिक आसान होगा। परंतु मनुष्य एकाग्रता के बिना भी ध्यान कर सकता है। बहुत से लोग अपने ध्यान में विचारों की श्रृंखला का अनुसरण करते हैं – इसे ध्यान कहते हैं एकाग्रता नहीं।"[६१]

हम ध्यान क्यों नहीं कर पाते ?

"क्योंकि तुमने ध्यान करना नहीं सीखा।

तुम्हारे अंदर अचानक यह विचार आता है : "चलो, आज हम ध्यान करेंगे।" तुमने पहले कभी नहीं किया। तुम बैठ जाते हो और कल्पना करने लगते हो कि तुम ध्यान करना शुरू कर रहे हो। किंतु ध्यान भी उसी प्रकार सीखने की चीज है जिस प्रकार गणित अथवा पियानो बजाना सीखा जाता है। यह ऐसे ही नहीं सीख लिया जाता! ध्यान करने के लिये पालथी मारकर और दोनों हाथों को गोद में रखकर बैठना ही पर्याप्त नहीं है। तुम्हें ध्यान करना सीखना होगा। ध्यान कैसे किया जाय इसके लिये सर्वत्र कई प्रकार के नियम दिये गये हैं।"[६२]

चैत्य पुरुष किस तरह सहायता करता है ? क्या इसमें कोई शक्ति होती है ?

"शक्ति? साधारणतः चैत्य ही सत्ता का संचालन करता है। व्यक्ति को उसके बारे में कुछ मालूम नहीं होता क्योंकि वह उसके प्रति सचेतन नहीं होता, लेकिन साधारणतः वही सत्ता का संचालन करता है। अगर व्यक्ति बहुत सावधान हो तो उसे उसका भान हो सकता है। लेकिन उसके बारे में अधिकतर मनुष्यों को लेशमात्र भी धारणा नहीं होती। उदाहरण के लिये, जब उन्होंने अपने बाहरी अज्ञान में अमुक चीज करने का निश्चय कर लिया है, और उसे सिद्ध कर सकने की जगह, परिस्थितियां इस तरह संगठित होती हैं कि वे कुछ और ही कर डालें, तब वे चिल्लाना, गरजना और भाग्य पर आग–बबूला होना शुरू करते हैं, कहते हैं (यह इस पर निर्भर है कि उन्हें किस पर विश्वास है, उनकी मान्यताओं पर)

---

६१ मातृवाणी, भाग–४, पृष्ठ ७, ८ (साथ ही देखें *जीवन का विज्ञान* पृष्ठ ४१–४२)

६२ मातृवाणी, भाग–६, पृष्ठ १५१ (साथ ही देखें एजूकेशन भाग २ पृष्ठ १४–१५)

कि प्रकृति दुष्ट है, या उनका भाग्य अनिष्टकर है या भगवान् अन्यायी हैं या .....जो भी हो (यह इस पर निर्भर है कि वे किस पर विश्वास करते हैं) यह तब जब कि परिस्थिति बहुधा उनके आंतरिक विकास के लिये सबसे अनुकूल थी। यह स्वाभाविक है कि अगर तुम चैत्य से यह मांग करो कि वह तुम्हारे लिये सुखद जीवन बनाने में, पैसे कमाने में, ऐसे बच्चे पैदा करने में सहायता दे जो परिवार का गौरव बनें आदि ...... तो चैत्य तुम्हारी सहायता नहीं करेगा! लेकिन वह तुम्हारे लिये ऐसी समस्त परिस्थितियां तैयार करेगा जो तुम्हारे अंदर किसी चीज को जगाने के लिये आवश्यक हों ताकि तुम्हारी चेतना में भगवान् के साथ ऐक्य की आवश्यकता जन्म ले। कभी-कभी तुमने बहुत बढ़िया योजनाएं बनायीं और अगर वे सफल हो जातीं तो तुम अधिकाधिक अपने बाह्य अज्ञान में, अपनी तुच्छ और मूर्खतापूर्ण महत्त्वाकांक्षा में और अपनी उद्देश्यहीन क्रिया में ही अधिकाधिक जमे रहते। जब कि यदि तुम्हें एक अच्छा धक्का मिले और जिस पद के लिये तुम लोभ कर रहे थे उससे तुम्हें वंचित रखा जाय, तुमने जो योजना बनायी थी वह चूर-चूर हो जाय, और तुम अपने-आपको बिलकुल निष्फल और व्यर्थ पाओ, तो कभी-कभी यह विरोध तुम्हारे लिये किसी सत्यतर और गहनतर वस्तु के द्वार खोल देता है। और जब तुम कुछ जाग्रत होओ और पीछे मुड़कर देखो, तो यदि तुम जरा भी सच्चे या निष्कपट हो तो कहोगे :"आह! मैं ठीक नहीं था – प्रकृति भागवत कृपा या मेरे चैत्य पुरुष ने ही यह किया है।" चैत्य पुरुष ने यह व्यवस्था की थी।[१३]

यह कैसे जाना जाय कि चैत्य सत्ता सम्मुख है अथवा नहीं ?

"कौन ? व्यक्ति स्वयं .....उसका अनुभव नहीं होता क्या ? तुम्हें अनुभव नहीं होता ? क्या उसे कोई अंतर नहीं अनुभव होता ? .... ओह! ..... तुममें से ऐसा एक भी नहीं होगा जो मुझसे यह कहने का साहस कर सके कि जब उसमें अंतरात्मा आगे होती है, जब वह अपने अंदर अच्छा महसूस करता है, अपने में प्रकाश, आशा, सद्भावना, उदारता, संसार के लिये करुणा आदि, अनुभव करता है, और जीवन को कर्म, विकास और चरितार्थता के क्षेत्र के रूप में लेता है तो

१३ मातृवाणी, भाग–८, पृष्ठ ३९४, ३९५ (साथ ही देखें एजूकेशन भाग1 पृष्ठ ९४–९५)

है, और जीवन को कर्म, विकास और चरितार्थता के क्षेत्र के रूप में लेता है तो उसे कुछ अंतर नहीं प्रतीत होता। क्या इस अवस्था में और उसमें फर्क नहीं लगता जब वह ऊबा हुआ होता है, शिकायत करता है, जब उसे सब कुछ कुरूप, असुखकर और दुष्टतापूर्ण दिखायी देता है, जब वह किसी से प्यार नहीं करता, सब कुछ तोड़–फोड़ देना चाहता है, क्रोधित हो उठता है, क्षुब्ध, निःशक्त, निरुत्साहित और निरानंद हो उठता है ? इससे फर्क पड़ता है, पड़ता है न ?

स्वभावतया, यदि तुम्हें किसी ने कभी यह नहीं सिखाया हो कि अंतरात्मा क्या है या प्राण क्या है, तो तुम्हें उसके बारे में कोई धारणा नहीं होगी। तुम कह सकते हो : " आज मेरी अवस्था अच्छी है, कल ऐसी नहीं थी।" चौबीस वर्ष की आयु तक मुझे इन सब बातों के विषय में कुछ पता न था, पर तो भी मैं अपनी इन क्रियाओं में विभेद कर सकती थी। मैं इन शब्दों का प्रयोग अवश्य नहीं करती थी क्योंकि किसी ने इस विषय में मुझे बताया नहीं था, न ही मैंने पढ़ा था, किंतु मैं बड़े स्पष्ट रूप से विभिन्न क्षणों में या अपनी चेतना की अवस्थाओं में भेद कर सकती थी।

क्या तुम्हें उन दिनों का पता रहता है जब तुम स्वस्थ रहते हो और उन दिनों का जब तुम बीमार हो जाते हो ? मेरा मतलब शारीरिक अवस्था से है। क्या तुम्हें पता होता है ?

जब तुम सवेरे जागते हो, तो क्या तुम कह सकते हो कि आज संतुलन ठीक है या नहीं ?

यह सच है, वह सब समय बदलता रहता है। एक दिन में भी कई बार। किंतु जब तुम सवेरे उठते हो, जागकर अपना दिन आरंभ करते हो, तो क्या नित्य प्रति एक ही तरह से आरंभ करते हो?

ओह! कुछ ऐसे दिन होते हैं जब सब कुछ सामंजस्यपूर्ण प्रतीत होता है, और कुछ ऐसे, मानों तुम चक्की में पिस रहे हो। तुम्हारे अंदर वस्तुएं चक्कर नहीं काटतीं, वरन् रगड़ी जाती हैं। हां तो, कुछ–कुछ ऐसा ही होता है। पहले शरीर की ओर देखो, फिर अपने वेदनों और संवेदनों को भी देख सकते हो (यह एक

सकते हो कि तुम्हारा सिर स्वच्छ है या धुँधला।

हां ?

हां, तो यह वही बात है।[१४]

अपनी चैत्य सत्ता को कैसे ढूँढें ?

जीवन में तुम कुछ भी करना चाहो, एक चीज नितांत अपरिहार्य है और *सबके* मूल में है, वह है ध्यान एकाग्र करने की क्षमता। यदि तुम एक बिन्दु पर ध्यान और चेतना की किरणों को केंद्रित करने में सफल हो जाते हो और इस एकाग्रता को दृढ़ संकल्प द्वारा बनाये रख सकते हो तो ऐसी *कोई चीज नहीं* जो इसका प्रतिरोध कर सके — चाहे कुछ भी क्यों न हो, वह नितांत जड़–भौतिक विकास से लेकर उच्चतम आध्यात्मिक विकास तक, पर इस अनुशासन का पालन करना चाहिये।

और आध्यात्मिक दृष्टि से तो इसका और भी अधिक महत्त्व है। कोई भी आध्यात्मिक बाधा ऐसी नहीं जो एकाग्रता की मर्मभेदी शक्ति का प्रतिरोध कर सके। उदाहरण के लिये, चैत्य पुरुष का संधान, अंतरस्थित भगवान् के साथ मिलन, उच्चतर प्रदेशों की ओर उन्मीलन, सब प्रगाढ़ और आग्रही एकाग्रता की शक्ति द्वारा उपलब्ध किये जा सकते हैं — लेकिन इसे करना सीखना होगा।

मानवी क्षेत्र में, और अतिमानवी तक में ऐसी कोई चीज नहीं है जिसकी कुंजी एकाग्रता की शक्ति न हो।[१५]

अपने दैनिक जीवन में अधिक सचेत कैसे बनें ?

हां तो, व्यक्ति को भी अपनी वस्तुओं को इसी प्रकार सुव्यवस्थित ढंग से रखना चाहिए—साथ ही अपने विचारों को भी — और उसे यह ठीक जानना चाहिये कि उसकी वस्तुएं कहां पड़ी हैं और क्योंकि उसकी व्यवस्था युक्तियुक्त है उसे उन तक सीधा पहुंच सकना चाहिये। यह तुम्हारी अपनी युक्ति होतीहै—हो सकता है पड़ोसी की युक्ति न हो, तुम्हारे पड़ोसी की नहीं, यह आवश्यक नहीं है, यह तुम्हारी अपनी युक्ति है — किंतु व्यवस्था- संबंधी तुम्हारा ढंग युक्तियुक्त

---

१४. मातृवाणी, भाग–६, पृष्ठ ६, ८ (साथ ही देखें पंचविध शिक्षा पृष्ठ ४५–४६)

१५. मातृवाणी, भाग–९, पृष्ठ ३६०–६१ (साथ ही देखें एजूकेशन भाग २, पृष्ठ २०१–२०२)

हो, तो तुम्हें पता होता है कि तुम्हारी वस्तु कहां है और, जैसा कि मैं तुम्हें बता चुकी हूं, यदि वह वस्तु कहीं इधर–उधर हो जाय, तो तुम्हें तत्काल ही पता लग जाता है। और जो लोग ऐसा कर सकते हैं वे सामान्यतया वे ही होते हैं जो अपने विचारों को भी व्यवस्थित कर सकते हैं और फलस्वरूप अपने चरित्र को भी और अंत में अपनी क्रियाओं पर भी नियंत्रण रख सकते हैं। और फिर, यदि तब व्यक्ति कुछ विकास करता है, तो वह अपने भौतिक जीवन को भी शासित करने में सफल हो जाता है : वह अपनी शारीरिक क्रियाओं को नियंत्रित रखने लगता है। यदि वह गड़बड़ी में या अव्यवस्था में एक ऐसे आंतरिक और बाह्य गड़बड़झाले में निवास करे जिसमें सब कुछ गड़बड़ रहता है और यदि वह किसी भी वस्तु के प्रति सचेतन न हो, स्वामी होने की तो बात ही दूर है, तो इसे जीवन नहीं कहा जा सकता। हां, यह जीवन नहीं है, यह तो उसका निश्चेतना के समुद्र में डूब जाना हुआ, इस प्रकार वह लहरों द्वारा इधर–उधर पटका जाता है, भंवरों में फंस जाता है, चट्टानों के साथ टकराता है, फिर और लहरें उसे दुबारा चट्टान की ओर फेंक देती हैं ; और इस प्रकार वह चोटें, आघात और झटके खाता जीवन व्यतीत करता है। और तब, यदि पूछा जाय: "ऐसा क्यों ?" —– "मुझे पता नहीं।" "ऐसा तुमने क्यों किया ?" —"मुझे पता नहीं।" — "तुम इस ढंग से क्यों सोचते हो?" "मुझे पता नहीं।"—"तुमने ऐसी चेष्टा क्यों की ?" सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर होता है : "मुझे पता नहीं।"

मूल रूप में जीवन का सच्चा हेतु केवल एक ही है : अपने–आपको जानना। हम पृथ्वी पर सीखने के लिये आये हैं — यह सीखने के लिये कि हम क्या हैं, यहां क्यों हैं, और हमें क्या करना है। और यदि हम यह भी नहीं जानते तो हमारा जीवन बिलकुल खोखला है — अपने लिये भी और दूसरों के लिये भी।

अतएव, सामान्यतया, जल्दी शुरू कर देना ही अधिक अच्छा है, क्योंकि सीखने को बहुत कुछ है। यदि व्यक्ति जीवन के और जगत् के वर्तमान स्वरूप को, और जीवन के 'क्यों और 'कैसे', इन प्रश्नों को जानना चाहता है, तो वह बहुत छोटी अवस्था से ही यह कार्य आरंभ कर सकता है, उस समय से जब कि वह बहुत, बहुत छोटा होता है — पांच वर्ष की अवस्था से भी पहले। और तब,

वह सौ वर्ष की आयु तक भी सीखता रह सकता है। तो बड़ी मनोरंजक बात है यह। और सब समय उनके सामने आश्चर्यजनक बातें आ सकती हैं, सब समय वह कुछ–न–कुछ ऐसा सीख सकता है जिसे वह पहले नहीं जानता था, उसे ऐसी अनुभूति प्राप्त हो सकती है जो उसे पहले कभी नहीं हुई, उसे कोई ऐसी वस्तु उपलब्ध हो सकती है जिसके विषय में वह पहले कुछ भी नहीं जानता था। निश्चय ही यह सब बहुत मनोरंजक है। और जितना अधिक व्यक्ति जानता है, उतना अधिक वह इस बात के प्रति जागरूक होता है कि अभी सब कुछ सीखना बाकी है। सचमुच में, मैं यह कह सकती हूं केवल मूर्ख–जन ही यह सोचते हैं कि वे सब कुछ जानते हैं। यह इस बात का निश्चित लक्षण है, यदि कोई तुमसे आकर यह कहे : "ओह! मैं यह सब जानता हूं ; ओह! मुझे सब पता है" ; तो तुम एकदम उसकी थाह ले सकते हो![११]

११. मातृवाणी, भाग–९, पृष्ठ १५, १६ (साथ ही देखें पंचविध शिक्षा पृष्ठ ५४–५५)

अध्याय-२

शिक्षक की पंचविध भूमिका

व्यावहारिक मार्गदर्शन

१. प्रौद्योगीकी के विकास के साथ-साथ शिक्षक का मात्र सूचना देने वाले व्यक्ति का कार्य कोई मायने नहीं रखता। जीवन से जुड़ी शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में शिक्षक का सच्चा कार्य क्या रह जाता है? यह अध्याय शिक्षक को शिक्षा की एक प्रमुख शक्ति के रूप में देखने का प्रयास है, और उसके बहुआयामी कार्य का जो उसके अपने व्यक्तित्व के बहुमुखी विकास, जैसे भावात्मक, गुण, ज्ञान व कौशल की आशा रखता है।

इस अध्याय में आत्मावलोकन कार्यपत्र भी है जो पाठकों को उनके कार्य के प्रति उनकी अपनी दृष्टि को झलकाता है, उनके शिक्षक बनने के कारणों का चुनाव, और इसे कार्यान्वित करने के तरीकों को दर्शाता है।

एक अन्तर्द्रष्टा

एक शिक्षक को अन्तर्द्रष्टा होने की आवश्यकता है–एक ऐसा व्यक्ति जो विशाल चित्र को देख सके, छोटे लक्ष्य की भी तैयारी करते समय। इस दृष्टि के अभाव में, शिक्षक का कार्य एक यांत्रिक, रोजमर्रा का भार ढोने के जैसा मंद कार्य बन जाता है– शिक्षक तथा विद्यार्थी दोनों के लिए।

लक्ष्यहीन जीवन–एक दयनीय जीवन होता है।

तुममें से प्रत्येक का अपना लक्ष्य होना चाहिये। परन्तु यह कभी न भूलना चाहिए कि तुम्हारे लक्ष्य के गुणों पर जीवन के गुण निर्भर होंगे।

तुम्हारा लक्ष्य होना चाहिये उच्च और विशाल, उदार तथा निष्काम। तब तुम्हारा जीवन तुम्हारे अपने लिये और दूसरों के लिये भी बहुमूल्य हो जायगा।

परन्तु तुम्हारा आदर्श चाहे जो भी हो, तुम उसे तब तक पूर्णरूप से प्राप्त नहीं कर सकते जब तक कि तुम अपने अन्दर पूर्णता नहीं पा लेते।[1]

आत्मावलोकन[2]

शिक्षक के रूप में अपने कार्य के विषय में आत्मनिरीक्षण करें :–

- मैं अपने रोज के कार्य में आजकल क्या कर रहा हूँ–द्रष्टा बनने के लिये?
- मैं और क्या कर सकता हूँ?

---

१. दि मदर, दि साइंस आफ लिविंग, शिक्षा पर श्री अरविन्दो और श्रीमाँ पृष्ठ ८०, अरविन्दो आश्रम–न्यास, पाण्डिचेरी, १९५६ (साथ ही मातृवाणी भाग २, पृष्ठ ३)

२. दि नॉस्टिक सेंटर, नई दिल्ली

परिवर्तन का उत्प्रेरक

एक शिक्षक का बदलाव के उत्प्रेरक के रूप में कार्य विद्यार्थी, शिक्षा–पद्धति एवं शिक्षा सम्बंधी आदेशों में उन प्रक्रियाओं के प्रारम्भ करने में है, जो धीरे–धीरे सारी शिक्षा–प्रणाली को बदलने की ओर ले जाए। शिक्षक ३० या ५० विद्यार्थियों की कक्षा में जो भी करता है, उसका प्रभाव फैलता है जो देर–सबेर एक बड़े स्तर पर शिक्षा का गुण निर्धारित करता है। अतः, यह एक अति महत्त्वपूर्ण विषय है कि शिक्षक शिक्षा के ऊपर अपना प्रभाव समझ ले और सचेतन रूप से उन गुणों को विकसित करे जो उसे एक सकारात्मक और स्थायी परिवर्तन का माध्यम बनाने में सहयोग दें।

एक आत्मावलोकन प्रश्नावली एवं कार्ययोजना[१]

- "एक शिक्षक का प्रभाव शाश्वत होता है; यह कहना नामुमकिन है कि उसका प्रभाव कहाँ समाप्त हुआ।"

  उपरोक्त कथन को ध्यान में रखते हुए, इन प्रश्नों को अपने शिक्षा–कार्य के संदर्भ में रखकर देखें एवं अपनी कार्ययोजना बनाएँ।

  मैं इस व्यवसाय में क्यों हूँ?

- मैंने यह व्यवसाय क्यों अपनाया? बाहरी परिस्थितियों के बजाय अपने आन्तरिक दबावों के विषय में सोचें जो आपके इस व्यवसाय को लेने का कारण बने।
- मेरे व्यवसाय का मूल्य क्या है जो उसे अर्थ व आनन्द प्रदान करता है? इसमें क्या है जो इसे विशेष बनाता है?
- यदि मैं इस व्यवसाय में नहीं होता, तो मैं क्या करना चाहता?
- क्यों?
- मैं इस व्यवसाय में क्यों जुड़ा रहना चाहता हूँ?

मेरा दर्शन क्या है?

- जब मैं अपना रोज का कार्य करता हूँ / अपने पाठ्यक्रम तैयार करता व

---
१ दि नॉस्टिक सेंटर

पढ़ाता हूँ, तब मैं किस बात में व्यस्त रहता हूँ, अर्थात्, मेरा प्रमुख बिन्दु क्या है (शिक्षण सामग्री, परीक्षा, परीक्षा के परिणाम, पाठ्यक्रम की समाप्ति, इत्यादि)?

- मेरे कार्य में मेरा दर्शन है...
- यह मेरे लिये क्यों महत्त्वपूर्ण है?
- मुझे इस दर्शन के अभ्यास में क्या सहायता करता है, अर्थात्, कार्यरत रहते/पढ़ाते समय इसमें व्यस्त रहना और इसे अन्य बातों से अधिक चाहना?
- बाहरी तत्त्व (सहायक ढांचे, इत्यादि)
- आंतरिक तत्त्व (आपकी ही शक्ति, कुछेक भाव)

इस प्रक्रिया में क्या बाधक है?

- बाहरी तत्त्व
- आन्तरिक तत्त्व
- मैं इस दर्शन के अधिक प्रयोग में लाने हेतु क्या कदम उठा सकता हूँ...
- निम्नलिखित से एक पथ का कार्ययोजना बनाएँ

क) आपका दर्शन/ लक्ष्य/उद्देश्य

- एक व्यक्ति के रूप में
- अपने कार्य में

ख) आपकी वास्तविक स्थिति (आप आज कहाँ हैं) : चरित्र की कठिनाइयाँ, पथ की कठिनाइयाँ, मार्ग के रोड़ों को ढूँढ़ना एवं हटाना।

ग) पुल बनाना : ज्ञान, माध्यम तकनीक जो आपको आपके उद्देश्य तक ले जा सके।

अपने पथ की कार्ययोजना बनाएँ।

आत्मावलोकन का अभ्यासी

यदि प्रगति लक्ष्य है, तो आत्मावलोकन एक आवश्यक प्रक्रिया है जिसे शिक्षक को अपनाना है, उसके अपने विकास के लिये। आत्मावलोकन की आदत शिक्षक को निरन्तर एक अपने ही कार्य का मापदण्ड प्रदान करती है तथा उसे पक्षपात से पीछे हटकर अपने लक्ष्य की तैयारी करने, कार्य तथा प्रतिक्रियाओं को आन्तरिक मार्गदर्शन के शान्त प्रकाश में फिर से देखने का अवसर देती है।

आत्मनिरीक्षण एवं आत्मव्यवस्थापन (एक अभ्यास)

"इन गतिविधियों (हमारी सत्ता की) को बहुत सावधानी से देखने पर ही, उन्हें मानो अपने उच्चतम आदर्श की न्यायपीठ के सामने लाकर उसके न्याय के प्रति एक सच्चे संकल्प के साथ समर्पण करके, हम अपने अंदर कभी भूल न करने वाले विवेक को विकसित करने की आशा कर सकते हैं।"

द मदर, द साइंस ऑफ लिविंग, मातृवाणी खंड–१२

तुम्हें अपनी गतिविधियों के मूल का स्पष्ट बोध होते रहना चाहिये, क्योंकि सत्ता के अंदर परस्पर–विरोधी प्रेरणाएं उठती हैं– कुछ तुम्हें यहां धकेलती हैं तो कुछ वहां, और इससे स्पष्ट ही जीवन में अराजकता उत्पन्न होती है। यदि तुम स्वयं अपना निरीक्षण करो तो देखोगे कि जैसे ही तुम कोई ऐसी चीज करते हो जो तुम्हें किंचित् चिंतित कर देती है तो तुरंत ही मन कोई अनुकूल कारण दिखाकर तुम्हारा समर्थन कर देता है– यह मन हर चीज पर सुनहरा मुलम्मा चढ़ा सकता है। ऐसी परिस्थितियों में अपने–आपको जानना कठिन होता है। यदि कोई ऐसी परिस्थिति में अपने–आपको जानना चाहे तो ऐसा करने के लिए और मनोमय सत्ता के छोटे–छोटे सभी मिथ्यातत्वों को स्पष्ट रूप में देखने के लिए उसे पूर्णतः सच्चा होना चाहिये।

यदि तुम अपने सारे दिन की विभिन्न गतियों और प्रतिक्रियाओं का अपने मन द्वारा सिंहावलोकन करते रहो, ठीक उसी तरह जैसे कोई एक ही चीज को अनिश्चित काल तक दुहराता रहता है, तो इससे तुम्हारी प्रगति नहीं होगी। इस अवलोकन के द्वारा यदि प्रगति करनी हो तो तुम्हें अपने अंतर में कोई ऐसी चीज

ढूंढनी होगी जिसके प्रकाश में तुम स्वयं अपने जज बन सको; वह कोई ऐसी चीज होगी जो तुम्हारे लिये तुम्हारी सत्ता के सर्वोत्तम अंग का प्रतिनिधित्व करती है जिसमें कुछ प्रकाश है, कुछ सद्‌भावना है और जो वास्तव में प्रगति से घनिष्ठ सम्बंध रखती है। उस चीज को अपने सामने रखो और पहले सिनेमा की तरह उन सब चीजों को निकालो जिन्हें तुमने किया है, जिन्हें तुमने अनुभव किया है, तुम्हारे जितने भी आवेग, जितने भी विचार आदि हैं सबको उसी तरह निकालो; फिर उन्हें श्रृंखलाबद्ध करने का प्रयास करो, यानी यह पता लगाओ कि अमुक के बाद अमुक क्यों हुआ? तुम्हारे सामने जो प्रकाशमान परदा है उस पर दृष्टि डालो : कुछ चीजें तो ठीक गुजर जाती हैं। उनकी कोई भी छाया पर्दे पर नहीं पड़ती। इसके विपरीत, कुछ अन्य थोड़ी–सी छाया डालती हैं, और फिर कुछ ऐसी होती हैं जो बिल्कुल ही काली और विरक्तिजनक छाया डालती हैं। यह क्रिया तुम्हें सच्चाई से करनी होगी, मानो तुम कोई खेल खेल रहे होओ : "इन परिस्थितियों में मैंने ऐसा–ऐसा किया, ऐसे–ऐसे अनुभव किया, ऐसे–ऐसे विचार किया; मेरे सामने ज्ञान और आत्म प्रभुत्व का आदर्श है, तो मेरा यह कार्य इस आदर्श के अनुसार था या नहीं?" वह यदि उसके अनुसार था तो पर्दे पर कोई छाया नहीं छोड़ेगा और पर्दा स्वच्छ पारदर्शक बना रहेगा तथा उसके विषय में चिंता करने की कोई जरूरत नहीं होगी। यदि वह उसके अनुकूल नहीं था तो उसकी एक छाया पड़ेगी। उसकी छाया क्यों पड़ी? इस काम में कौन–सी चीज आत्मज्ञान और आत्मप्रभुत्व के संकल्प के विपरीत थी? अधिकतर तुम देखोगे कि वह चीज अचेतनता से मिलती–जुलती है– तब तुम उसे अचेतन चीजों के पुलिन्दे में दाखिल कर दो और यह निश्चय कर लो कि अगली बार कुछ भी करने से पहले तुम सचेतन रहने का प्रयत्न करोगे। किन्तु अन्य विषयों में तुम देखोगे कि तुम्हारे कार्य को, तुम्हारे विचार आदि को विकृत करने के लिए जो चीज आयी थी वह एक कुरूप, तुच्छ, एकदम काली अहं भावना थी। तब तुम इस अहं को अपने "प्रकाश" के सम्मुख रखो और अपने–आपसे पूछो: "इसे यह अधिकार" क्यों है कि वह मुझसे वैसा कार्य कराये, वैसा विचार कराये...?" और ऐसे समय किसी भी प्रकार की कोई बेढंगी व्याख्या मत स्वीकार करो, बल्कि अनुसंधान करो और फिर तुम्हें अपनी सत्ता के एक कोने में एक ऐसी चीज मिलेगी जो यह सोचती है और कहती होगी : "ओह नहीं, मुझे सब कुछ स्वीकार है पर यह नहीं।" तुम देखोगे कि यह कोई क्षुद्र मिथ्याभिमान है, आत्म प्रीति की कोई क्रिया है, कहीं छिपी हुई कोई अहं–भावना है, इस प्रकार की पचासों चीजें

हैं। तब अपने आदर्श के प्रकाश में इन चीजों की ओर एक गहरी दृष्टि डालो: "इस क्रिया को पोसना मेरे आदर्श की खोज और प्राप्ति के अनुकूल है या नहीं? इस छोटे–से अंधियारे कोने को मैं इस प्रकाश के सामने रख रहा हूं जिससे कि वह प्रकाश इसके अंदर प्रवेश कर जाय और यह तिरोहित हो जाय।" तब यह खेल समाप्त हो जाता है। किन्तु, तुम जानते हो, इससे तुम्हारे सारे दिन का खेल समाप्त नहीं हो जाता। क्योंकि ऐसी और बहुत–सी चीजें बाकी रह जाती हैं जिन्हें प्रकाश के सम्मुख लाना है! पर यदि तुम यह खेल जारी रखो, – यदि तुम इसे सच्चाई के साथ करो तो यह सचमुच में एक खेल ही है–तो मैं विश्वास दिलाती हूं कि छः महीनों के भीतर तुम अपने–आपको पहचान न पाओगे, तुम अपने–आपसे कहोगे, "अरे! क्या मैं ऐसा था? असंभव!"

तुम चाहे पांच वर्ष के हो या बीस, पचास अथवा साठ के, फिर भी तुम अपने आंतरिक प्रकाश के सम्मुख प्रत्येक चीज को रखकर इस प्रकार अपने आपको रूपांतरित कर सकते हो। तुम देखोगे कि जो तत्त्व तुम्हारे आदर्श से मेल नहीं खाते, वे सामान्यतया ऐसे तत्त्व नहीं हैं जिन्हें तुम्हें अपने अंदर से पूरे का पूरा निकाल बाहर करना हो (ऐसी चीजें बहुत ही कम होती हैं); वे बस ऐसी चीजें हैं जो अपने स्थान पर नहीं हैं। यदि तुम हर चीज को अपने विचारों, अपनी भावनाओं, अपने आवेगों आदि को अपने आंतरिक प्रकाश अर्थात् चैत्य–केन्द्र के इर्द–गिर्द सुव्यवस्थित करो तो देखोगे कि सारी आंतरिक अस्तव्यस्तता प्रकाशमय सुव्यवस्था में बदल जाएगी।

यह बिल्कुल स्पष्ट है कि यदि कोई राष्ट्र या समूची पृथ्वी ही इस प्रकार की कोई विधि अपना ले तो मनुष्य को दुखी बनाने वाली अधिकांश चीजें विलीन हो जायेंगी, क्योंकि संसार का अधिकांश दुख इस तथ्य के कारण आता है कि चीजें ठीक अपनी–अपनी जगह पर नहीं हैं। यदि जीवन इस प्रकार संगठित हो कि कुछ भी व्यर्थ न जाय और हर चीज अपनी–अपनी जगह पर रहे तो ये अधिकांशतः दुःख कष्ट फिर गायब हो जायेंगे। एक प्राचीन सन्त के शब्दों में "कोई बुराई नहीं है। खेल सन्तुलन की कमी है।

कुछ भी बुरा नहीं है, खेल यही है कि चीजें अपनी जगह पर नहीं है।" यदि सभी देशों, भौतिक विश्व में, मनुष्यों के शब्दों और विचारों तथा भावनाओं में सभी चीजें अपने स्थान पर होती तो मनुष्य का अधिकांश दुःख समाप्त हो गया होता।"

---

४. मातृवाणी भाग ४ पृष्ठ ८–४०

कार्य पत्रक[५]

'आत्म–निरीक्षण एवं आत्म–व्यवस्था' अंश पढ़ें और फिर यह निम्नलिखित कार्य करें...

क) पूरे दिनभर–जो कुछ आपने किया– अपने सामने एक चित्रपट पर गुजरने दें, तथा अपना सारा दिन देखें... अपने विचार ... भावनाएँ, कर्म... एक चलचित्र की भाँति सामने गुजरने दें।

ख) आपने यह प्रक्रिया करते समय क्या पाया? जो कुछ देखा उसे लिखें।

ग) क्या कुछ बातों ने एक छाया सी छोड़ी जबकि अन्य आसानी से चित्रपट के सामने गुजर गईं? इन्हें लिखें।

घ) अब स्वयं से पूछें :

यह छाया क्यों छूटी?

इस कार्य में क्या था जो आत्म–ज्ञान व आत्म–संयम के संकल्प के विरोध में था?

ङ) रोज के कार्यकलापों की भांति, एक आत्म–अवलोकन पत्रिका रखें, जिसमें सारे दिन के प्रकाश और छायाएँ लिखें एवं अगले दिन का एक लक्ष्य निर्धारित करें।

आत्म–अवलोकन पत्रिका का नमूना[६]

आप अपनी पत्रिका इस नमूने के अनुसार बना सकते हैं :

कार्य : मसलन, बच्चों के शोर पर क्रोध

प्रकाश : शान्ति का प्रकाश। मानसिक शान्ति की आवश्यकता

छाया : क्रोध/यह अपेक्षा कि अन्य मेरी इच्छाओं के अनुसार अनुगमन करें।

आरम्भ : अहंकार

---

५ दि नॉस्टिक सेंटर

६. दि नॉस्टिक सेंटर

लक्ष्य/उद्देश्य : अपने समय को इस प्रकार व्यवस्थित करना जब बच्चे दूर हों या सो रहे हों। धैर्य, शान्ति।

परिवर्तन : समय के प्रबन्ध में ध्यान देने की आवश्यकता/स्वयं से वार्तालाप/बच्चों से क्षमा!

टिप्पणियाँ : एक अक्सर होने वाली घटना/ बच्चे अवज्ञापूर्ण होते जा रहे हैं और मैं चिड़चिड़ी बनती जा रही हूँ/जा रहा हूँ।

आत्मावलोकन*

प्रतिदिन इन बातों पर ध्यान दें :–

- आज मैंने क्या किया, आज मैंने क्या पाया?
- मैंने ऐसा क्यों किया?
- इसका क्या असर हुआ, क्या नतीजा निकला?
- मैं इसे और कैसे कर सकता था?
- आज मैंने क्या प्रगति की?
- आजकल मैं क्या कर रहा हूँ–अपने दैनिक जीवन में– एक आत्म–निरीक्षण करने वाले विचारशील अभ्यासी बनने के लिए?
- मैं और क्या कर सकता हूँ?

---

७. दि नॉस्टिक सेंटर

एक जीवन्त उदाहरण

शिक्षक विद्यार्थियों के ऊपर जिस सबसे बड़ी शक्ति का प्रभाव डाल सकता है वह है उसके अपने उदाहरण की। शिक्षक की कथनी एवं करनी के विरोधाभास की अवस्था में, विद्यार्थियों पर शिक्षक का कर्म, उसके शब्दों से कहीं ज्यादा प्रभाव डालता है। अतः शिक्षक से जो सबसे बड़ी अपेक्षा की जाती है वह है अपनी कही हुई बातों को स्वयं जीना, जो वह विद्यार्थियों से बनने की अपेक्षा करता है वह स्वयं बनना।

"शिक्षक बच्चों से जो बनने की अपेक्षा रखता है, उसे उसका जीता–जागता उदाहरण बनना चाहिए।"[८]

जो अध्यापक पूर्णतः शान्त–स्थिर नहीं होते, जो प्रत्येक कठिनाई का सामना नहीं कर सकते और जिनमें वह अचंचलता नहीं है जिसे कोई चीज भंग नहीं कर सकती, जिनमें आत्म–सम्मान की भावना नहीं है– जो लोग इस प्रकार के हैं वे कहीं नहीं पहुँच सकते। एक अच्छा अध्यापक होने के लिए हमें एक संत और एक वीर बनना होगा। विद्यार्थियों को पूर्ण मनोवृत्ति में बनाये रखने के लिए शिक्षक को भी पूर्ण मनोवृत्ति बनाये रखनी होगी। तुम किसी व्यक्ति से वह कार्य करने के लिये नहीं कह सकते जिसे तुम स्वयं नहीं करते। यह एक नियम है। अतः क्या है और क्या होना चाहिये इनके बीच जो अंतर है, उसे देखो और तब तुम श्रेणी के अंदर अपनी असफलता के यथार्थ स्वरूप को समझने में समर्थ होगे।[९]

विद्यालय अध्यापक और विद्यार्थी, दोनों की प्रगति का अवसर होना चाहिये। हर एक को मुक्त रूप से विकसित होने का अवसर मिलना चाहिये।

कोई पद्धति उतनी अच्छी तरह से कभी नहीं लागू की जा सकती जब तक कि स्वयं अध्यापक ने ही उसे न खोजा हो। अन्यथा वह अध्यापक के लिये उतनी ही उबाऊ होती है जितना विद्यार्थी के लिए।[१०]

संगठन के ब्योरों को इतना अधिक नहीं, वृत्ति को बदलना चाहिये। ऐसा मालूम

---

८ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ ३७२

९ मातृवाणी भाग ८ पृष्ठ ३५३–३५४

१० मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ १६९

होता है कि जबतक स्वयं अध्यापक सामान्य बौद्धिक स्तर से ऊपर नहीं उठते तबतक उनके लिये अपना कर्तव्य पूरा करना और अपने कार्य को सिद्ध करना कठिन होगा।"[११]

आत्मावलोकन[१२]

स्वयं से पूछें :

○ आज मैंने क्या उदाहरण रखा ?

११. मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ १९२

१२. दि नॉस्टिक सेंटर

एक नेता

विद्यार्थियों के संदर्भ में एक शिक्षक का स्थान एवं उसका कर्त्तव्य स्वामाविक रूप से उससे नेतृत्व की माँग करता है। सचेतन रूप से नेतृत्व शिक्षक के ऊपर एक तैयारी की अपेक्षा रखता है।

"नेताओं को हमेशा उदाहरण रखना चाहिये, जो लोग उनकी देख–रेख में हैं उनसे वे जिन गुणों की मांग करते हैं स्वयं उन्हें उन गुणों को आचरण में लाना चाहिये। उन्हें समझदार, धीर, सहनशील, सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिये, उनमें ऊष्मा और मैत्रीपूर्ण सद्भावना होनी चाहिये, लेकिन अपने लिए मित्र जुटाने की अहंकारपूर्ण वृत्ति से नहीं, बल्कि उदारता के द्वारा, ताकि वे औरों को समझ सकें और उनकी सहायता कर सकें।"

सच्चा नेता होने के लिये अपने–आपको, अपनी रुचियों और पसंदों को भूल जाना चाहिये।

मैं अब तुमसे इसी की मांग कर रही हूं। ताकि तुम अपनी जिम्मेदारियों को उस तरह निभा सको जैसे निभाना चाहिए। और तब तुम अनुभव करोगे कि जहाँ तुम अव्यवस्था और अनैक्य देखते थे, वे गायब हो गये हैं और उनकी जगह सामंजस्य, शांति और आनंद ने ले ली है।[१२]

"महान राजनीतिज्ञ सर विन्स्टन चर्चिल ऐसा विश्वास रखते थे :"

" यह अनिवार्य है कि बड़ी संस्थाओं के शीर्ष पर होने वाले व्यक्तियों का क्षुद्र बातों से दम न घुटे या वे रोजमर्रा के साधारण व्यापार में स्वयं को समाप्त न कर दें, बल्कि उन्हें अवसर और स्वतंत्रता मिलनी चाहिये ताकि वे विशाल और सर्वव्यापी दृष्टिकोण अपना सकें, एवं रोज के व्यापार–कार्य के मध्य वे 'प्रधान सत्य' को दृढ़तापूर्वक और चिन्तनशील होकर ढूँढ़ सकें।"

- एक नेता वह व्यक्ति है जिसके पास दृष्टि है–व्यवस्था के लक्ष्य, उद्देश्य एवं कर्म का एक स्पष्ट एवं सुनियोजित विचार है।
- एक नेता अपने दल के साथियों को प्रेरणा एवं मार्गदर्शन देता है।

१२. मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ ११८–११९

- वह दल का विकास, सामूहिक कार्य में सामंजस्य और व्यक्ति में उत्साह विकसित कर सकता है।
- एक सच्चा नेता सदैव स्वयं उदाहरण बनता है। उसके शब्द उतना नहीं जितना उसके कर्म एवं भाव हैं जो प्रेरणा, उत्साह एवं मार्गदर्शन देते हैं।
- एक नेता यह जानता है कि हम सब किसी न किसी क्षेत्र में एक नेता बनना चाहते हैं।"[14]

स्मारिका[15]

स्वयं ही ढूंढें कि आप किस तरह के नेता हैं

(जो आप पर लागू होता है उसे '✓' का निशान लगाएँ, बाकी 'x' करें)

- मैं दूसरों से केवल वही अपेक्षा करता हूं जो मैं स्वयं व्यवहार में लाता हूँ।
- मेरे पास अपनी देखरेख में दिए गए व्यक्तियों के प्रति समझ, धैर्य, सहनशीलता, सहृदयता, सद्भावना, उदारता है।
- मैं कार्य के क्षेत्र में अपने अनुराग, पसन्द व नापसन्द के ऊपर उठ सकता हूँ।
- मेरी देखरेख में जो व्यक्ति हैं, मैं उनके भले के लिये रुचि रखता हूँ।
- मैं अपने अधीन कर्मचारी/विद्यार्थियों के लिए विकास के अवसर प्रदान करता हूँ।
- मैं अपने कर्मचारी/विद्यार्थियों को भली–भाँति जानता हूँ।
- यह मेरा प्रयास है कि दूसरों को उनके साथ जुड़कर समझ सकूँ– स्वयं को उनके साथ तादात्म्य द्वारा, उनकी तरह महसूस करके, उन्हें जानने के लिए उनके मन में प्रवेश करके।

---

१४ अमीता मेहरा, संपादकीय, *टीम बिल्डिंग: लीडरशिप एंड कलेक्टिव हारमोनी,* पृ. २, खं.–६, सं. ४ दि अवेकनिंग रे (२००२) द ग्नोस्टिक सेंटर, नई दिल्ली

१५ अनुराधा, स्मारिका, *टीम बिल्डिंग : लीडरशिप एंड कलेक्टिव हारमोनी,* पृ. ११

- मुझे अपने कार्य में सामंजस्य, शांति एवं खुशी का अनुभव होता है।
- मैं अपने दल में हास्य के स्थान का मूल्य समझता हूँ।
- मैं एक उदाहरण रख पाता हूँ।

अध्याय–३

सच्ची शिक्षा के तीन सिद्धान्त

निम्नलिखित अंश श्रीअरविन्द के शिक्षा सम्बन्धी लेखों में से लिये गए हैं। सर्वांगीण शिक्षा के अभ्यास के लिए यह उनके मूल लेखों में से एक है।

सच्चे शिक्षण का पहला सिद्धान्त है कि कुछ भी सिखाया नहीं जा सकता। कोई प्रशिक्षक या काम लेने वाला दफादार नहीं है। उसका काम सुझाव देना है, थोपना नहीं। वह सचमुच विद्यार्थी के मानस को प्रशिक्षित नहीं करता। वह उसे केवल यह बताता है कि अपने ज्ञान के उपकरणों को कैसे पूर्ण बनाया जाय और वह उसे इस कार्य में सहायता देता और प्रोत्साहित करता है। वह उसे ज्ञान नहीं देता, वह उसे यह बतलाता है कि अपने लिए ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाय। वह अंदर स्थित ज्ञान को प्रकट नहीं करता; वह केवल यह दिखलाता है कि वह कहां पड़ा है और उसे ऊपरी सतह पर आने के लिए कैसे अभ्यस्त किया जा सकता है। जो प्रभेद इस सिद्धांत को केवल वयस्क और किशोर मन की शिक्षा के लिए आरक्षित रखता है और बालक के लिए उसे लागू करने से इंकार करता है वह एक पुराणपंथी और नासमझ सिद्धांत है। बालक हो या पुरुष, लड़का हो या लड़की, शिक्षा देने का एक ही अच्छा सिद्धांत है। अवस्था भेद आवश्यक सहायता और पथ–प्रदर्शन की मात्रा को घटा–बढ़ा सकता है। इससे चीज की प्रकृति नहीं बदलती।

दूसरा सिद्धांत यह है कि मन के विकास में स्वयं उसकी सलाह ली जाय। बच्चे को हथौड़ी मार-मारकर माता-पिता या अध्यापक के चाहे हुए रूप में गढ़ना एक अज्ञानपूर्ण और बर्बर अंधविश्वास है। विद्यार्थी को यह प्रेरणा देनी चाहिये कि वह अपनी प्रकृति के अनुसार अपना विस्तार करे। मां-बाप के लिये इससे बड़ी भूल नहीं हो सकती कि वे पहले से ही ठीक कर लें कि उनका बेटा अमुक गुण, अमुक क्षमताएं, विचार या विशेषताएं विकसित करेगा या उसे पहले से ही निश्चित अमुक प्रकार की आजीविका के लिये तैयार किया जाय। प्रकृति को इस बात के लिए बाधित करना कि वह *स्वधर्म* छोड़ दे, उसे स्थायी क्षति पहुंचाना, उसके विकास को विकृत करना और उसकी पूर्णता को विरूप कर देना है। यह मानव आत्मा पर स्वार्थपूर्ण अत्याचार है, राष्ट्र पर एक आघात है जिसके कारण वह मनुष्य के सर्वोत्तम कार्य के लाभ से वंचित हो जाता है और उसके बदले अपूर्ण, कृत्रिम, घटिया, औपचारिक और सामान्य चीज स्वीकार करने के लिए बाधित होता है। हर एक में कुछ दिव्य अंश होता है, कुछ ऐसा जो उसका अपना होता है। भगवान् स्वीकार करने या त्याग देने के लिए एक क्षेत्र देते हैं, वह चाहे कितना भी छोटा क्यों न हो, जिसमें वह पूर्णता और शक्ति पा सकता है। मुख्य काम है खोजना, विकसित करना और उसका उपयोग करना। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य होना चाहिये अंतरात्मा की इस बात में सहायता करना कि वह अपने अंतर की अच्छी-से-अच्छी चीज को बाहर लाये और उसे उदात्त उपयोग के लिए पूर्ण बनाये।

शिक्षा का तीसरा सिद्धान्त है निकट से दूर की ओर काम करते चलना, जो है उससे जो होगा उसकी ओर जाना। प्रायः हमेशा ही मनुष्य के स्वभाव का आधार उसकी आत्मा के अतीत के अतिरिक्त बहुत-सी चीजों पर निर्भर होता है, जैसे : उसकी आनुवंशिकता, उसका पास-पड़ोस, उसकी राष्ट्रीयता, उसका देश, वह धरती जहां से वह आहार पाता है, वह हवा जिसमें वह सांस लेता है, वे दृश्य, वे आवाजें और वे आदतें जिनके लिए वह अभ्यस्त है। ये चीजें उसके जाने बिना, लेकिन इस कारण कम बल के साथ नहीं, उसको ढालती हैं। और हमें वहीं से शुरू करना चाहिये। हमें स्वभाव को उस जमीन में से जड़ों से नहीं उखाड़ देना चाहिये जहां उसे पनपना है। मन को ऐसे बिंबों और ऐसे जीवन के

विचारों से नहीं घेर देना चाहिये जो उस जीवन के विरोधी हों जिनमें उसे हिलना–डुलना है। अगर बाहर से कोई चीज लानी है तो मन पर जोर से आरोपित न की जाय, उसे भेंट की जा सकती है। सच्चे विकास के लिए एक जरूरी शर्त है : स्वाभाविक और मुक्त उन्नति। ऐसी आत्माएं होती हैं जो अपने परिवेश के विरुद्ध विद्रोह करती हैं और ऐसा लगता है कि वे किसी और ही युग, किसी और ही देश की हैं। उन्हें अपनी पसंद का अनुसरण करने दो। लेकिन कृत्रिम रूपों में ढाले जाने पर अधिकतर लोग क्षीण, रिक्त और बनावटी बन जाते हैं। भगवान् की व्यवस्था है कि अमुक लोग किसी राष्ट्र–विशेष, देश, युग, समाज के हों वे अतीत के बालक, वर्तमान के भोक्ता और भविष्य के निर्माता हों। अतीत हमारी नींव है, वर्तमान हमारा उपादान है, भविष्य हमारा लक्ष्य और शिखर है। राष्ट्रीय शिक्षा–पद्धति में हर एक को अपना उचित और स्वाभाविक स्थान मिलना चाहिये।'[1]

कार्य पत्रक[2]

निम्नलिखित प्रश्नों पर शिक्षक के कार्य एवं अपनी शिक्षण प्रक्रिया को संदर्भ में रखकर विचार करें :–

१. मैं कैसे सीखता हूँ?

२. मैं ... सबसे अधिक अच्छा सीखता हूँ?

जैसे –

- मैं सबसे अधिक क्या सीखने में आनन्द लेता हूँ?
- क्यों?
- मैं सबसे कम क्या पसन्द करता हूँ?
- क्यों?

३. निम्नलिखित विषयों के अनुसार पढ़ाने के लिए क्या गुण/भाव होने चाहिये?

क) सच्ची शिक्षा का पहला सिद्धांत।

ख) सच्ची शिक्षा का दूसरा सिद्धान्त।

---

१ श्रीअरविन्द, शिक्षा के आयाम, श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १९७७, पृ०–२०–२२

२ दि नॉस्टिक सेंटर

४) क्या भाव रास्ते में बाधा के रूप में आ सकते हैं?

५) अब उपरलिखित को देखें और यह नोट करें कि आप में क्या–क्या है?

क) भाव/गुण जो आवश्यक हैं।

ख) भाव/गुण जो आपको विकसित करने की आवश्यकता है।

६) सच्ची शिक्षा के प्रथम व द्वितीय सिद्धांत को पढ़ और समझकर किस प्रकार आप अपनी शिक्षा में परिवर्तन लाने की आवश्यकता के प्रति सचेत हुए हैं?

अध्याय–४

इतिहास के तीन शिक्षक

एक कथा

तीन अध्यापक जो भिन्न पाठशालाओं में इतिहास पढ़ाते थे, उनसे एक ही प्रश्न पूछा गया : तुम आजकल क्या कर रहे हो? पहले ने उत्तर दिया, "ओह! कुछ खास नहीं कर रहा, बस पाठशाला के बच्चों को इतिहास पढ़ाता हूँ।" दूसरे ने थोड़ा गहराई से सोचा और कहा, "मैं शिक्षा के व्यवसाय में हूँ।" तीसरा व्यक्ति, इसी प्रश्न के उत्तर में प्रश्नकर्त्ता की आँखों में सीधा देखकर, एक प्रेरणाप्रद स्वर से बोला, "मैं देश का भविष्य बना रहा हूँ–मैं युवा मन को यह सिखाता हूँ कि वे इतिहास कैसे बना सकते हैं।"[१]

अवलोकन[२]

अपने कार्य के प्रति आप अपने तरीके व भाव के विषय में विचार करें। यदि आपसे यही प्रश्न पूछा जाता तो आपका क्या उत्तर होता "आप आजकल क्या कर रहे हैं?" "आप क्या करते हैं?" "आप सारे साल विद्यार्थियों के साथ काम करते या उनके लिये तैयारी करते समय, किस बात में व्यस्त रहते हैं? यदि आप इतिहास के तीसरे शिक्षक के भाव से पढ़ाएँ तो आपको, विद्यार्थियों और आपके काम में किस प्रकार का फर्क पड़ेगा?"

---

१ देबाशीष चटर्जी, लीडिंग कॉन्श्यसली : ए पिलग्रिमेज टुवर्ड सेल्फ मास्टरी, पृ०–६४–६६, विवा बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली १९९८

२ दि नॉस्टिक सेंटर

भाग–३

सर्वांगीण शिक्षा

यह भाग सर्वांगीण शिक्षा के प्रमुख अंगों को श्रीमाँ के शिक्षा पर लिखे लेखों द्वारा प्रस्तुत करता है–साथ ही व्यावहारिक दिशाज्ञान को प्रश्न–उत्तर एवं रेखाचित्रों की सहायता से स्पष्ट किया गया है।

इस भाग में नीचे लिखे अध्याय हैं :–

१ शिक्षा

रेखा चित्र १ : सर्वांगीण शिक्षा

२ शारीरिक शिक्षा

रेखाचित्र २ : शारीरिक शिक्षा

३ शरीर को कैसे प्रशिक्षित करें ? (*व्यावहारिक मार्गदर्शन*)

४ प्राण की शिक्षा

रेखाचित्र ३ : प्राण की शिक्षा

५ चरित्र का विकास कैसे करें? (व्यावहारिक मार्गदर्शन)

६ इन्द्रियों को कैसे प्रशिक्षित करें ? (*व्यावहारिक मार्गदर्शन*)

७ मानसिक शिक्षा

रेखाचित्र ४ : मानसिक शिक्षा

८ मन को कैसे प्रशिक्षित करें ? (*व्यावहारिक मार्गदर्शन*)

९ चैत्य एवं आध्यात्मिक शिक्षा

१० चैत्य का ज्ञान (*व्यावहारिक मार्गदर्शन*)

अध्याय–१

शिक्षा

मनुष्य की शिक्षा उसके जन्मकाल से ही आरंभ हो जानी चाहिए और उसके समूचे जीवन चलती रहनी चाहिये। बल्कि, सच पूछा जाय तो, यदि शिक्षा को अत्यधिक मात्रा में फलदायक होना हो तो उसे जन्म से पहले ही आरंभ हो जाना चाहिए। वास्तव में, स्वयं माता ही इस शिक्षा का प्रारंभ द्विविध क्रिया के द्वारा करती है : सबसे पहले वह अपनी निजी उन्नति के लिए उसे स्वयं अपने ऊपर आरंभ करती है, और फिर उसे बच्चे के ऊपर आरंभ करती है जिसे वह अपने अंदर स्थूल रूप में गढ़ती है। यह बात निश्चित है कि जन्म लेने वाले बच्चे का स्वभाव बहुत कुछ उसे उत्पन्न करने वाली माता पर, उसकी अभीप्सा और संकल्प पर निर्भर रहता है, और जिस भौतिक वातावरण में वह निवास करती है उसका प्रभाव तो पड़ता ही है। जो शिक्षा मां को प्राप्त करनी है उसके लिए यह बात ध्यान में रखनी होगी कि उसके विचार सदा सुन्दर और शुद्ध हों, भाव उच्च और सूक्ष्म तथा चारों ओर का वातावरण यथासंभव सुसमंजस और अत्यंत सादगी से भरा हुआ हो। और अगर इसके साथ ही वह चेतन और निश्चित रूप में यह इच्छा भी रखे कि वह जिस ऊंचे–से–ऊंचे आदर्श को धारण कर सकती है उसी के अनुसार वह बच्चे को बनायेगी तो बच्चे को संसार में आने के लिए खूब उत्तम अवस्थाएं प्राप्त करनी होंगी और उसके लिए अधिक–से–अधिक संभावनाएं खुल

जाएंगी। भला ऐसी अवस्था में कितने अधिक कठिन प्रयासों और निरर्थक जटिलताओं से बचा जा सकता है!

शिक्षा के पूर्ण होने के लिए उसमें पांच प्रधान पहलू होने चाहिए। इनका सम्बंध मनुष्य की पांच प्रधान क्रियाओं से होगा– भौतिक, प्राणिक, मानसिक, आंतरात्मिक और आध्यात्मिक। साधारणतया, शिक्षा के ये सब पहलू व्यक्ति के विकास के अनुसार, एक के बाद एक, कालक्रम से आरंभ होते हैं। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि एक पहलू दूसरे का स्थान ले ले, बल्कि सभी पहलुओं को, जीवन के अंत काल तक, परस्पर एक–दूसरे को पूर्ण बनाते हुए जारी रखना चाहिए।

हम यहां शिक्षा के इन पांचों पहलुओं पर एक–एक करके विचार करेंगे और उनका पारस्परिक सम्बंध भी समझने का प्रयत्न करेंगे। परन्तु इस विषय के विस्तार में जाने से पहले मैं माता–पिताओं को एक सलाह देना चाहती हूं। इनमें अधिकतर लोग विभिन्न कारणों से बच्चों की सच्ची शिक्षा के विषय में बहुत कम सोचते हैं। जब उन्होंने संसार में एक बच्चे को जन्म दे दिया, उसके भोजन का प्रबन्ध कर दिया तथा उसका स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए लगभग काफी अच्छे ढंग से देखभाल रखते हुए उसकी विभिन्न भौतिक आवश्यकताएं पूरी कर दीं तब वे समझ लेते हैं कि उन्होंने अपना कर्तव्य पूरे तौर से निभा दिया है। कुछ दिन बाद वे उसे स्कूल में प्रविष्ट करा देंगे और उसकी मानसिक शिक्षा का भार अध्यापक के हाथों में सौंप देंगे।

कुछ माता–पिता ऐसे भी हैं जो यह जानते हैं कि उनके बच्चे को शिक्षा मिलनी चाहिए और वे उसे शिक्षा देने की चेष्टा भी करते हैं। पर उनमें से बहुत थोड़े लोग– जो इस विषय में अत्यंत तत्पर और सच्चे होते हैं, उनमें से भी बहुत थोड़े लोग–यह जानते हैं कि बच्चे को शिक्षा देने की योग्यता प्राप्त करने के लिए सबसे पहला कर्तव्य है अपने–आपको शिक्षा देना, अपने विषय में सचेतन होना और अपने ऊपर प्रभुत्व स्थापित करना, ताकि हम अपने बच्चे के सामने कोई बुरा उदाहरण न पेश करें। क्योंकि एकमात्र उदाहरण द्वारा ही शिक्षा फलदायी बनती है। यदि हम अपने जीवन्त उदाहरण के द्वारा अपनी सिखायी बातों का सत्य उसे न दिखा दें तो केवल अच्छी बातें कहने और बुद्धिमानी का परामर्श देने का बच्चे पर बहुत थोड़ा प्रभाव पड़ता है। सच्चाई, ईमानदारी, स्पष्टवादिता, साहस,

निष्काम–भाव, निःस्वार्थता, धैर्य, सहनशीलता, अध्यवसाय, शांति, स्थिरता, आत्म–संयम आदि सभी ऐसे गुण हैं जो सुन्दर भाषणों की अपेक्षा कई गुना अधिक अच्छे रूप में अपने उदाहरण के द्वारा सिखाए जाते हैं। माता–पिताओ! एक ऊंचा आदर्श अपने सामने रखो और उसी आदर्श के अनुकूल सर्वदा कार्य करो। तुम देखोगे कि तुम्हारा बच्चा भी धीरे–धीरे उस आदर्श को अपने अंदर ला रहा है, और जो–जो गुण तुम उसके स्वभाव में देखना चाहते हो उन्हें वह अपने–आप अभिव्यक्त कर रहा है। यह अत्यंत स्वाभाविक है कि बच्चे अपने माता–पिता के प्रति आदर और भक्ति–भाव रखते हैं; अगर वे एकदम अयोग्य ही न हों तो वे अपने बच्चों को देवता जैसे प्रतीत होते हैं और बच्चे यथाशक्ति उत्तम–से–उत्तम रूप में उनका अनुकरण करने की चेष्टा करते हैं।

बहुत थोड़े लोगों को छोड़कर, प्रायः सभी माता–पिता इस बात का विचार नहीं करते कि उनके दोषों, आवेगों, दुर्बलताओं और आत्म–संयम के अभाव का उनके बच्चों पर कितना बुरा प्रभाव पड़ता है। अगर तुम चाहते हो कि तुम्हारा बच्चा तुम्हारा आदर करे तो अपने लिए आदर–भाव रखो और प्रत्येक मुहूर्त सम्मान के योग्य बनो। कभी स्वेच्छाचारी, अत्याचारी, असहिष्णु और क्रोधित मत होओ। जब तुम्हारा बच्चा तुमसे कोई प्रश्न पूछे तब तुम, यह समझकर कि वह तुम्हारी बात नहीं समझ सकता, उसे जड़ताः और मूर्खता के साथ कोई उत्तर मत दो। अगर तुम थोड़ा कष्ट स्वीकार करो तो तुम सदा ही उसे अपनी बात समझा सकोगे। इस प्रसिद्ध उक्ति के होते हुए भी कि सत्य बोलना सदा अच्छा नहीं होता, मैं दृढ़तापूर्वक कहती हूं कि सत्य बोलना सदा अच्छा होता है। चतुराई केवल इस बात में है कि उसे इस ढंग से कहा जाये कि सुनने वाले का मस्तिष्क उसे ग्रहण कर ले। जीवन के प्रारंभिक काल में बारह से चौदह वर्ष की अवस्था तक, बच्चों का मन सूक्ष्म भावनाओं और सामान्य विचारों तक नहीं पहुंच पाता। फिर भी, तुम ठोस उपमा, रूपक या दृष्टांत द्वारा ये सब चीजें समझने का अभ्यास उसे करा सकते हो। काफी बड़ी उम्र तक और जो लोग मानसिक रूप से सदा छोटे ही बने रहते हैं उन लोगों के लिए सैद्धांतिक विवेचन के एक ढेर की अपेक्षा, एक आख्यान, एक कथानक, यदि अच्छे ढंग से कहा जाय तो, अधिक शिक्षाप्रद होता है।

एक भूल से तुम्हें और बचना होगाः जब तक कोई निश्चित उद्‌देश्य न हो

और एकदम अनिवार्य न हो जाये तब तक कभी अपने बच्चे को बुरा–भला मत कहो। बार–बार डांट–फटकार खाने से बच्चा उसके प्रति कुंद हो जाता है और फिर वह शब्दों और स्वर की कठोरता को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देता। विशेषकर इस बात की सावधानी रखो कि ऐसे अपराध के लिए, जिसे तुम स्वयं करते हो, उसे कभी मत डांटो। बच्चों– की दृष्टि बड़ी पैनी और साफ होती है, वे बहुत जल्दी तुम्हारी दुर्बलताओं का पता लगा लेते हैं और उन्हें बिना किसी दयाभाव के नोट कर लेते हैं।

जब बच्चा कोई भूल कर बैठे तो अपनी ओर से ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दो कि वह अपने–आप सरलता और सच्चाई के साथ उसे स्वीकार कर ले। और जब वह स्वीकार कर ले तब तुम दयालुता और प्रेम के साथ उसे समझा दो कि उसके कार्य में क्या भूल थी और उसे फिर दुबारा वैसा नहीं करना चाहिए। किसी भी हालत में उसे बुरा–भला मत कहो, स्वीकार किए हुए अपराध को अवश्य क्षमा कर देना चाहिए। तुम्हें अपने और अपने बच्चे के बीच किसी प्रकार का भय नहीं घुसने देना चाहिए, भय के द्वारा शिक्षा देना बड़ा खतरनाक तरीका है, यह सदा ही छल–कपट और असत्य को उत्पन्न करता है। स्पष्टदर्शी, सुदृढ़ पर साथ ही कोमल प्रेम और पर्याप्त व्यावहारिक ज्ञान विश्वास का बंधन पैदा करते हैं जो तुम्हारे बच्चे की शिक्षा को फलदायी बनाने के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। और फिर, यह कभी न भूलो कि तुम्हें अपने कर्तव्य के शिखर पर स्थित रहने तथा उसे वास्तविक रूप में निभाने के लिए सदा और निरंतर ऊपर उठना होगा। बच्चे को जन्म देने के नाते ही तुम्हें उसके प्रति अपना कर्तव्य निभाना चाहिए।[१]

मानसिक शिक्षा

|

प्राणिक शिक्षा – सर्वांगीण शिक्षा – चैत्य एवं आध्यात्मिक शिक्षा

|

शारीरिक शिक्षा

रेखाचित्र १[२]

१. शिक्षा के विषय पर श्री अरविन्दो और श्रीमाँ पृष्ठ १६–१९ (मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ १ से ११)

२. नॉस्टिक सेंटर

अध्याय–२

शारीरिक शिक्षा

मानव चेतना के जितने भी स्तर हैं उनमें भौतिक स्तर एक ऐसा स्तर है जो पूरी तरह से पद्धति, व्यवस्था, अनुशासन और प्रणाली के द्वारा नियंत्रित होता है। जड़–तत्त्व में जो नमनीयता और ग्रहणशीलता का अभाव है उसके स्थान पर हमें पूरे ब्यौरे के साथ एक ऐसा सुसंगठन ले आना होगा जो सच्चा भी हो और व्यापक भी। इस सुसंगठन को लाते हुए, अवश्य ही, हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि हमारी सत्ता के सभी लोक–लोकांतर परस्पर संबद्ध, एक दूसरे पर आश्रित और एक–दूसरे में प्रवेश किये हुए हैं। फिर भी, यदि किसी मानसिक या प्राणिक आवेग को शरीर के अंदर व्यक्त होना हो तो उसे एक समुचित और सुनिश्चित प्रणाली का अनुसरण करना होगा। यही कारण है कि शरीर की समस्त शिक्षा को, अगर उसे फलोत्पादक होना हो तो, कठोर और सविस्तार, पूर्वदर्शी और प्रणालीबद्ध होना होगा। उसे आदतों का रूप ग्रहण कर लेना होगा, क्योंकि शरीर सचमुच अभ्यासों से गठित एक सत्ता है। परंतु वे सब अभ्यास संयमित और नियमित होने चाहिये और साथ ही उनमें इतनी पर्याप्त मात्रा में लोच होनी चाहिये कि वे सभी परिस्थितियों और मानव आधार की उन्नति और विकास की आवश्यकताओं के अनुकूल अपने को ढाल सकें।

शरीर की समस्त शिक्षा एकदम जन्म के साथ आरंभ हो जानी चाहिये और जीवन भर चलती रहनी चाहिये। उसके विषय में ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता कि उसका आरंभ बहुत जल्दी हो गया है अथवा वह बहुत देर तक चल रही है।

शरीर की शिक्षा के तीन प्रधान रूप हैं : –

१) शारीरिक क्रियाओं को संयमित और नियमित करना,

२) शरीर के सभी अंगों और क्रियाओं का सर्वांगपूर्ण, प्रणाली–बद्ध और सुसमंजस विकास करना और

३) अगर शरीर में कोई दोष या विकृति हो तो उसे सुधारना।

यह कहा जा सकता है कि जीवन के एकदम आरंभिक दिनों से ही, बल्कि करीब–करीब आरंभिक घंटों से ही बच्चे को भोजन, नींद, मल त्याग इत्यादि के विषय में पहले प्रकार की शिक्षा देना चाहिये। अगर बच्चा अपने जीवन के एकदम प्रारंभ से अच्छी आदतें डाल ले तो वह जीवन–भर बहुत सी तकलीफों और असुविधाओं से बचा रहेगा, साथ ही उसके जीवन के आरंभिक वर्षों में उसकी देखभाल का भार जिन लोगों पर होगा उनका काम भी बहुत अधिक आसान हो जाएगा।

लोगों की यह मान्यता है कि अगर इस शिक्षा को युक्तिपूर्ण, उन्नत और फलदायी होना हो तो यह अवश्य ही मानव शरीर के सरसरे ज्ञान पर, उसकी रचना और उसकी क्रियाओं के ज्ञान पर आश्रित होनी चाहिये। जैसे–जैसे बच्चा बड़ा हो, वैसे–वैसे उसे अपने अंग–प्रत्यंगों की क्रियाओं को देखने का अभ्यास कराना चाहिये ताकि वह उन्हें अधिकाधिक नियमित कर सके, इस बात का ध्यान रख सके कि उनकी क्रियाएं स्वाभाविक और सुसमंजस हों। जहाँ तक उठने–बैठने, हिलने–डुलने एवं अन्य चेष्टाओं के ढंग का प्रश्न है, बुरी आदतें बहुत कम उम्र में और बहुत जल्दी ही बन जाती हैं और वे सारे जीवन के लिये बड़े खतरनाक परिणाम उत्पन्न कर सकती हैं। जो लोग शिक्षा के प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार करते हैं, अपने बच्चों को स्वाभाविक ढंग से विकसित होने के लिए उत्तमोत्तम सुविधाएं देना चाहते हैं, उन सबको आवश्यक सूचनाएं और उपदेश आसानी से प्राप्त हो सकते हैं। आज इस विषय का अध्ययन अधिकाधिक सावधानी के साथ

किया जा रहा है और बहुत सी पुस्तकें प्रकाशित हुई और हो रही हैं जो इस विषय पर आवश्यक सभी प्रकार के निर्देश और ज्ञान प्रदान करती हैं।

यहां मेरे लिये यह संभव नहीं कि इस विषय के समाधान के लिये पूरे ब्योरे के साथ इसकी कार्य–प्रणाली में प्रवेश करूं, और फिर प्रत्येक समस्या ही अन्यों से भिन्न है और समाधान भी प्रत्येक व्यक्ति के प्रसंग में अलग और समुचित होना चाहिये। भोजन के प्रश्न का अध्ययन खूब विस्तार और सावधानी के साथ किया गया है ; बच्चों के विकास में सहायता देनेवाले खाद्य पदार्थों को साधारणतया लोग जानते हैं और उनका उपयोग कर लाभ उठा सकते हैं। परंतु यहां यह याद रखना बहुत आवश्यक है कि शरीर की सहज–बुद्धि, जब तक कि वह ज्यों–की–त्यों बनी रहती है, सभी सिद्धांतों से अधिक जानती है। यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारे बच्चे स्वाभाविक ढंग से विकसित हों तो तुम्हें उन्हें ऐसा भोजन खाने के लिये बाध्य नहीं करना चाहिये जिससे वे ऊब गये हों, क्योंकि शरीर में प्रायः एक सुनिश्चित सहज बोध होता है जिससे वह जान लेता है कि उसके लिये कौन–सी चीज हानिकारक है। अवश्य ही, अगर बच्चा चंचल और मनमौजी हो तो बात दूसरी है।

अपनी साधारण स्थिति में, अर्थात, मानसिक धारणाओं या प्राणिक आवेगों का कोई हस्तक्षेप न हो तो, शरीर यह भली–भाँति जानता है कि उसके लिये कौन–सी चीज अच्छी और आवश्यक है ; पर इस प्रकार की स्थिति सामान्य रूप में केवल तभी आ सकती है जब कि बच्चे को खूब सावधानी के साथ शिक्षा दी गयी हो और वह वासनाओं को, आवश्यकताओं को पृथक् करना सीख गया हो। जो भोजन सादा और स्वास्थ्यप्रद हो, सार –तत्त्व से भरपूर और भूख बढ़ाने वाला हो, सब प्रकार की व्यर्थ की जटिलताओं से खाली हो, उसका स्वाद उसे पड़ना चाहिये। उसे अपने रोज के भोजन में उन सब चीजों से अवश्य परहेज रखना चाहिये जो महज पेट को भर देतीं और भारीपन ले आती हैं; विशेषकर उसे यह सिखाना चाहिये कि वह अपनी भूख के अनुसार भोजन करे, न अधिक, न कम, और न अपने लोभ और पेटूपन को तृप्त करने का एक अवसर समझकर भोजन करे। बिलकुल बचपन से ही हमें यह जान लेना चाहिये कि हम अपने शरीर को सबल और स्वस्थ रखने के लिये भोजन करते हैं, रसना के सुखों का

उपभोग करने के लिये नहीं। बच्चे को वही भोजन देना चाहिये जो उसके स्वभाव के अनुकूल हो, स्वास्थ्य और स्वच्छता–संबंधी नियमों के अनुसार बना हो, जो खाने में स्वादिष्ट हो और फिर भी बहुत सादा हो, और यह भोजन बच्चे की उम्र और उसके नियमित कार्यों के अनुसार चुना और नपा होना चाहिये, इसमें वे सभी रासायनिक और शक्तिशाली तत्त्व होने चाहिये जो शरीर के सभी अंगों के विकास और संतुलित वृद्धि के लिये आवश्यक हैं।

उसके बाद, एक दूसरी बात बच्चे को एकदम बाल्यावस्था में ही सिखानी चाहिये और वह है – स्वच्छता और स्वस्थ आदतों के प्रति अनुराग। अगर तुम चाहते हो कि स्वच्छता के लिये यह अनुराग और स्वास्थ्य के नियमों के लिये आदर–भाव बच्चे में दिखायी दे तो तुम्हें बड़ी सावधानी के साथ यह ख्याल भी करना चाहिये कि कहीं तुम उसके अंदर बीमारी का भय न भर दो। भय शिक्षा के लिये सबसे बुरा साधन है, क्योंकि भय अपने विषय को खींच ले आने का सबसे अधिक निश्चित पथ है। फिर भी, जहां एक ओर बीमारी का भय नहीं होना चाहिये, वहां दूसरी ओर उसमें किसी प्रकार की रुचि होनी भी उचित नहीं। यह एक प्रचलित विश्वास है कि तीक्ष्ण बुद्धिवाले लोगों का शरीर दुर्बल होता है। यह भ्रम है और इसका कोई आधार नहीं। संभवतः कभी एक युग था जब कि शारीरिक अस्त–व्यस्तता के प्रति लोगों की एक विचित्र और गंदी रुचि थी, पर सौभाग्य की बात है कि वह प्रवृत्ति अब दूर हो गयी है। आजकल लोग सुगठित, सुदृढ़, मांसल, बलिष्ठ और पूर्ण सुडौल शरीर की प्रशंसा करते हैं और उसका सच्चा मूल्य समझते हैं। पर, जो हो, बच्चों को यह शिक्षा देनी चाहिये कि वे स्वास्थ्य को आदर की दृष्टि से देखें, उस स्वस्थ मनुष्य की प्रशंसा करें जिसका शरीर बीमारी के आक्रमण को दूर फेंक देने की कला जानता है। बहुत बार बच्चे बीमारी का बहाना करते हैं ताकि वे किसी आवश्यक, किंतु कष्टपूर्ण कार्य से बच जायें, उस कार्य से बच जायें जिसमें उनकी रुचि नहीं, अथवा उनके माता–पिता का हृदय पसीज जाय और वे उनकी इच्छा को तृप्त कर दें। बच्चे को यथासंभव शीघ्र–से–शीघ्र यह भी सिखा देना चाहिये कि यह पद्धति बहुत लाभदायी नहीं है और बीमार हो जाने पर लोग तुम में अधिक दिलचस्पी नहीं दिखलायेंगे, बल्कि उससे विपरीत अवस्था में दिखलायेंगे। दुर्बल लोगों में यह विश्वास करने की प्रवृत्ति होती है कि उनकी दुर्बलता उन्हें विशेष रूप से लोगों का प्रिय बना देती

है और वे लोग, यदि आवश्यक हो, अपने साथ इर्द–गिर्द रहने वाले लोगों का ध्यान, सहानुभूति अपनी ओर आकर्षित करने के एक साधन के रूप में अपनी इस दुर्बलता का और, यहां तक कि, अपनी बीमारी का उपयोग करते हैं। किसी भी कारण से इस घातक प्रवृत्ति को प्रोत्साहित नहीं करना चाहिये। बच्चों को सिखाना चाहिये कि बीमार होना दोष, त्रुटि और हीनता का सूचक है, न कि किसी गुण या त्याग का।

इसके लिये उत्तम बात यह है कि जब बच्चा अपने अंगों का व्यवहार करने योग्य हो जाय तब वह प्रतिदिन कुछ समय अपने शरीर के सभी अगों को विधि पूर्वक और नियमित रूप से विकसित करने में लगाये। प्रत्येक दिन २० से ३० मिनट तक – अगर संभव हो तो सवेरे बिछौने से उठने के बाद का समय अधिक अच्छा होगा – यदि लगाये जायँ तो वे मांसपेशियों में अच्छी गति और संतुलित वृद्धि ले आने के लिये पर्याप्त होंगे। साथ ही उससे जोड़ों और रीढ़ की हड्डी का सख्त पड़ जाना भी रुक जाता है जो कि, साधारणतया, अपने समय से पहले ही आ जाता है। बच्चों की शिक्षा के साधारण कार्यक्रम के अंदर खेल–कूद को काफी अच्छा स्थान देना चाहिये, इससे उसे समस्त औषध–जगत् की अपेक्षा, कहीं अधिक अच्छा स्वास्थ्य प्राप्त होगा। अगर धूप में एक घंटा व्यायाम किया जाय (शारीरिक हरकतें की जायँ), तो कमजोरी या खून की कमी दूर करने में वह बलवर्धक दवाओं (टानिकों) के एक समूचे भंडार से कहीं अधिक काम करता है। मैं तो तुम्हें सलाह दूंगी कि जब तक दूसरी तरह से काम चलाना पूर्ण रूप से असंभव न हो जाये तब तक कभी औषध मत ग्रहण करो ; और इस "पूर्ण रूप से असंभव" के विषय में भी तुम्हें पूर्ण रूप से कठोर होना चाहिये इस स्थिति को सहज ही स्वीकार नहीं करना चाहिये। यद्यपि शरीर–चर्या के इस कार्यक्रम के अंदर कुछ प्रसिद्ध साधारण पद्धतियां हैं जिनके द्वारा शरीर का उत्तमोत्तम विकास किया जा सकता है ; फिर भी, यदि किसी पद्धति को पूर्ण रूप से फलदायी बनाना हो तो प्रत्येक व्यक्ति के लिये स्वतंत्र रूप से विचार करना चाहिये और उसके लिये कोई पद्धति निश्चित करने के लिये यदि संभव हो तो किसी सुयोग्य व्यक्ति की सहायता लेनी चाहिये अथवा इस विषय से संबंधित पुस्तकों का अवलोकन करना चाहिये। ऐसी पुस्तकें काफी छप चुकी हैं अथवा छप रही हैं।

पर, हर हालत में, बच्चे को, चाहे वह जो कुछ भी करता हो, सोने के लिये काफी समय मिलना चाहिये। यह समय उम्र के अनुसार अलग–अलग हो सकता है। पालने के बच्चे को जगने की अपेक्षा, सोना अधिक चाहिये। पर जैसे–जैसे बच्चा बढ़ता जायगा, वैसे–वैसे सोने का समय कम होता जायगा। परंतु युवावस्था आने तक, यह समय ८ घंटे से कम नहीं होना चाहिये और फिर सोने का स्थान खूब शांत और हवादार होना चाहिये। और कभी व्यर्थ में बच्चे को प्रारंभिक रात की नींद से वंचित नहीं करना चाहिये। स्नायुओं को आराम पहुंचाने के लिये आधी रात से पहले का समय सबसे उत्तम है। फिर जगने के समय भी, प्रत्येक आदमी के लिये, जो अपनी स्नायुओं में समतोलता बनाये रखना चाहता है, विश्राम करना अत्यंत आवश्यक है। मांसपेशियों और स्नायुओं को विश्राम देने की विधि जानना एक कला है और बिलकुल छोटी अवस्था में ही बच्चे को इसकी शिक्षा देनी चाहिये। पर बहुतेरे माता–पिता ऐसे होते हैं जो इसके विपरीत अपने बच्चों को निरंतर कार्य करते रहने के लिये बाध्य करते हैं। जब बच्चा चुपचाप बैठता है तब वे समझते हैं कि वह बीमार हो गया है। यहां तक कि, ऐसे माता–पिता भी हैं जिन्हें अपने बच्चों से घरेलू काम कराने की बुरी आदत होती है, और इस तरह वे बच्चों के आराम करने का समय ले लेते हैं। एक विकासशील स्नायुमंडल के लिये इससे अधिक बुरी चीज और नहीं होती। अत्यंत लगातार होने वाले प्रयास का दबाव अथवा उसके ऊपर लादे हुए, स्वेच्छापूर्वक पसंद नहीं किये गये कार्य का भार सहने में वह असमर्थ होता है। समस्त प्रचलित भावनाओं और धारणाओं के विरुद्ध मेरा तो मत यह है कि बच्चों से सेवा की मांग करना उचित नहीं है, यह समझना अनुचित है कि माता–पिता की सेवा करना बच्चे का कर्तव्य है। बल्कि अधिक बड़ा सत्य इसके विपरीत है: निश्चय ही यही स्वाभाविक है कि माता–पिता अपने बच्चों की सेवा करें, कम–से–कम उनकी अधिकतम देखभाल करें। यदि बच्चा स्वतंत्रतापूर्वक परिवार के लिये काम करना स्वयं पसंद करे और कार्य को खेल के रूप में करे तभी उसे ऐसा करने देना उचित है और उस हालत में भी हमें इस विषय में सावधान रहना चाहिये कि किसी तरह उसके आराम का समय कम न हो जाय जो उसके शरीर के समुचित रूप से कार्य करने के लिये अत्यंत आवश्यक है।

मैं कह चुकी हूं कि बिलकुल छोटी उम्र से ही बच्चों को शारीरिक स्वास्थ्य, शक्ति–सामर्थ्य और संतुलन का आदर करना सिखाना चाहिये। सौंदर्य की महान् आवश्यकता के ऊपर भी खूब जोर देना चाहिये। छोटे–छोटे बच्चों में सौन्दर्य की अभीप्सा होनी चाहिये, इसलिये नहीं कि दूसरे उससे प्रसन्न होंगे या उससे उनका नाम होगा, बल्कि स्वयं सौंदर्य के प्रेम के लिये सौंदर्य की चाह होनी चाहिये। क्योंकि, सौंदर्य वह आदर्श है जिसे भौतिक जीवन में सिद्ध करना है। प्रत्येक मनुष्य के अंदर यह संभावना निहित है कि वह अपने शरीर की विभिन्न गतियों में सामंजस्य स्थापित करे। मनुष्य का शरीर, यदि वह अपने जीवन के आरंभ से ही शरीर–चर्या की किसी युक्तिपूर्ण पद्धति का अनुकरण करे तो वह अपना सामंजस्य स्थापित कर सकता है और इस तरह सौंदर्य अभिव्यक्त करने के योग्य हो सकता है। जब हम सर्वांगपूर्ण शिक्षा के अन्यान्य पहलुओं की चर्चा करेंगे तब हम देखेंगे कि एक दिन, यदि इस सौंदर्य को अभिव्यक्त होना है तो उसके लिये हमें किन भीतरी शर्तों को पूरा करना होगा।

अब तक मैंने केवल बच्चों को दी जानेवाली शिक्षा की बात कही है क्योंकि उचित समय पर दिये जाने वाले उन्नत शारीरिक शिक्षण के द्वारा बहुत–से शारीरिक दोषों को, कुरूपताओं को दूर किया जा सकता है। पर अगर किसी कारणवश किसी को यह शिक्षा बचपन में न दी गयी हो तो इसका आरंभ किसी भी उम्र में किया जा सकता है और फिर सारे जीवन इसका अनुसरण किया जा सकता है। परंतु जितनी ही देर से हम आरंभ करेंगे उतना ही अधिक हमें बुरी आदतों का मुकाबला करने, उन्हें सुधारने, जड़ता–कठोरता को दूर कर कोमलता–नमनीयता लाने और विकृत अंगों को दुरुस्त करने के लिये तैयार रहना होगा। इस तैयारी के काम के लिये बहुत अधिक धैर्य और लगन की आवश्यकता होगी और तब कहीं वह अवस्था आयेगी जब हम शरीर के आकार और उसकी गतियों में सामंजस्य स्थापित करने के लिये किसी क्रियात्मक कार्यक्रम को आरंभ कर सकेंगे। परंतु जिस सौंदर्य को प्राप्त करना है उसके जीवंत आदर्श को अगर तुम अपने अंदर धारण करो तो अपने लक्ष्य पर पहुंचना तुम्हारे लिये सुनिश्चित है।[1]

---

१ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ २० से २६ तक

शरीर के अंगों का विकास एवं गति—शारीरिक शिक्षा—कमियों एवं विकृतियों का संशोधन यदि कोई हो तो

- 0 गति संयम/ (बड़ी, स्थूल, सूक्ष्म एवं महीन गतियाँ)
- 0 तालमेल
- 0 सन्तुलन
- 0 सौन्दर्य
- 0 नमनशीलता
- 0 बल
- 0 ऊर्जा
- 0 धावक गति
- 0 चपलता

- 0 शरीर की क्रियाओं का संयम एवं अनुशासन तथा गलत आदतों का सुधार
- 0 भोजन पर संयम
- 0 सही नींद
- 0 सही विश्राम
- 0 सही निवृत्ति
- 0 हाव–भाव
- 0 पीड़ा एवं रोग के प्रति भाव

- 0 आन्तरिक अंगों की क्रिया
- 0 इन्द्रियों की क्रिया
- 0 गति
- 0 अंगों की क्रिया

रेखाचित्र २[२]

---

२ नास्टिक सेंटर दिल्ली

अध्याय–३

शरीर को कैसे प्रशिक्षित करें

शारीरिक शिक्षा को समझना

१९६५ में श्रीमाँ से किसी ने अपने सौंदर्य के विषय में सलाह मांगी, इस पर श्रीमाँ का उत्तर था : "सचाई के साथ व्यायाम करो और तुम सफल हो जाओगे।" [१]

यह लगभग ४० वर्ष पहले की बात है – और आज हम इन शब्दों का सत्य सिनेमा (सौन्दर्य व्यवसाय) इत्यादि में शारीरिक प्रशिक्षण की बढ़ती आवश्यकता के रूप में देख सकते हैं।

परन्तु श्रीमाँ का सौन्दर्य–बोध अपने–आप में आम धारणा से बहुत परे है। इसमें बल व माधुर्य, चपलता व स्थिरता, संतुलन व तीव्रता, लय एवं उर्जा, शरीर की सभी क्रियाओं, उसके प्रत्येक अंग, और प्रत्येक गति की परस्पर लयबद्धता व सामंजस्य का गठन है। स्वास्थ्य एवं सही प्रवृत्तियाँ इसके गुणों में से हैं।

इस भाग में विद्यार्थियों एवं शरीर प्रशिक्षण के शिक्षक व कप्तानों को दिये गये श्रीमाँ के बहुमूल्य परामर्श संकलित हैं मूल्यवान जानकारियाँ हैं जो इस प्रकार क्रमबद्ध हैं :

---

१ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ २६९

0 शारीरिक शिक्षा का बोध

0 खतरों से बचाव एवं शारीरिक कठिनाइयों का सामना

0 बच्चों से जुड़ी हुई कुछ आम समस्याओं का सामना

0 नारियों के लिये कुछ हिदायतें

0 एक सुन्दर, स्वस्थ एवं ऋजु शरीर का विकास

शारीरिक शिक्षा का बोध

शारीरिक शिक्षण क्या है और यह किस तरह सहायक है ?

शरीर की चेतना को विकसित करने के लिये शारीरिक–शिक्षण सबसे अच्छा उपाय है और शरीर जितना अधिक सचेतन, उतना ही अधिक उन भागवत शक्तियों के प्रति ग्रहणशील बन सकेगा जो उसे रूपांतरित करने और एक नयी जाति को जन्म देने के लिये काम कर रही हैं।[२]

यह सच है कि हम, अपने आन्तरिक स्वरूप में, एक आत्मा हैं, सजीव अंतरात्मा हैं जो अपने अंदर भगवान् को वहन करती है, और भगवान् बनने की, उन्हें पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करने की अभीप्सा करती है ; वैसे ही यह भी सच है कि, कम–से–कम इस क्षण, अपनी अत्यंत स्थूल बाह्य सत्ता में, अपने शरीर में, हम अब भी एक पशु, एक स्तनपायी जीव हैं. निस्संदेह एक उच्चतर जाति के हैं, पर पशुओं जैसे ही निर्मित हैं और पशु प्रकृति के नियमों के ही अधीन हैं।

इसके अतिरिक्त, यह स्वीकार करने पर भी कि जहां तक हमारे शरीर का प्रश्न है हम अब भी भयंकर रूप से पशुत्व से संबंध रखते हैं, हमें यह सिद्धांत नहीं बना लेना चाहिये कि यह पशु–अंश, जिस तरह हमारे लिये अत्यंत ठोस और अत्यंत सत्य है उसी तरह वह एकमात्र वस्तु है जिसकी अधीनता स्वीकार करने के लिये हम बाध्य हैं और जिसे हमें अपने ऊपर शासन करने देना चाहिये। दुर्भाग्यवश जीवन में अधिकतर यही होता है और निश्चय ही मनुष्य अपनी भौतिक सत्ता के प्रभु की अपेक्षा कहीं अधिक गुलाम हैं। परंतु इसके विपरीत ही होना चाहिये क्योंकि व्यक्तिगत जीवन का सत्य एकदम दूसरी चीज है।

---

२ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ २६६

हमारे अंदर एक विवेकपूर्ण संकल्प–शक्ति है जिसे कम या अधिक बोध प्राप्त है और जो हमारे चैत्य पुरुष का प्रथम यंत्र है। इसी युक्तिपूर्ण संकल्प–शक्ति का हमें उपयोग करके यह सीखना चाहिये कि एक पशु–मानव की तरह नहीं वरन् सच्चे मनुष्य की तरह, देवत्व के उम्मीदवार की तरह कैसे जीना चाहिये।

और इस सिद्धि की ओर जाने का पहला पग है इस शरीर का एक अक्षम दास न रह, इसका प्रभु बन जाना।

इस लक्ष्य को प्राप्त करने में अत्यंत उपयोगी सहायता देनेवाली चीज है शारीरिक साधना, अर्थात् व्यायाम।

लगभग एक शताब्दी से उस ज्ञान का पुनरुद्धार करने का प्रयास हो रहा है जिसे प्राचीन युगों में बहुत महत्त्व दिया जाता था और जिसे लोग अंशतः भूल गये हैं। अब यह पुनः जाग्रत हो रहा है और आधुनिक विज्ञान की प्रगति के साथ–साथ यह भी एक नवीन विस्तार और महत्त्व को प्राप्त करता जा रहा है। यह ज्ञान स्थूल शरीर तथा उस असाधारण प्रभुत्व की चर्चा करता है जो प्रबुद्ध और विधिवद्ध शारीरिक शिक्षण की सहायता से शरीर के ऊपर प्राप्त किया जा सकता है।

यह पुनरुद्धार एक नयी शक्ति और ज्योति की क्रिया का फल है जो निकट भविष्य में सिद्ध होनेवाले महान् रूपांतर की सिद्धि के योग्य शरीर को तैयार करने के लिए पृथ्वी पर फैल गयी है।

हमें इस शारीरिक शिक्षण को प्रधान महत्त्व देने में हिचकिचाना नहीं चाहिये जिसका उद्देश्य ही है हमारे शरीर को इस योग्य बना देना कि वह पृथ्वी पर अभिव्यक्त होने का प्रयास करने वाली नवीन शक्ति को ग्रहण और प्रकट करने लगे।[१]

खेल–कूद एवं शारीरिक प्रशिक्षण में क्या अन्तर है ?

सभी क्रीड़ाएं, प्रतियोगिताएं, टूर्नामेंट्स आदि, वे सब चीजें जो प्रतियोगिता पर आधारित हैं और जिनके अंत में स्थान और इनाम मिलते हैं, वे सब खेल–कूद हैं।

---

१ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ २७४, २७५, २७६

शारीरिक शिक्षण का मतलब है सब कसरतों का मेल जिसका उद्देश्य है शरीर को स्वस्थ रखना और विकसित करना।

स्वभावतः, हमारे यहां दोनों साथ हैं। लेकिन यह विशेष रूप से इसलिये है क्योंकि मनुष्यों को, विशेषतः छोटी आयु में, अभी तक प्रयास करने के लिये कुछ उत्तेजना की जरूरत होती है।[४]

यौगिक व्यायाम क्या है ?

हमने अपने अनुभव से जाना है कि किसी विशेष व्यायाम–पद्धति पर ही एकमात्र यौगिक व्यायाम की मुहर नहीं लगायी जा सकती और यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि केवल इन्हीं कसरतों में भाग लेने से स्वास्थ्य लाभ होगा क्योंकि ये यौगिक कसरतें हैं।

अपनी आवश्यकताओं और क्षमताओं के अनुकूल कोई भी युक्तियुक्त व्यायाम–पद्धति व्यायाम करने वाले को अपना स्वास्थ्य सुधारने में सहायता देगी। और फिर मनोवृत्ति का महत्व ज्यादा है, यौगिक वृत्ति से अपनायी गयी, कोई भी सुनियोजित वैज्ञानिक रूप से व्यवस्थित व्यायाम–पद्धति यौगिक कसरत हो सकती है और उसमें भाग लेनेवाला शारीरिक स्वास्थ्य और नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान की दृष्टि से पूरा लाभ उठा सकता है।[५]

शरीर के प्रशिक्षण में अनुशासन का क्या महत्त्व है ?

सीखने के लिये यह एक अत्यंत आवश्यक और अनिवार्य पाठ है। कोई भी उपयोगी काम सहयोग की भावना और खेल के अनुशासन के बिना नहीं हो सकता।[६]

बिना अनुशासन के शारीरिक शिक्षा संभव नहीं है। कठोर अनुशासन के बिना स्वयं शरीर भी काम न कर सकेगा। असल में, इस तथ्य को न स्वीकारना ही व्याधियों का मुख्य कारण है।

पाचन, वृद्धि, रक्त–संचरण, सब कुछ ही तो एक अनुशासन है ; चिंतन, गतियां, चेष्टाएं सभी तो एक अनुशासन है। यदि अनुशासन न हो तो लोग तुरत बीमार पड़ जाते हैं।[७]

---

४ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ २९०
५ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ २९७
६ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ २९५
७ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ २९३

क्या एक ऐसा कार्यक्रम स्थापित किया जा सकता है जो सबको रुचिकर लगे ? इसके लिए बाहरी दबाव का उपयोग करें या पूर्ण स्वतंत्रता व्यावहारिक है ?

यह असंभव है। प्रत्येक की अपनी रुचि होती है और अपना स्वभाव। बिना *अनुशासन* के कोई कार्य नहीं किया जा सकता — सारा जीवन ही अनुशासन है।[८]

खतरों से बचाव एवं शारीरिक कठिनाइयों का सामना

दुर्घटनाएँ क्यों होती हैं ?

किसी दुर्घटना को लो, वह अपने-आप एक अव्यवस्था का आरंभ है। स्वभावतः, जब वह सार्वजनिक या सामूहिक दुर्घटना होती है तो उस चीज में हर एक व्यक्ति के वातावरण का भाग होता है, और वह निर्भर है पराजयवादियों के अनुपात पर, और इसके विपरीत उन पर जो ठीक पक्ष में हैं। मुझे मालूम नहीं कि मैंने यह लिखा है या नहीं — कहीं लिखा हुआ है — लेकिन यह बहुत ही मजेदार चीज है। मैं तुम्हें सुनाती हूं .....। लोगों को कृपा की क्रिया का भान तक नहीं होता जब तक कोई खतरा न आ जाय, यानी, जब तक किसी दुर्घटना का आरंभ न हो जाय या जब दुर्घटना हो चुकी हो और वे उसमें से बच निकले हों तब वे सचेतन हो उठते हैं लेकिन उन्हें इस बात का भान नहीं होता, जैसे, उदाहरण के लिये, कोई यात्रा या कोई और चीज दुर्घटना के बिना हो जाती है तो यह कहीं अधिक महान कृपा है। यानी, सामंजस्य एक ऐसे ढंग से स्थापित हो जाता है कि कुछ भी नहीं हो सकता; लेकिन मन को यह बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होता है। जब लोग बीमार पड़ते हैं और जल्दी ठीक हो जाते हैं तो वे कृतज्ञता से भरपूर होते हैं। लेकिन जब वे स्वस्थ होते हैं तो कृतज्ञ होने का कभी विचार भी नहीं करते; फिर भी यह ज्यादा बड़ा चमत्कार है ! सामूहिक दुर्घटनाओं में जो चीज मजेदार है, वह है ठीक अनुपात, संतुलन या असंतुलन का प्रकार, व्यक्तियों के विभिन्न वायुमंडलों से उत्पन्न यह संयोजन। ....

अगर तुम साधारण दृष्टिकोण से चीजों को देखो तो इस ओर तुम्हारा

---

८ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ ३७४

ध्यान न जायगा। लेकिन वातावरण के संसर्ग से सावधान रहना चाहिये। इसलिये जब तुम दल में यात्रा करो तो इस बात का ख्याल रखना चाहिये कि तुम किसके साथ जा रहे हो। तुम्हें आंतरिक ज्ञान, अंतर्दृष्टि प्राप्त होनी चाहिये। और तब यदि तुम किसी ऐसे व्यक्ति को देखो जिसके चारों ओर एक नन्हा–सा काला बादल हो तो उसके साथ यात्रा मत करो, क्योंकि निःसंदेह कोई दुर्घटना जरूर होगी –– यद्यपि, शायद उसे न हो। अतः चीजों को बिलकुल ऊपरी ढंग से जानने की अपेक्षा कुछ गहराई में जानना अधिक उपयोगी है।[९]

चोट एवं दुर्घटनाओं से कैसे बचा जाए ?

अधिक सचेतन होओ तो तुम्हें फिर से चोट न लगेगी ।[१०]

चुनाव के लिए एक क्षण होता है, किसी दुर्घटना में भी। उदाहरण के लिये, तुम फिसल कर गिर पड़ते हो। जिस क्षण तुम फिसले और जिस क्षण तुम गिरे, उसके बीच सेकंड का एक अंश होता है, वह तुम्हारे लिये चुनाव का क्षण होता है : हो सकता है कि कुछ भी न हो और हो सकता है कि बहुत गंभीर हो जाय। केवल, चेतना को स्वभावतः बहुत जाग्रत होना चाहिये, और तुम्हें सतत् अपने चैत्य पुरुष के संपर्क में रहना चाहिये, तब संपर्क बनाने का समय नहीं होता, तुम्हें संपर्क में रहना चाहिये। जिस क्षण तुम फिसलते हो और जिस क्षण तुम जमीन पर होते हो, उनके बीच, अगर मानसिक और चैत्य रचना पर्याप्त शक्तिशाली है, तो कुछ नहीं बिगड़ता, कुछ नहीं होता –– बिलकुल कुछ नहीं। लेकिन अगर उस समय अपनी आदत के मुताबिक मन निराशावादी बन जाय और अपने–आपसे कहे : "ऊफ्फ्! मैं फिसल गया ....।" यह चीज एक लवनिमेष ही रहती है। उसके लिये मिनट–भर की जरूरत नहीं होती, बस जरूरत होती है सेकंड के एक अंश मात्र की। सेकंड के अंश भर के लिये चुनाव का अवसर रहता है। लेकिन उसके लिये हमेशा जाग्रत रहना होता है, अपने जीवन का एक–एक मिनट जाग्रत रहना होता है! सेकंड–भर के लिये चुनाव होता है, सेकंड का एक अंश होता है तब तुम दुर्घटना को गंभीर होने से रोक सकते हो। बीमारी को घुसने से रोक सकते हो, तुम्हारे सामने हमेशा चुनाव रहता है। लेकिन वह होता केवल सेकंड–भर के लिये है। और तुम्हें उसे हाथ से जाने न देना चाहिये। अगर तुम उसे खो डालो तो बस समाप्त।

---

९ मातृवाणी भाग ५ पृष्ठ ४०६.०९ (सब श्री: एज्यूकेशन भाग १, पृष्ठ १०६-०९)

१० मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ २८९

बाद में एक और क्षण होता तो है ......। तुम गिर चुके होते हो, तुमको चोट लगी होती है · लेकिन फिर भी एक और क्षण होता है जब तुम चीजों को अच्छे या बुरे में बदल सकते हो। फलस्वरूप वह कोई क्षणिक चीज हो जिसके दुष्परिणाम तुरंत विलीन हो जायें या कोई बहुत गंभीर चीज हो जाय, यथासंभव गंभीर। मुझे मालूम नहीं तुमने ख्याल किया है या नहीं, कि ऐसे लोग होते हैं जो दुर्घटना का कोई भी अवसर नहीं चूकते! जब कभी दुर्घटना की संभावना होती है तो वे शिकार बनते हैं। और उनकी दुर्घटना कभी साधारण नहीं होती। जब कभी दुर्घटना गंभीर हो सकती हो, होती है। हां, जीवन में प्रायः तुम कहते हो; "ओह, यह अभागा है, इसका दुर्भाग्य है, सचमुच इसका भाग्य अच्छा नहीं है।" लेकिन वह सब अज्ञान है। चीज पूरी तरह उसकी चेतना की क्रिया–विधि पर निर्भर है। मैं तुम्हें उदाहरण दे सकती हूं –– किंतु मुझे अमुक व्यक्तियों के बारे में कहना होगा और मैं यह नहीं चाहती। लेकिन मैं तुम्हें आश्चर्यजनक उदाहरण दे सकूंगी! और यह, यह ऐसी चीजें हैं जिन्हें तुम सारे समय देखते हो, यहां पर तो सारे ही समय! ऐसे व्यक्ति हैं जो मर सकते थे पर जो निरापद निकल आते हैं, कुछ और हैं जिनके लिये चीज गंभीर नहीं थी, पर गंभीर बन जाती है।

लेकिन यह विचार पर, साधारण विचार की क्रिया पर निर्भर नहीं है। बाहरी तौर पर उनके विचार दूसरों के जितने अच्छे हो सकते हैं ––यह बात नहीं है। बात है चुनाव के उस सेकंड की ––उन लोगों की जो उचित ढंग से समय पर प्रतिक्रिया करना जानते हैं। मैं तुम्हें सैकड़ों उदाहरण दे सकूंगी। वे बहुत मजेदार हैं।

यह पूरी तरह चरित्र पर निर्भर है, कइयों की चेतना इतनी सतर्क और जाग्रत होती है कि वे सोये नहीं रहते, वे अपने अंदर जाग्रत होते हैं। वे ठीक जिस क्षण सहायता को बुलाना चाहिये बुलाते हैं या भागवत शक्ति का आह्वान करते हैं, लेकिन ठीक उसी क्षण जब जरूरत हो। तो खतरा टल जाता है और कुछ नहीं होता। वे मर सकते थे : वे उसमें से बिलकुल सुरक्षित निकल आते हैं। इसके विपरीत, दूसरे ऐसे होते हैं जिन्हें छोटी–से–छोटी खरोंच लगे तो, उनकी सत्ता में कोई चीज अव्यवस्थित हो जाती है। उनकी चेतना में एक प्रकार का भय या निराशावाद या पराजयवाद होता है जो सहज रूप से उभर आता है – बात कुछ नहीं थी, उनके पाँव में मोच आ गयी थी और अगले ही क्षण हड्डी टूट

गयी। इसका कोई कारण नहीं था। वे बड़ी आसानी से अपनी हड्डी को टूटने से बचा सकते थे।

कुछ और लोग होते हैं जो पहली मंजिल पर एक ऐसी नसेनी से चढ़ते हैं जो उनके भार से टूट जाती है। वे खत्म हो सकते थे लेकिन जरा भी चोट के बिना बच निकलते हैं। यह उन्होंने कैसे किया ? ऊपरी तौर पर वह अद्‌भुत लगता है, फिर भी उनके साथ ऐसा ही होता है। वे अपने–आपको धरती पर बिलकुल अच्छी अवस्था में लेटा हुआ पाते हैं, उन्हें कुछ भी नहीं हुआ होता। मैं तुमको नाम बता सकती हूं, मैं तुम्हें ठीक–ठीक तथ्य सुना रही हूं।

तो, यह किस पर निर्भर है ? यह इस पर निर्भर है कि हम पर्याप्त जाग्रत हैं या नहीं ताकि चुनाव के क्षण ....। और ध्यान रहे कि यह चीज मानसिक बिलकुल नहीं है, यह वह बात नहीं है। यह सत्ता की मनोवृत्ति है, यह वह चेतना है जो ठीक ढंग से प्रतिक्रिया करती है। यह दूर, बहुत दूर जाती है, इस मनोवृत्ति की शक्ति विलक्षण होती है। चूंकि वह एक निमिष मात्र होता है, उसका अर्थ है एक ऐसी चेतना जो पूर्ण रूप से जाग्रत है, जो कभी नहीं सोती, जो कभी निश्चेतना में नहीं पैठती। क्योंकि हमें यह नहीं मालूम कि ये चीजें कब होंगी, है न ? फलस्वरूप, हमारे पास जागने का समय नहीं होता। हमें जाग्रत ही रहना चाहिये।

मैं एक ऐसे व्यक्ति को जानती थी जिसे वास्तव में मर जाना चाहिये था, और जो इसके कारण नहीं मरा क्योंकि उसकी चेतना ने बहुत तेजी से प्रतिक्रिया की। उसने भूल से विष ले लिया था : दवा की एक मात्रा लेने की जगह उसने बारह मात्रा ले ली थी और वह विष बन गयी थी ; उसे मर जाना चाहिये था, उसके हृदय की गति को बंद हो जाना चाहिये था (बहुत साल पहले की बात है), और वह आज तक बिलकुल जिंदा है। उसने ठीक प्रकार की प्रतिक्रिया की थी।

अगर ऐसी चीजें सुनायी जायें तो वे चमत्कार कहलाएंगी। ये चमत्कार नहीं हैं : वह एक जाग्रत चेतना है।"[11]

हम बीमार क्यों पड़ते है ?

रोग अक्सर (मैं पहले ही स्पष्ट कर चुकी हूँ) सत्ता के विभिन्न भागों की

---

११ मातृवाणी भाग ५ पृष्ठ ४०३ - ०६ (सा० श्री: एजूकेशन भाग १, पृष्ठ १०३-१०६)

अव्यवस्था से आता है, एक प्रकार की असंगति से। अच्छा, उदाहरण के लिये, यह भली–भांति हो सकता है कि शरीर ने प्रगति की अमुक गति का अनुसरण नहीं किया है। वह पीछे रह गया है, और उस तरफ सत्ता के बाकी भागों ने प्रगति कर ली है। अतः वह असंतुलन, संगति का वह भंग रोग पैदा करता है, और हो सकता है कि मन और प्राण भी, बहुत बढ़िया अवस्था में हों। ऐसे लोग हैं जो बरसों बीमार रहे हैं — भयावह, असाध्य रोगों से — और जिन्होंने अपनी मानसिक क्षमता को विलक्षण रूप से स्वच्छ और स्पष्ट रखा है और मानसिक दृष्टि से प्रगति की है। स्यूली प्रूदौम नामक एक फ्रेंच कवि हैं (बड़े अच्छे कवि); वे सांघातिक रूप से बीमार थे और उन्होंने उसी हालत में अपनी सबसे सुदर कविताएं लिखी हैं। वह सबके साथ सौम्य, मद्र और मुस्कराते हुए रहे — सबके साथ सौजन्यपूर्ण और फिर भी उनकी देह टूट रही थी। यह लोगों पर निर्भर है। इसके विपरीत कुछ और लोग हैं जिनके जरा–सा बीमार होते ही सिर से पैर तक सब कुछ बिगड़ जाता है — तब वे बेकार हो जाते हैं। हर एक के लिये अलग–अलग संयोग होता है।[१२]

क्या मन की अवस्था एवं शारीरिक स्वास्थ्य का कोई सम्बन्ध है ?

शरीर और मन के बीच निश्चय ही एक संबंध है! संबंध से बढ़कर कुछ और है : एक बहुत ही घनिष्ठ बंधन है, क्योंकि बहुधा मन ही शरीर को बीमार करता है। बहरहाल, वह एक मुख्य कारक है।[१३]

क्या मन की अवस्था शरीर की अवस्था पर निर्भर है ?

यह व्यक्तियों पर निर्भर है। ऐसे व्यक्ति होते हैं — जिनके शरीर को लेशमात्र कुछ हो जाय तो उनका मन पूरी तरह गड़बड़ा जाता है। जब कि दूसरे बहुत बीमार होते हुए भी अपने मन को स्वच्छ रखते हैं। ऐसे उदाहरण पाना ज्यादा विरल और कठिन है जहां मन तो क्षुब्ध हो और शरीर स्वस्थ। यह असंभव तो नहीं, लेकिन है ज्यादा विरल, क्योंकि शरीर मनोवस्था पर बहुत निर्भर करता है। मन भौतिक सत्ता का प्रभु है। और मैंने कहा है कि भौतिक सत्ता बहुत विनीत और आज्ञाकारी सेवक है। किंतु व्यक्ति अपने मन का उपयोग करना नहीं जानता, बल्कि इसके विपरीत, केवल यही नहीं कि वह उसका उपयोग करना नहीं जानता, वह उसका दुरुपयोग करता है — यथासंभव बुरी तरह से। मन

---

१२ मातृवाणी भाग ५ पृष्ठ ४०२ (सब से एजूकेशन, भाग १ पृष्ठ १०२)

१३ मातृवाणी भाग ५ पृष्ठ ४०२ (सब से एजूकेशन भाग १, पृष्ठ १०२)

में शरीर को रूप देने और सीधी क्रिया करने की काफी शक्ति होती है, और अक्सर व्यक्ति इस शक्ति का उपयोग अपने–आपको बीमार करने में करता है। क्योंकि जरा–सी गड़बड़ होते ही मन सभी संभव विपदाओं और अनर्थों को आकार देने और बनाने लगता है, अपने–आपसे पूछने लगता है कि यह हो सकता है या वह हो सकता है, ऐसे होनेवाला है या नहीं, और इस सब का अंत कैसे होगा। हां, अगर मन को यह अनर्थकारी कार्य करने देने की जगह, तुम इसी क्षमता को कुछ अनुकूल रचनाएं बनाने के लिये उपयोग में लाओ — उदाहरण के लिये, सिर्फ शरीर को विश्वास दिलाने में, उससे यह कहने में कि यह केवल क्षणिक व्याकुलता है, यह कुछ भी नहीं, और यदि वह ग्रहणशीलता की सच्ची अवस्था में पैठे तो अव्यवस्था जितनी आसानी से आयी थी उसी तरह चली भी जायगी, और कुछ ही सेकंडों में व्यक्ति अपने–आपको ठीक कर सकेगा यदि उसे मालूम हो कि यह किस तरह किया जा सकता है, इसके अद्‌भुत परिणाम मिलेंगे।"[१४]

तम्बाकू और शराब स्मृति और संकल्प शक्ति को क्यों नष्ट कर देते हैं ?

क्यों ? क्योंकि वे ऐसा करते हैं। इसका कोई नैतिक कारण नहीं है। यह एक तथ्य है। शराब में एक प्रकार का विष है, तम्बाकू में भी एक विष है; यह विष शरीर के कोषाणुओं में जाकर उन्हें हानि पहुंचाता है। कहा जा सकता है कि शराब कभी बाहर नहीं निकलती ; वह मस्तिष्क के एक भाग में जमा होती जाती है, और फिर, जब वहां जमाव अधिक हो जाता है, तो कोषाणु अपना काम करना बंद कर देते हैं — इसके अतिरिक्त, कुछ लोग पागल हो जाते हैं जो अंदर आत्मसात् नहीं होती और इस प्रकार मस्तिष्क में जमा हो जाती है। और यह इतनी उग्र होती है कि ....। फ्रांस में एक प्रांत है, वहां मदिरा बनती है — इसमें मद्यसार बहुत कम होता है: मेरा ख्याल है चार या पांच प्रतिशत जो बहुत कम है, समझे, और ये लोग, चूंकि स्वयं बनाते हैं, इसलिये पीते भी ऐसे हैं, जैसे पानी पिया जाता है। इसे शुद्ध रूप में पीते हैं, और कुछ समय बाद बीमार पड़ जाते हैं। इन्हें मस्तिष्क संबंधी कई व्याधियां हो जाती हैं। मैं ऐसे कई लोगों को जानती थी जिनके मस्तिष्क में गड़बड़ी हो गयी थी वे ठीक प्रकार से काम नहीं कर पाते थे। और तम्बाकू — निकोटिन तो बहुत गंभीर प्रकार का विष है। यह विष

१४ मातृवाणी भाग ५ पृष्ठ ४०३ (सत्य की एजूकेशन, भाग १ पृष्ठ १०२)

कोषाणुओं का सफाया ही कर देता है। मैं पहले भी कह चुकी हूँ कि यह एक ६ ाीमा विष है क्योंकि तत्काल इसके बुरे परिणामों का पता नहीं लगता, पर व्यक्ति जब पहली बार पीता है, तो वह काफी अस्वस्थ सा अनुभव करता है। और इसी से तुम्हें समझ लेना चाहिये कि ऐसा न करना चाहिये। लेकिन लोग इतने मूर्ख होते हैं कि वे इसे अपनी दुर्बलता मानते हैं और इसलिये वे तब तक पीते रहते हैं जब तक इस विष के अभ्यासी नहीं हो जाते। और तब शरीर भी प्रतिक्रिया करना बन्द कर देता है, बिना प्रतिक्रिया के ही वह अपने को नष्ट होने देता है: प्रतिक्रिया से तुम्हारा पिण्ड छूट जाता है।

हाँ तो, धूम्रपान के साथ भी यही बात है : पहली बार जब तुम धूम्रपान करते हो, तो तुम्हारा शरीर उसके प्रति उग्र प्रतिक्रिया करता है, उल्टी हो जाती है, वह कहता है : "मुझे यह बिलकुल नहीं चाहिये।" तुम अपनी मानसिक और प्राणिक मूर्खता के साथ उसे तम्बाकू पीने के लिये विवश करते हो; तो वह प्रतिक्रिया करना बन्द कर देता है और फिर क्रमशः विष से भरता रहता है जब तक कि वह विघटित ही नहीं हो जाता। उसकी कार्य–क्षमता नष्ट होने लगती है ; स्नायुएं सबसे अधिक प्रभावित होती हैं ; वे संकल्प का वहन नहीं करतीं क्योंकि वे विषाक्त हो जाती हैं। उनमें संकल्प वहन करने की शक्ति नहीं रहती। और अंत में उनमें कँपकँपी शुरू हो जाती है, उनकी क्रियाओं में अधीरता, व्याकुलता आ जाती है। ऐसे काफी सारे लोग हैं, उन्हें ढूंढने के लिये अधिक दूर नहीं जाना पड़ेगा और उनकी अवस्था ऐसी इसलिये है कि उन्होंने सब बातों में अति कर दी है: वे शराब पीते थे, धूम्रपान करते थे और जब वे किसी वस्तु को उठाते हैं, उनके हाथ कांपने लगते हैं (कांपने का संकेत)। ऐसा करने से यही प्राप्त होता है।[१५]

शरीर थक क्यों जाता है ?

यह एक प्रकार के आंतरिक असंतुलन के कारण होता है। इसके कारण कई हो सकते हैं, किंतु उनका आशय एक ही होता है : सत्ता के विभिन्न भागों में असंतुलन। अब यह भी हो सकता है कि जिस दिन तुममें शक्ति होती है, उस दिन तुम बहुत अधिक खर्च कर देते हो, यद्यपि ऐसा छोटे बच्चों के साथ नहीं होता ; बच्चे तब तक शक्ति खर्च करते रहते हैं जब तक उनकी सारी शक्ति चुक

१५ मातृवाणी भाग ६ पृष्ठ ७४-७६ (साथ श्री एजूकेशन, भाग १ पृष्ठ १६७-१६८)

नहीं जाती। बच्चा तब तक किसी–न–किसी क्रिया में लगा रहता है, जब तक कि वह थककर एकदम सो नहीं जाता। अभी वह भाग रहा था, दौड़ रहा था; फिर, धम्म! अचानक ही, खत्म, गहरी निद्रा में लीन हो गया और इसी प्रकार उसका शारीरिक विकास होता है, वह अधिकाधिक शक्ति ग्रहण करता है। अतएव, शक्ति का खर्च नुकसान नहीं पहुंचाता। उसकी क्षति विश्राम लेने से पूरी हो जाती है –– सब कुछ बिलकुल ठीक हो जाता है। नहीं, यह केवल असंतुलन ही है : सत्ता के विभिन्न भागों में काफी संतुलन नहीं होता।

लोग सोचते हैं कि जो कुछ वे सदा से करते रहे हैं वही उन्हें करते रहना है अथवा कम–से–कम चेतना की एक ही अवस्था में सदा बने रहना है, नित्यप्रति अपना वही थोड़ा सा काम करते रहना है, और सब कुछ ठीक चलता रहेगा। किंतु बात ऐसी नहीं है। अचानक ही, कारण चाहे जो कुछ भी हो, सत्ता का एक भाग –– तुम्हारी भावनाएं या तुम्हारे विचार या तुम्हारा प्राण –– आगे बढ़ जाता है, उसे कोई वस्तु, कोई प्रकाश मिल जाता है, वह प्रगति कर लेता है। वह विकास को प्राप्त होकर ऊपर उठ जाता है। बाकी सब पीछे छूट जाते हैं। इसके फलस्वरूप असंतुलन पैदा हो जाता है। यही बात तुम्हें बहुत थकाने के लिये काफी है। पर वस्तुत : यह थकावट नहीं है; यह एक ऐसी वस्तु है जो तुम्हें शांत रहने, एकाग्र होने और इस प्रकार अपने अंदर ही निवास करने की अभीप्सा करने के लिये प्रेरित करती है जिससे तुम अपनी सत्ता के बिभिन्न भागों में धीरे–धीरे एक नया सामंजस्य स्थापित कर सको। इसीलिये किसी विशेष क्षण में, एक प्रकार का विश्राम आवश्यक हो जाता है, ताकि तुमने जो कुछ सीखा है उसे आत्मसात् करके सत्ता के विभिन्न भागों में सामंजस्य स्थापित कर सको।[१६]

नाड़ी दौर्बल्य क्यों होता है ?

साधारणतया ऐसा होता है ....। शायद उनका प्राणिक गठन बड़ा दुर्बल होता है :उनकी स्नायुएं भी दुर्बल होती हैं, उनका सारा नाड़ी–संस्थान भी दुर्बल हो सकता है ; शायद ऐसा हो उनमें जन्म से ही इस प्रकार की अनियमितता हो। किंतु यह एक मानसिक दुर्बलता भी हो सकती है, क्योंकि यह सत्य है कि स्वस्थ शरीर में ही शक्तिशाली स्नायुएं होती हैं, किंतु सबल नाड़ियों के लिये स्वस्थ

---

१६ मातृवाणी भाग ६ पृष्ठ ३६

विचारों का होना और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि तुम्हारे विचार स्वस्थ नहीं हैं, यदि तुम्हारे भाव और विचार भी , कहा जा सकता है, शुद्ध नहीं हैं, तो तुम्हारी नाड़ियां भी वैसी ही हो जाती हैं, बल्कि उनसे भी अधिक खराब। उदाहरणार्थ, जो सभी प्रकार की अस्वस्थ सनकों का शिकार होते हैं, जो बुरी पुस्तकें पढ़ते हैं, अस्वस्थ प्रकार की बातचीत में हिस्सा लेते हैं— ऐसे लोगों की संख्या काफी है, बहुत अधिक — हां, तो ऐसे लोगों का अपनी स्नायुओं पर से नियंत्रण उठ जाता है, वे शीघ्र ही क्षुब्ध हो उठते हैं, जब कि उनका शरीर ठीक अवस्था में तथा स्वस्थ होता है। मैं तुम्हें बता सकती हूं कि अस्वस्थ प्रकार का वार्तालाप और बुरी पुस्तकें पढ़ना — इससे बुरी और कोई वस्तु नहीं है, और जब तुम सच्चे दिल से साधना करते हो, जब तुम सचमुच विकास करने का प्रयत्न करते हो, तो तुम्हें पता चलता है कि जब तुम किन्हीं निरर्थक शब्दों का उच्चारण करते हो, चाहे वे कितने ही कम क्यों न हों, तत्काल ही तुम्हारे अंदर एक भयानक बेचैनी सी व्याप जाती है ; तुम्हें ऐसा प्रतीत होता है मानों सिर की सभी नाड़ियां खिंच गयी हों, और तुम्हारे हृदय में कुछ मथा जा रहा है जिससे तुम्हें पीड़ा होती है, और तुम अपने अंदर एक महान् खालीपन और ऐसी टीस सी अनुभव करते हो मानों तुमने कोई बुरी वस्तु खा ली हो — यह सब केवल इसलिये कि तुमने कुछ निरर्थक शब्द कहे हैं। इसके अतिरिक्त, यह एक निश्चित संकेत है : ज्यों ही तुम्हें बेचैनी अनुभव होने लगे, तुम्हें बोलना बन्द कर देना चाहिये :"बस, अब समाप्त।" किंतु अधिकतर लोग इतने अचेतन होते हैं कि उन्हें इसका पता ही नहीं चलता, और उनकी संकल्प-शक्ति इतनी उलझी हुई होती है कि वे अपने शरीर को वह सब करने के लिये विवश कर देते हैं जो उसे नहीं करना चाहिये। तो, उनका शरीर थोड़ा-बहुत आज्ञाकारी होता, वह आदेश मानता और, इस तरह, धीरे-धीरे क्षीण होता जाता है और कोई प्रतिक्रिया भी नहीं दिखाता।[१७]

भारी भोजन करने से दुःस्वप्न क्यों आते है ?

क्योंकि स्वप्नों और पेट की अवस्था में बड़ा निकट का संबंध है। इस विषय में निरीक्षण किये गये हैं और यह देखा गया है कि जिस प्रकार का भोजन किया गया हो, उसी के अनुसार इस या उस तरह के स्वप्न भी आते हैं, और यदि खाना पचा न हो, तो वह स्वप्न सदा ही दुःस्वप्नों में बदल जाता है, — भले ही इन दुःस्वप्नों में कोई सत्यता न हो किंतु तो भी वे होते तो दुःस्वप्न ही हैं और वह

१७ मातृवाणी भाग ६ पृष्ठ ७६-७७ (सब श्री एजूकेशन, भाग १ पृष्ठ १६९-१७०)

भी बहुत असुखकर — उदाहरणार्थ शेर, चीते, आदि, देखना ....। या फिर तुम्हें ऐसा लगता है मानों तुम्हारे ऊपर कोई भारी संकट आ पड़ा है, तुम्हें जल्दी से वस्त्र पहनकर बाहर जाना है, और तुम चाहते हुए भी शीघ्रतापूर्वक कपड़े पहनकर तैयार नहीं हो सकते, तुम्हें वस्त्र ही नहीं मिलते, जूता पहनना चाहते हो, वह पैर में ठीक नहीं बैठता, तुम जल्दी से कहीं जाना चाहते हो, तुम्हारी टांगे ही नहीं चलतीं, वे बेकाम हो गयी हैं और उनके चलने के लिये बहुत प्रयत्न करने पर भी तुम एक पग नहीं उठा सकते, हिल ही नहीं पाते। इस प्रकार के स्वप्न पेट की गड़बड़ी से ही आते हैं।[१८]

क्या हमें व्यायाम करते समय जबरदस्ती अधिक व्यायाम करना चाहिये ?

नहीं।

शरीर प्रगति करने के योग्य है और धीरे–धीरे वह जो चीजें नहीं कर सकता था उन्हें करना सीख सकता है। लेकिन उसकी प्रगति की क्षमता प्राण की प्रगति की कामना और मन की प्रगति के संकल्प की अपेक्षा बहुत धीमी है। और अगर प्राण और मन को क्रिया के स्वामी के रूप में छोड़ दिया जाय तो वे शरीर को परेशान कर मारेंगे, उसको नष्ट कर देंगे और स्वास्थ्य बिगाड़ देंगे।

इसलिये तुम्हें धीरज रखना चाहिये और शरीर की लय का अनुसरण करना चाहिये ; वह ज्यादा समझदार है और जानता है कि वह क्या कर सकता है और क्या नहीं कर सकता।

स्वभावतः तामसिक शरीर भी होते हैं और उन्हें प्रगति करने के लिये कुछ प्रोत्साहन की जरूरत होती है।

परंतु हर चीज में, हर हालत में अपना संतुलन बनाये रखना चाहिये।[१९]

खेल प्रतियोगिताओं का क्या मूल्य है ?

यह ज्यादा प्रयास करने का और इसलिये तेजी से प्रगति करने का अवसर होता है।[२०]

---

१८ मातृवाणी भाग ६ पृष्ठ ७४ ([illegible] एजूकेशन, भाग १, पृष्ठ १६७)
१९ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ २८८-२८९
२० मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ २८९

बच्चों से जुड़ी हुई कुछ आम समस्याओं का सामना

बच्चों को सही खेल के लिये कैसे सहायता करें ?

बच्चों के लिये उपयोगी और लाभदायक खेल चुनना बहुत कठिन है। इसके लिये बहुत चिंतन और मनन की जरूरत है, और जो कुछ बिना सोचे-समझे किया जाता है उससे असुखकर परिणाम हो सकते हैं।[२१]

क्या शिक्षकों को रोचक गतिविधियों का इंतजाम करना चाहिये या बच्चों को अपने आप ही मन लगाने की चेष्टा करनी चाहिये ?

"दोनों चीजें अनिवार्य हैं और, जहां तक हो सके, दोनों को हमेशा रहना चाहिये।

शिक्षक उन्हें जो कुछ सिखायें उसमें थोड़ी-सी कल्पना और आविष्कारशील नमनीयता के साथ कुछ आकर्षक और कुछ अप्रत्याशित मिला देना चाहिये।

अपनी ओर से, बच्चों को, खुद ही प्रगति के लिये संकल्प और अभिरुचि को संवारते हुए, वे जो कुछ भी करें उसमें सतत् रुचि पैदा करनी चाहिये।

जब तक ऐसा न हो जाय तब तक कप्तान बच्चों को उनके व्यायामों की व्यवस्था का थोड़ा-बहुत भार सौंप दें ताकि जो विचार उन्हें सूझते हों, यदि वे ठीक हों तो उनका यथासंभव उपयोग हो सके।

यदि सहयोग और उत्तरदायित्व की भावना बच्चों में जगायी जाय तो वे जो कुछ करते हैं उसमें रुचि लेंगे और उसे खुशी से करेंगे।[२२]

शारीरिक व्यायाम के प्रति अरुचि को जीतने में क्या सहायक हो सकता है ?

"हम धरती पर मनचाहा करने के लिये नहीं हैं, बल्कि प्रगति करने के लिये हैं।

शारीरिक व्यायाम तुम्हारे मनोरंजन या तुम्हारी सनकों को तृप्त करने के लिये नहीं, बल्कि शरीर को विकसित करने और मजबूत बनाने के लिये विधिवत् अनुशासन के रूप में बनाये गये हैं।

---

२१ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ १६१
२२ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ १५६

सच्ची बुद्धिमानी तो यह है कि जो कुछ करो खुशी से करो, और यह संभव है यदि तुम जो कुछ करो उसे प्रगति का साधन बना लो। पूर्णता पाना बहुत कठिन है और इसे प्राप्त करने के लिये हमेशा बहुत प्रगति की आवश्यकता होती है।

सुख की खोज में जाना निश्चय ही अपने–आपको दुःखी करने का सबसे अच्छा उपाय है। (*)

यदि तुम सचमुच शांति और आनंद चाहते हो तो तुम्हारी सतत लगन होनी चाहिये :

"मुझे ऐसी कौन सी प्रगति करनी चाहिये ताकि मैं भगवान् को जान सकूं, उनकी सेवा कर सकूं ?"

यह कि (*) "सुख की खोज में जाना निश्चय ही अपने–आपको दुःखी करने का सबसे अच्छा उपाय है" पूर्ण सत्य है। यह इस बात की पुष्टि करता है कि यदि तुम अपने क्षुद्र अहं को संतुष्ट करना चाहते हो तो तुम जरूर दुःखी होओगे। निश्चय ही ! अपने–आपको दुःखी करने का यह सबसे अच्छा तरीका है। यह कहना : "ओह, यह मुझे उबा देता है ; ओह, मुझे जो पसंद हो वह करना चाहिये ; ओह, फलाना मेरे साथ अच्छा व्यवहार नहीं करता ; ओह, जिंदगी मुझे वह नहीं देती जो मैं चाहता हूं ! "ओह !!!

"क्या मैं वह हूं जो मुझे होना चाहिये" ?

"क्या मैं वह करता हूं जो मुझे करना चाहिये" ?

" क्या मैं उतनी प्रगति कर रहा हूं जितनी मुझे करनी चाहिये ?

तब वह रोचक बन जाता है। समझे !

"अपनी अगली प्रगति के लिये मुझे क्या सीखना चाहिये ? मेरी कौन–सी कमजोरियां हैं जिन्हें मुझे सुधारना चाहिये ? कौन–सी कठिनाई है जिसे मुझे पार करना है ? मेरी कौन सी कमजोरी है जिसे मुझे मिटाना है ?" बस यही।

और तब, स्वभावतया, अगले क्षण : "भगवान् की सेवा करने और उन्हें समझने के लिये मैं कैसे समर्थ बनूं ?" बस यही ![२१]

---

२१ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ ३८४

व्यवस्था के प्रति प्रेम कैसे पैदा किया जाए ?

अगर बच्चों को, बहुत छोटों को भी, चीजें व्यवस्था में रखना और एक प्रकार की चीजों को एक साथ सजाना आदि–आदि, सिखाया जाय तो वे उसे बहुत पसंद करते हैं और भली–भांति सीखते हैं। बच्चों को सुव्यवस्था, साफ–सुथरापन सिखाने का, उसके *क्रियात्मक और व्यावहारिक पाठ*, सैद्धान्तिक नहीं, देने का यह अच्छा अवसर है।

परीक्षण करो, मुझे विश्वास है कि बच्चे चीजों को व्यवस्थित करने में तुम्हारी सहायता करेंगे।[२४]

रात को जल्दी सोकर सुबह जल्दी उठना क्यों अच्छा है ?

"जब सूर्यास्त होता है तो धरती पर एक प्रकार की शांति उतरती है और यह शांति नींद के लिये हितकर है।

जब सूर्योदय होता है तो धरती पर एक ओजस्वी शक्ति उतरती है और यह शक्ति काम में सहायक होती है।

जब तुम देर से सोते और देर में उठते हो, तो तुम प्रकृति की शक्तियों से उल्टे चलते हो और यह बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है।[२५]

मध्यरात्रि के पहले का समय सोने के लिये बेहतर क्यों होता है ?

क्योंकि, प्रतीकात्मक रीति से, आधी रात के समय तक सूर्यास्त होता रहता है जब कि आधी रात के तुरंत बाद, पहले घंटे से ही सूर्योदय शुरू हो जाता है।[२६]

जो बच्चे समय पर सोना नहीं चाहते उनसे किस तरह पेश आएँ ?

उन्हें जब नींद आ रही हो तब खेलने नहीं देना चाहिये। यह ठीक–ठीक प्राण की घुसपैठ है। जो बच्चा बहुत ज्यादा बड़ों के साथ नहीं रहता (बच्चों के लिए बड़ों के बीच अधिक समय रहना बुरा होता है), अगर बच्चे को अपने–आप पर छोड़ दिया जाय तो वह, चाहे कुछ क्यों न कर रहा हो, जैसे ही नींद की जरूरत होगी सहज रूप में सो जायगा। जब बच्चों को बड़ों के साथ रहने की

---

२४ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ १६१

२५ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ १६०

२६ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ १६०

आदत हो जाती है तो वे बड़ों की सब आदतें पकड़ लेते हैं। खास तौर पर जब उनसे कहा जाता है : "नहीं, तुम यह नहीं कर सकते, क्योंकि तुम अभी बहुत छोटे हो! जब बड़े हो जाओ तब करना। तुम यह नहीं खा सकते, क्योंकि तुम छोटे हो, जब बड़े हो जाओगे तब खा सकोगे। तुम्हें इस समय सो जाना चाहिये क्योंकि तुम छोटे हो ....।" तो स्वभावतः उनकी धारणा यही बनती है कि उन्हें किसी भी कीमत पर बड़ा होना चाहिये या कम से कम बड़ा दीखना चाहिये।[२७]

सही ढंग से क्यों उठना–बैठना चाहिये ?

"बुरी तरह बैठने की अपेक्षा सीधा बैठना अधिक थकाऊ नहीं है। जब तुम सीधे रहते हो, तो शरीर सामंजस्यपूर्ण रूप से विकसित होता है। जब तुम बुरी तरह बैठते हो, तो शरीर विकृत हो जाता है और कुरूप बन जाता है।

घसीट मारने की अपेक्षा साफ–साफ लिखना ज्यादा थकाने वाला नहीं है। जब गृहकार्य साफ–साफ किया गया हो, तो वह आनंद से पढ़ा जाता है। जब वह खराब अक्षरों में लिखा जाता है, तो वह पढ़ा भी नहीं जा सकता।

जो कुछ करना हो उसे ध्यान देकर करना हर प्रकार की प्रगति का आधार है।[२८]

बच्चों को सही ढंग से उठना–बैठना सीखने में कैसे सहायता करें ?

शायद ज्यादा अच्छा होगा कि पहले स्वयं अध्यापक लिखते समय उचित ढंग से बैठना सीखें ?[२९]

क्या किसी को जीतने के लिए खेलना चाहिए ?

जब तुम्हारी चेतना तीन या चार वर्ष की हो तो प्रोत्साहन देने के लिये यह भावना एकदम आवश्यक होती है किंतु पचास वर्ष की अवस्था में भी तुम्हारी चेतना चार वर्ष की जैसी हो सकती है, है न ? ना, जब तुम्हारी चेतना परिपक्व हो जाय तब तुम्हें जीतने के लिये कतई नहीं खेलना चाहिये। तुम्हें खेलना चाहिये बस, खेलने के लिये ; खेलना सीखने के लिये, खेल में प्रगति करने के लिये और इसलिए कि तुम्हारा खेल तुम्हारी उच्चतम आंतरिक चेतना की

२७ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ १६४

२८ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ ३७१

२९ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ १८१

अभिव्यक्ति बन सके — बस, यही चीज है महत्त्वपूर्ण। उदाहरण के लिये, जो लोग अच्छा खेलना पसंद करते हैं वे अपने साथ खेलने के लिये रद्दी–रद्दी खिलाड़ियों को खोज–खोजकर नहीं चुनते ताकि उनसे जीतने का आनंद मिल सके, वे चुनते हैं उत्तम खिलाड़ियों को और उन्हीं के साथ खेलते हैं। मुझे याद है, मैंने टेनिस खेलना आठ वर्ष की आयु में सीखा था, मेरे लिये यह व्यसन जैसा हो गया था। किंतु मैं कभी अपने छोटे साथियों के साथ नहीं खेलना चाहती थी क्योंकि मैं उनसे कुछ सीख नहीं पाती थी (साधारणतया मैं उन्हें हरा दिया करती थी)। मैं हमेशा श्रेष्ठ खिलाड़ियों के पास जाया करती थी। कभी–कभी उन्हें आश्चर्य भी होता था, पर आखिर वे मेरे साथ खेल लिया करते थे — मैं खेल में कभी जीतती नहीं थी पर सीखती बहुत थी।[३०]

क्या बुरे ढंग से खेलने से ऊर्जा का ह्रास होता है ? क्या अच्छे ढंग से खेलने से ऊर्जा की वृद्धि होती है ?

'यह पूर्णतः सत्य है। पार्थिव शक्ति के साथ सम्पर्क के लिये हमें स्वयं अपने अन्दर एक विशेष प्रकार का सामंजस्य स्थापित करना चाहिये। यदि तुम खेल को अच्छी तरह जानते हो, यदि तुम खेल की चालों को चलना जानते हो और उसमें उत्साहपूर्ण दिलचस्पी लेते हो, यदि तुममें एक प्रकार की महत्त्वाकांक्षा है (बिलकुल बालोचित शायद), जीतने की इच्छा है तो जैसे–जैसे तुम सफलता प्राप्त करते जाते हो वैसे–वैसे तुम एक प्रकार का हर्ष अनुभव करते हो, वह संभवतः बहुत गहरा नहीं होता, परन्तु वह शक्ति के आदान–प्रदान के लिये आवश्यक समस्वरता उत्पन्न करता है दूसरी ओर, जो लोग नहीं जानते कि हार कैसे स्वीकार की जाती है, जो अपनी इच्छा के अनुसार सब कुछ घटित न होने पर क्रोधित और लाल–पीले हो जाते हैं, वे अपनी शक्ति अधिकाधिक खोते जाते हैं।

और फिर तुम अवसाद में गिर पड़ो तो, तुम शक्ति के प्रत्येक स्रोत को – ऊपर से, नीचे से, सर्वत्र से, – काट देते हो। यह तामससिकता में जा गिरने का सबसे उत्तम तरीका है। तुम्हें निरुत्साहित होना पूरी तरह अस्वीकार कर देना चाहिये।

---

३० मातृवाणी भाग ४ पृष्ठ ४२ (*साथ ही देखें 'स्पोर्ट्स एण्ड स्पिरिट', पृष्ठ ५८*)

अवसाद सर्वदा तीव्र अहंकार का द्योतक होता है। जब तुम उसे अपने समीप आते हुये अनुभव करो तो अपने–आपसे कहो : "मैं अहंकार की बीमारी की अवस्था में हूँ मुझे अपने को इससे मुक्त करना होगा।[३१]"

एकाग्रता की शक्ति खेल में किस प्रकार सहायक हो सकती है ?

जो लोग खेल–कूद में सफल होना चाहते हैं वे किसी एक धारा या एक विषय को चुन लेते हैं जो उन्हें पसंद आये या उनकी प्रकृति के अनुकूल हो ; वे अपनी पसंद के विषय पर पूरी तरह से एकाग्र होते हैं और इस बात का खास ख्याल रखते हैं कि अपनी शक्तियों को इधर–उधर न बिखेरें। जैसे जीवन में आदमी अपनी जीविका के लिये एक खास मार्ग चुन लेता है और अपना सारा ध्यान उसी पर लगा देता है, उसी तरह खिलाड़ी भी किसी विशेष खेल या शारीरिक क्रिया को चुन लेता है और उसमें भरसक पूर्णता लाने के लिये पूरे प्रयास को एकाग्र कर देता है। यह पूर्णता साधारणतः एक ही गति को बार–बार करते रहने से सहज प्रतिवर्ती क्रिया के रूप में आती है। परंतु, अपने हित में, इस सहज प्रतिवर्ती क्रिया का स्थान एकाग्र मनोयोग ले सकता है। एकाग्रता की यह क्षमता केवल बौद्धिक क्रियाओं में ही नहीं बल्कि सब प्रकार के क्रिया–कलाप में हो सकती है और यह शक्तियों पर सचेतन रूप से अधिकार करने से आती है।

यह जानी हुई बात है कि मनुष्य का मूल्य उसके केंद्रित मनोयोग की क्षमता के अनुपात में होता है, एकाग्रता जितनी अधिक होती है परिणाम भी उतना ही असाधारण होता है, यहां तक कि पूर्ण और अविरत एकाग्र मनोयोग अपने काम पर प्रतिभा की मुहर लगा देता है। अपनी ही अन्य गतिविधियो की तरह खेल–कूद में भी प्रतिभा हो सकती है।

तो क्या हम एकाग्रता की पूर्णता पाने के लिये अपनी क्रियाओं को एक ही क्रिया तक सीमित रखने की सलाह दे सकते हैं ?

सीमित करने के लाभ तो जाने हुए हैं, लेकिन उसकी असुविधाएं भी हैं, वे संकीर्णता लाती हैं और अपनी चुनी हुई दिशाओं को छोड़कर अन्य दिशाओं में अक्षमता लाती हैं। यह पूर्ण विकसित और सामंजस्यपूर्ण मानव के आदर्श से उलटी बात है। इन परस्पर–विरोधी वृत्तियों में कैसे मेल बैठाया जाय ?

---

३१ मातृवाणी भाग ४ पृष्ठ १० (*श्री माँ दि सोर्सेस आफ लिविंग', पृष्ठ ४३-४४*)

समस्या का एक ही समाधान मालूम होता है। जैसे कोई विधिवत् रूप से वैज्ञानिक और क्रमिक प्रशिक्षण द्वारा मांसपेशियों को विकसित करता है, उसी तरह वैज्ञानिक और विधिवत् प्रशिक्षण के द्वारा एकाग्र मनोयोग की क्षमता को भी इस तरह विकसित किया जा सकता है कि स्वेच्छा से किसी भी विषय या किसी भी क्रिया पर एकाग्र हुआ जा सके। इस तरह तैयारी का काम धीरे-धीरे, लगातार एक ही क्रिया को दोहराते हुए अवचेतना में करने की जगह, सचेतन रूप से इच्छा-शक्ति को एकाग्र करके और मनोयोग को किसी एक बिंदु पर अपनी योजना और निश्चय के अनुसार केंद्रित करके किया जाता है। सबसे बड़ी कठिनाई है भीतरी और बाहरी परिस्थितियों की परवाह न करते हुए एकाग्रता की यह क्षमता प्राप्त करना — यह शायद कठिन है पर दृढ़ निश्चय करने वाले अध्यवसायी के लिये असंभव नहीं है। और फिर, विकास का चाहे जो मार्ग अपनाया जाय, सफलता के लिये दृढ़ निश्चय और अध्यवसाय अनिवार्य है।

प्रशिक्षण का उद्देश्य है मनोयोग को केंद्रित करने की एक ऐसी क्षमता को विकसित करना जो इच्छा के अनुसार किसी भी विषय पर अत्यंत आध्यात्मिक से लेकर अत्यंत जड़-भौतिक तक अपनी शक्ति की पूर्णता में से कुछ भी खोये बिना लगा सके, उदाहरण के लिये, भौतिक क्षेत्र में, अपनी शक्ति को एक खेल से दूसरे खेल की ओर, एक क्रिया से दूसरी क्रिया की ओर समान रूप से सफलता के साथ लगा सकना।

किसी खेल या उत्तोलन, कलाबाजी, मुक्केबाजी, दौड़ आदि शारीरिक क्रियाओं में जिस एकाग्रता की जरूरत होती है, सभी शक्तियों को इनमें से किसी गति पर केंद्रित करने से शरीर में जो आनंद की लहर आती है, वही अपने साथ क्रिया की पूर्णता और सफलता लाती है। साधारणतः यह तब होता है जब खिलाड़ी किसी खेल या क्रिया में विशेष रुचि लेता है और उसकी घटना सब प्रकार के संयम, निर्णय या संकल्प को पार कर जाती है।

फिर भी एकाग्र मनोयोग के समुचित प्रशिक्षण के द्वारा व्यक्ति इच्छा, या यूं कहें, आदेश के अनुसार इस स्थिति को ला सकता है, और फलस्वरूप किसी भी क्रिया को संपादित करने की पूरी-पूरी क्षमता अनिवार्य रूप से आ जाती है।

अन्य प्रक्रियाओं की अपेक्षा इस प्रक्रिया से परिणाम ज्यादा धीमे आ सकते हैं, परंतु तेजी की यह कमी निश्चित रूप से अभिव्यक्ति की पूर्णता और प्रचुरता द्वारा पूरी हो जायेगी।[१२]

"अगर मैं तुम्हारी लिखी हुई बात को ठीक समझी हूं तो तुम यह कहना चाहते हो कि तुम जो शारीरिक क्रिया कर रहे हो उस पर एकाग्र होने से मानसिक क्रियाकलाप अपने–आप बंद हो जाते हैं और इससे शरीर की क्षमता बढ़ती है। यह सच है बशर्ते कि एकाग्रता पूर्ण हो जो विरल ही होती है।[१३]

नारियों के लिये कुछ हिदायतें

यह पूरा अनुभाग श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र (SAICE), पांडिचेरी में विद्यार्थियों के साथ काम करने वाले एक शारीरिक प्रशिक्षक कप्तान द्वारा श्रीमाँ से पूछे गए प्रश्नों के उत्तर में से लिया गया है, श्रीमाँ के यहाँ दिये गए उत्तरों के विषय में श्रीमाँ सावधानी का एक शब्द कहती हैं –– जो यह पढ़ते समय ध्यान में रखना चाहिये :

"मैंने यह बातें तुम्हें इसलिये कही क्योंकि तुम इन्हें सुनना चाहती थीं, किन्तु इनको एक परम सिद्धांत मत बना देना, ऐसा करने से इनका सत्य निकल जाएगा।"

इस भाग में दिये गये सभी अनुच्छेद एक ही स्थान से लिये गए हैं। विस्तृत जानकारी के लिये मूल पाठ, शीर्षक 'नारियों से उनके शरीर के विषय में' पढ़ें।[१४]

माहवारी के प्रति एक कन्या का क्या भाव होना चाहिये ?

वही मनोभाव होना चाहिये जो तुम किसी एकदम स्वाभाविक और अपरिहार्य वस्तु के प्रति रखते हो। इसे यथासंभव कम–से–कम महत्त्व दो और इसके कारण कोई परिवर्तन किये बिना, अपने सामान्य जीवन को नियमित रूप से चलाती रहो।

---

१२ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ २६०-६१

१३ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ २८६

१४ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ २९२-९६

क्या एक लड़की को माहवारी के समय शारीरिक प्रशिक्षण करते रहना चाहिये ?

"यदि शारीरिक व्यायाम करने का उसे अभ्यास हो तो निश्चय ही इस कारण उसे बंद नहीं करना चाहिये। यदि कोई अपना सामान्य जीवन बिताने का अभ्यास सर्वदा बनाये रखे तो बहुत शीघ्र उसे ऐसी आदत पड़ जायगी कि उसे पता भी नहीं चलेगा कि उसे मासिक हो रहा है।"

"यह एक सीधी-सी स्वाभाविक क्रिया है, जिस पद्धति से नारी का निर्माण हुआ है, उसी का एक परिणाम है और शरीर की अन्य क्रियाओं की अपेक्षा इसे अधिक महत्त्व देने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह कोई रोग नहीं है और किसी दुर्बलता या सच्ची असुविधा का कारण नहीं बन सकती। अतएव एक स्वाभाविक स्थिति में रहने वाली स्त्री को, ऐसी स्त्री को जो अनावश्यक ढंग से नर्म तबियत की न हो, उसे केवल स्वच्छता-संबंधी आवश्यक सावधानी बरतनी चाहिये, इसके विषय में कभी ज़रा भी सोचना नहीं चाहिये और अपने कार्यक्रम में कोई परिवर्तन न कर, नित्य की तरह अपना दैनिक जीवन बिताना चाहिये। यही अच्छा स्वास्थ्य बनाये रखने का सबसे उत्तम उपाय है।"

कुछ लड़कियों को माहवारी के समय दर्द या कमजोरी का अनुभव क्यों होता है ?

"यह प्रश्न व्यक्ति के स्वभाव तथा अधिकांशतः शिक्षा का है। यदि किसी लड़की को अपने बचपन से ही यह अभ्यास हो गया हो कि वह बिलकुल मामूली तकलीफ की ओर भी बहुत अधिक ध्यान देती हो और अत्यंत तुच्छ असुविधा के लिये भी बहुत अधिक हाय-तौबा मचाती हो तो वह सहन करने की सारी क्षमता खो बैठेगी और कोई भी चीज उसके दुर्बल होने का कारण बन जायगी। विशेषकर यदि माँ-बाप अपने बच्चों की प्रतिक्रियाओं के विषय में बहुत शीघ्र चिंतित हो उठें तब तो उसका असर और भी बुरा होगा। अधिक बुद्धिमानी की बात यही है कि बच्चों को थोड़ा बलशाली और सहनशील होने की शिक्षा दी जाय और उन सब छोटी-मोटी असुविधाओं और दुर्घटनाओं के प्रति कम-से-कम दुश्चिंता करना सिखाया जाय जिनसे जीवन में सर्वदा बचा नहीं जा सकता।

शांत सहिष्णुता का भाव ही सबसे उत्तम मनोभाव है जिसे मनुष्य स्वयं अपने लिये धारण कर सकता है और अपने बच्चों को भी सिखा सकता है।

यह बिलकुल जानी हुई बात है कि यदि तुम किसी कष्ट की आशा करो तो वह अवश्य तुम्हें प्राप्त होगा और एक बार यदि वह आ जाय, यदि तुम उस पर अधिक ध्यान दो तो वह अधिकाधिक बढ़ता जाएगा और जब तक कि वह, जैसा कि साधारणतया उसे नाम दिया जाता है, "असह्य" ही न हो उठे, यद्यपि थोड़ी–सी संकल्प–शक्ति और साहस का प्रयोग करने पर ऐसा कोई दुःख–दर्द नहीं जिसे सहा न जा सके।"

माहवारी के समय होने वाले दर्द पर लड़कियां कैसे काबू पाएँ ?

"कुछ व्यायाम ऐसे हैं जो पेट को मजबूत बनाते तथा रक्त–प्रवाह को बढ़ाते हैं। इन व्यायामों को नियमित रूप से करते रहना चाहिये और दर्द के दूर हो जाने पर भी उन्हें जारी रखना चाहिये। बड़ी उम्र की लड़कियों को, इस प्रकार का दर्द प्रायः पूर्ण रूप से काम–वासना के कारण होता है। यदि हम वासनाओं से मुक्त हो जायँ तो हम दर्द से भी मुक्त हो जाते हैं। वासनाओं से मुक्त होने के दो उपाय हैं ; पहला है प्रचलित उपाय, वासना की तृप्ति (अथवा यों कहें कि इसे यह नाम दिया जाता है, क्योंकि वासना राज्य में "तृप्ति" नाम की कोई चीज है ही नहीं)। इसका अर्थ है साधारण मानव–पशु का जीवन बिताना, विवाह, संतान और बाकी सभी चीजें।

निश्चय ही, एक दूसरा पथ भी है, उससे कहीं अधिक अच्छा पथ है,–वह है संयम, प्रभुत्व, रूपांतर का पथ ; यह कहीं अधिक महान् और अधिक प्रभावशाली है।"

क्या पुरुषों और महिलाओं के लिये भिन्न–भिन्न व्यायाम होने चाहिये?

"सभी प्रसंगों में, जैसे लड़कों के लिये, वैसे ही लड़कियों के लिये, व्यायामों को प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति और क्षमता के अनुसार क्रमबद्ध कर देना चाहिये। यदि कोई दुर्बल छात्र एकाएक कठिन और भारी व्यायाम करने की कोशिश करे तो वह अपनी मूर्खता के कारण दुःख भोग सकता है। परंतु यदि बुद्धिमानी के साथ और धीरे–धीरे शिक्षा दी जाय तो लड़कियां और लड़के, दोनों

ही सब प्रकार के खेलों में भाग ले सकते हैं और इस प्रकार अपनी शक्ति और स्वास्थ्य को बढ़ा सकते हैं।

बलवान और स्वस्थ बनने से शरीर को कभी कोई हानि नहीं पहुंच सकती, भले ही वह शरीर स्त्री का ही क्यों न हो!"

क्या अधिक व्यायाम लड़कियों को मर्दाना बना देंगे ?

"दुर्बलता और क्षीणता भले ही किसी विकृत मन की दृष्टि में आकर्षक प्रतीत हों, पर यह प्रकृति का सत्य नहीं है और न आत्मा का ही सत्य है।

यदि तुमने कभी व्यायाम करने वाली स्त्रियों के चित्रों को देखा हो तो तुम्हें पता चलेगा कि उनका शरीर कितना पूर्ण सुन्दर होता है ; और कोई भी व्यक्ति यह अस्वीकार नहीं कर सकता कि उनका शरीर मांसल होता है।"

क्या अधिक व्यायाम लड़कियों के लिये बाद में गर्भाधान में कठिनाई पैदा करेगा ?

"मैंने ऐसा कोई उदाहरण कभी नहीं देखा। बल्कि इसके विपरीत, जो स्त्रियां कठिन व्यायाम करने की शिक्षा प्राप्त करती हैं और सुदृढ़ मांसल शरीरवाली होती हैं वे बच्चा धारण करने और पैदा करने की कठिन परीक्षा में कहीं अधिक आसानी और कम दर्द के साथ उत्तीर्ण होती हैं।

मैंने अफ्रीका की उन स्त्रियों की एक विश्वसनीय कहानी सुनी है जो भारी बोझ लेकर मीलों यात्रा करने की आदी होती हैं। एक स्त्री गर्भवती थी और एक दिन यात्रा करते समय ही उसके बच्चा जनने का समय हो गया। वह रास्ते में एक किनारे, एक पेड़ के नीचे बैठ गयी, उसका बच्चा भूमिष्ठ हुआ, आधा घंटा उसने विश्राम किया, फिर वह उठ खड़ी हुई और अपने पुराने बोझ के साथ–साथ बच्चे को भी लेकर चुपचाप अपने रास्ते पर चल पड़ी मानों उसे कुछ भी न हुआ हो। यह इस बात का अत्यंत उज्ज्वल उदाहरण है कि स्वास्थ्य और शक्ति पर पूर्ण अधिकार रखने वाली एक नारी क्या कर सकती है।

डॉक्टर कहेंगे कि मनुष्य जाति ने आज जितनी भी प्रगति की है उस सबके होते हुए भी किसी सभ्य समाज में इस तरह की बात कभी घटित नहीं हो सकती;

परंतु हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि, शरीर की दृष्टि से देखा जाय तो, आधुनिक सभ्यताओं ने जो संवेदनशीलता, दुख-कष्ट और जटिलता उत्पन्न की है उसके मुकाबले यह कहीं सुखदायी स्थिति है।

इसके अलावा, साधारणतया डॉक्टर लोग अस्वाभाविक प्रसंगों में ही अधिक दिलचस्पी लेते हैं और वे अधिकांशतः उसी दृष्टिकोण से विचार करते हैं। परंतु हमारे लिये बात इससे भिन्न है ; हम स्वाभाविक से अति-स्वाभाविक की ओर जा सकते हैं, न कि अस्वाभाविक की ओर जो कि सर्वदा ही पथभ्रष्टता और निष्कृष्टता का चिह्न होता है।"

लड़कियों के लिये शारीरिक प्रशिक्षण का क्या आदर्श होना चाहिये ?

"मेरी समझ में नहीं आता कि लड़कों से भिन्न लड़कियों के लिये शारीरिक शिक्षण का कोई विशेष आदर्श क्यों होना चाहिये।

शारीरिक शिक्षण का उद्देश्य मानव शरीर की सभी संभावनाओं को विकसित करना, जैसे, सुसामंजस्य, शक्ति, नमनीयता, चतुरता, फुर्तीलापन, सहनशीलता आदि की संभावनाओं को प्रस्फुटित करना, अपने अंगों और इंद्रियों की क्रियाओं पर अपना अधिकार बढ़ाना, एक सज्ञान संकल्प-शक्ति के व्यवहार के लिये शरीर को एक सर्वांगपूर्ण यंत्र बनाना। यह कार्यक्रम सभी मानव प्राणियों के लिये एक समान उत्तम है, और ऐसा कोई कारण नहीं कि लड़कियों के लिये कोई दूसरा कार्यक्रम स्वीकार करने की कामना की जाय।"

एक नारी के शारीरिक सौन्दर्य का क्या आदर्श होना चाहिये ?

"अंगों के परिमाण में पूर्ण सामंजस्य, कोमलता और बल-सामर्थ्य, कमनीयता और क्षमता, नमनीयता और दृढ़ता, तथा सबसे बढ़कर, अति उत्तम, एक रूप और अपरिवर्तनशील स्वास्थ्य जो एक शुद्ध चरित्र आत्मा बनने का, जीवन में समुचित विश्वास तथा 'भागवत कृपा' में अटल श्रद्धा-विश्वास रखने का परिणाम होता है।"

एक सुन्दर, स्वस्थ एवं ऋजु शरीर का विकास

सहज सुन्दर कैसे बनें ?

"सच्चाई के साथ शारीरिक व्यायाम करो और तुम सफल हो जाओगे।"[३५]

एक अच्छा धावक कैसे बनें ?

"पहला होने की महत्त्वाकांक्षा के स्थान पर यथासंभव अच्छे–से अच्छा करने का संकल्प करो।

सफलता की कामना के स्थान पर प्रगति के लिये उत्कंठा रखो।

ख्याति के लिये उत्सुकता के स्थान पर पूर्णता के लिये अभीप्सा करो।

शारीरिक शिक्षण उच्चतर और अधिक अच्छे जीवन के लिये आवश्यक सभी चीजें —चेतना और संयम, अनुशासन और प्रभुत्व, आदि, लाने के लिये है।

ये सब बातें मन में रखो, सच्चाई के साथ अभ्यास करो और तुम अच्छे ऐथलीट बन जाओगे ; सच्चे मनुष्य होने के रास्ते पर यह पहला कदम है।"[३६]

एक सशक्त शरीर का कैसे विकास करें ?

"शक्ति पाने के लिये पहली शर्त है आज्ञाकारिता।

शक्ति अभिव्यक्त करने से पहले शरीर को आज्ञा मानना सीखना चाहिये; और शारीरिक प्रशिक्षण शरीर के लिये सबसे बढ़िया अनुशासन है।

अतः शारीरिक प्रशिक्षण के लिये उत्सुक और सच्चे होओ और तुम शक्तिशाली शरीर पा लोगे।"[३७]

कौनसे व्यायाम स्वस्थ बनाते हैं ?

"अपनी आवश्यकताओं और क्षमताओं के अनुकूल कोई भी युक्तियुक्त व्यायाम–पद्धति व्यायाम करने वाले को अपना स्वास्थ्य सुधारने में सहायता देगी। और फिर मनोवृत्ति का महत्त्व ज्यादा है।"[३८]

---

३५ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ २८७

३६ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ २७५–७६

३७ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ २८०

३८ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ २८७

काम में आराम कैसे पाया जा सकता है ?

"यह आंतरिक चुनाव की एक प्रकार की निश्चिति से आता है। जब व्यक्ति किसी वस्तु के लिये अभीप्सा करता है और साथ ही यदि यह जानता है कि उसकी अभीप्सा की सुनायी होगी और यथासंभव श्रेष्ठ प्रकार से उत्तर भी मिलेगा तो वह सत्ता में एक अचंचलता स्थापित कर देता है, उसके स्पंदनों में अचंचलता लाता है। जब कि यदि कोई संदेह हो, एक अनिश्चिति, यदि उसे यह न मालूम हो कि कौनसी चीज लक्ष्य तक ले जायगी, या वह कभी वहां तक पहुंचेगा भी, या, उसे करने का कोई रास्ता है भी इत्यादि, तो व्यक्ति क्षुब्ध हो जाता है और साधारणतः यह चीज सत्ता के चारों ओर एक प्रकार का छोटा सा बवंडर पैदा कर देती है जो उसे सच्ची वस्तु के ग्रहण करने से रोकता है। उसकी जगह, अगर व्यक्ति में प्रशांत निष्ठा है, अगर अभीप्सा करते वक्त उसे मालूम है कि ऐसी कोई अभीप्सा नहीं (स्वभावतः, सच्ची अभीप्सा) जिसका उत्तर नहीं मिलता, तो वह अचंचल रहता है। व्यक्ति भरसक उत्साह के साथ अभीप्सा करता है, घबराहट में अपने–आपसे यह पूछने नहीं बैठता कि उसने जो चीज मांगी है वह तुरंत क्यों नहीं मिल रही। व्यक्ति प्रतीक्षा करना जानता है। मैंने कहीं कहा है: "प्रतीक्षा करना जानने का अर्थ है समय को अपने पक्ष में रखना।" यह बात बिलकुल सच्ची है। क्योंकि अगर व्यक्ति उत्तेजित हो जाय तो वह अपना सारा समय बरबाद कर देता है। वह अपना समय खोता है, अपनी शक्ति खोता है, अपनी गतिविधियाँ खो बैठता है। बहुत अचंचल, स्थिर, शांत रहने से, इस श्रद्धा के साथ कि जो सत्य है वह अवश्य होगा, यदि उसे होने दिया जाय तो वह बहुत ज्यादा जल्दी होगा। तब, उस शांति में हर चीज ज्यादा अच्छी तरह होती है।"[३९]

शरीर में उच्चतर चेतना का विकास किस तरह किया जा सकता है ?

"अब जैसा कि तुम्हें पता है, भौतिक दृष्टिकोण से मनुष्य एक बड़े भयंकर अज्ञान की अवस्था में निवास करते हैं। वे ठीक–ठीक यह भी नहीं बता सकते ....। उदाहरणार्थ , क्या तुम मुझे यह ठीक–ठीक बता सकते हो कि प्रत्येक भोजन के समय तुम्हारे शरीर को कितने और किस प्रकार के खाने की आवश्यकता है ? — केवल इतना ही, इससे अधिक नहीं : कितना खाना चाहिए और कब खाना चाहिये ....। तुम्हें इसका कुछ पता नहीं, एक

३९ मातृवाणी भाग ५ पृष्ठ १९६-९७ (साथ श्री एजुकेशन भाग 1 पृष्ठ ९६-९७)

स्पष्ट सा विचार, एक कल्पना या भावना या अनुमान अथवा .. बस, यही सब वस्तुएँ जिनका सच्चे ज्ञान से कोई संबंध नहीं। किंतु यदि वह यथार्थ ज्ञान हो : "मुझे यह खाना चाहिये, इतना खाना चाहिये" –– और तब बात समाप्त हो जाती है। "मेरे शरीर को इसी वस्तु की आवश्यकता है।" हां, तो ऐसा किया जा सकता है। एक समय आता है जब व्यक्ति यह सब जान जाता है। पर इसके लिये बरसों परिश्रम करना पड़ता है, और सबसे बढ़कर, यह परिश्रम भी बहुत हद तक बिना मानसिक नियंत्रण के, केवल इस चेतना के साथ करना पड़ता है जो अति सूक्ष्म होने के कारण रूपांतर और विकास के तत्त्वों के साथ तुम्हारा साथ जोड़ देती है। और व्यक्ति को यह भी जानना चाहिये कि वह कितना शारीरिक श्रम अथवा कार्य करे, कितनी शक्ति खर्च करे, कितनी खोई शक्ति को पुनः प्राप्त करे, जितना ग्रहण किया है और जितना दिया है उसमें अनुपात रखे, जो संतुलन बिगड़ गया है उसे पुनः स्थापित करने के लिये शक्तियों का प्रयोग किस प्रकार करे, जो कोषाणु उन्नति के मार्ग में पीछे रह गये हैं उन्हें कैसे आगे बढ़ाये, उच्चतर विकास की संभावना के लिये उचित अवस्थाओं को कैसे पैदा करे, आदि ......यह बड़ा भारी कार्य है। पर फिर भी, इसे करना ही है, क्योंकि केवल तभी व्यक्ति शरीर के रूपांतर की आशा कर सकता है। सबसे पहले इसे आंतरिक चेतना के साथ पूरी तरह समस्वरित कर देना चाहिये और इसके लिये, प्रत्येक कोषाणु में, दूसरे शब्दों में, प्रत्येक छोटी–से–छोटी क्रिया में, अंगों की प्रत्येक चेष्टा में कार्य करना होगा। दिन–रात व्यक्ति को और कुछ भी न करके इसी में व्यस्त रहना होगा........। पर व्यक्ति हर समय इस प्रयत्न में नहीं लगा रहता, सबसे बड़ी बात यह है कि न उसमें वह एकाग्रता रहती है और न ही वह आंतरिक दृष्टि।

मैंने तुम्हारे आगे एक बड़ा स्थूल सा प्रश्न रखा है : तुम्हें यह बड़ा आश्चर्यजनक सा लगता है कि व्यक्ति यह जान भी सकता है कि उसे ठीक परिमाण में कितना खाना चाहिये, किस समय क्या खाना चाहिये, और कब अगले के लिये तैयार है ! हां, यह तो समस्या का एक बिलकुल ही सतही हिस्सा है, तो भी यदि तुम कोषाणुओं के संयोजन और आंतरिक व्यवस्था में प्रवेश करते हो

ताकि यह सब नीचे उतरती 'शक्ति' को प्रत्युत्तर देने के लिये तैयार हो सके, तो ...। पर पहली बात, क्या तुम अपने शारीरिक कोषाणुओं तथा उनके विभिन्न गुणों और क्रियाओं के प्रति सचेतन हो कि उनमें कितनी ग्रहणशीलता है, उनमें कौन–से स्वस्थ हैं और कौनसे नहीं ? जब तुम थक जाते हो, तो क्या निश्चयपूर्वक बता सकते हो कि तुम थके क्यों हो ? जब तुम्हारे शरीर में कही भी कष्ट हो, तो क्या तुम बता सकते हो : "मेरे कष्ट का यह कारण है" ? .... लोग डाक्टर के पास क्यों दौड़ते है ? क्योंकि वे इस भ्रांति में होते हैं कि डाक्टर उनके अंदर झांककर यह देखने का कार्य कि वहां क्या हो रहा है, उनकी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह कर सकता है — यह बात बहुत तर्कसंगत नहीं है, किंतु फिर भी यही आदत है ! कौन व्यक्ति अपने अंदर ठीक और निश्चयात्मक ढंग से झांककर देख सकता है और ठीक–ठीक जान सकता है कि वहां क्या गड़बड़ी है, यह क्षुब्धता क्यों और कैसे उत्पन्न हुई है ? और यह सब कार्य बस, निरीक्षण से हो सकता है ; इसके बाद व्यक्ति को वहां पुनः व्यवस्था स्थापित करने के लिये जो कुछ आवश्यक है वह करना चाहिये, और यह करना और भी अधिक कठिन है।[५०]

हां, तो शरीर के रूपांतर का क ख ग यही है"।[५०]

---

५० मातृवाणी भाग ६ पृष्ठ ३६, ३७, ३८ (और सत्य श्री: संक्षिप्त विवरण, पृष्ठ ७५-७६)

अध्याय–४

प्राण की शिक्षा

सब प्रकार की शिक्षाओं में संभवतः प्राण की शिक्षा सबसे अधिक आवश्यक है। फिर भी इसका ज्ञानपूर्वक तथा विधिवत आरंभ और अनुसरण बहुत कम लोग करते हैं। इसके कई कारण हैं : सबसे पहले, इस विशेष विषय का जिन बातों से संबंध है उनके स्वरूप के विषय में मानव बुद्धि को कोई सुस्पष्ट धारणा नहीं है ; दूसरे, कार्य बड़ा ही कठिन है और इसमें सफलता प्राप्त करने के लिये हमारे अंदर सहनशीलता, अनंत अध्यवसाय और सुदृढ़ संकल्प होने आवश्यक हैं।

निःसंदेह, मनुष्य की प्रकृति में प्राण एक स्वेच्छाचारी और जोर–जबर्दस्ती करने वाला अत्याचारी है और, क्योंकि इसमें बल–वीर्य, शक्ति–सामर्थ्य, उत्साह और अमोघ क्रियाशीलता निहित है, बहुत लोग इसके प्रति भय मिश्रित सम्मान का भाव रखते हैं और इसे सदा प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं। परंतु यह एक ऐसा मालिक है जो किसी चीज से संतुष्ट नहीं होता, इसकी मांगों की कोई सीमा नहीं। दो भावनाएं जो बहुत प्रचलित हैं, विशेषकर पश्चिम में, इसके प्रभुत्व को और भी अधिक सुदृढ़ बनाने में सहायता कर रही हैं : एक – जीवन का लक्ष्य सुखी होना है ; दो– तुम एक विशिष्ट स्वभाव लेकर उत्पन्न हुए हो और उसे बदलना असंभव है।

पहली भावना एक बहुत गंभीर सत्य की वीभत्स विकृति है : वह सत्य यह है कि जो कुछ भी है वह सत्ता के आनंद पर आधारित है और सत्ता के आनंद के बिना जीवन का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। परंतु सत्ता का यह जो आनंद है भगवान का एक गुण है और इसलिये किसी भी शर्त से बँधा नहीं है, उसे जीवन में सुख की खोज के साथ मिला-जुला नहीं देना चाहिये, क्योंकि यह तो अधिकांश में, परिस्थितियों पर निर्भर करता है। जो दृढ़ विचार हमें यह विश्वास प्रदान करता है कि हमें सुखी होने का अधिकार है, वह स्वभावतः ही हमें अपना जीवन हर अवस्था में अपनी इच्छा के अनुसार बिताने की ओर ले जाता है। यह मनोभाव अपने अंधकारपूर्ण और आक्रमणकारी अहंभाव के कारण सब प्रकार का विरोध और दुःख-कष्ट, धोखा और अनुत्साह तथा अंत में प्रायः भयंकर हानि पैदा करता है।

वास्तव में, जगत् जैसा है, इसमें जीवन का लक्ष्य व्यक्तिगत सुख प्राप्त करना नहीं, बल्कि व्यक्ति को उत्तरोत्तर सत्य-चैतन्य के प्रति जाग्रत् करना है।

दूसरी भावना इस बात से उत्पन्न होती है कि स्वभाव में कोई मूलभूत परिवर्तन ले आने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य अपनी अवचेतना के ऊपर लगभग पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करे, और साथ ही निश्चेतना से जो कुछ भी उठता है – जो, सामान्य प्रकृतियों में, वंशानुक्रम के या जिस पारिपार्श्विक अवस्था में मनुष्य जन्मा होता है उसके परिणामों का प्रकाश होता है – उसे बड़ी कठोरता पूर्वक संयमित करे। पर वह भगीरथ कार्य केवल चेतना की प्रायः असामान्य वृद्धि तथा भगवत्कृपा की निरंतर सहायता के द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, इस कार्य का प्रयास बहुत कम ही किया गया है, बहुत-से विख्यात गुरुओं ने इसे असाध्य और आकाश-कुसुम ही घोषित किया है। फिर भी यह असाध्य नहीं है। सच पूछा जाय तो स्वभाव का रूपांतर सिद्ध किया जा चुका है एक स्पष्टदर्शी साधना और अध्यवसाय के द्वारा जो इतना दृढ़ होता है कि कोई भी चीज, यहां तक कि अत्यंत स्थायी असफलताएं भी उसे निरुत्साहित नहीं कर सकतीं।

इसके लिए अत्यंत आवश्यक प्रारंभ यह है कि मनुष्य उस स्वभाव का पूरे ब्योरे के साथ और पूर्ण रूप से निरीक्षण करे जिसे रूपांतरित करना है। अनेक

मनुष्यों के लिये, स्वयं यह कार्य भी बड़ा कठिन और प्रायः चकरा देने वाला होता है। परंतु एक बात है जिसे प्राचीन परंपराएं जानती थीं और जो अंतर अन्वेषण की भूल-भुलैया के अंदर पथ-प्रदर्शक सूत्र का कार्य कर सकती हैं। वह यह कि प्रत्येक मनुष्य के अंदर काफी मात्रा में, और विशिष्ट व्यक्ति में कहीं अधिक सुनिश्चितता के साथ, स्वभाव की दो विरोधी प्रवृत्तियां होती हैं, जो प्रायः समान अनुपात में और एक ही चीज की प्रकाशित आकृति और छाया के समान होती हैं। इसी कारण जो मनुष्य असाधारण रूप में उदार होने की क्षमता रखता है वही अकस्मात् देखता है कि उसकी प्रकृति में एक तरह की कठोर कंजूसी घुस आयी है, साहसी मनुष्य कहीं पर डरपोक बन जाता है और भला मनुष्य सहसा बुरी प्रवृतियां ग्रहण कर लेता है। मालूम होता है कि जीवन प्रत्येक व्यक्ति को एक आदर्श की अभिव्यक्ति की संभावना के साथ-साथ उसके विरोधी तत्त्व प्रदान करता है। ये तत्त्व उसे ठोस रूप में दिखा देते हैं कि सिद्धि को सुलभ बनाने के लिये वह कौन-सा युद्ध है जो उसे लड़ना है और वह कौन-सी विजय है जो उसे प्राप्त करनी है। इस तरह देखने से, समूचा जीवन ही एक शिक्षा-क्रम है जो कम या अधिक सचेतन रूप में, कम या अधिक स्वेच्छापूर्वक चलता रहता है। कुछ व्यक्तियों में यह शिक्षा प्रकाश को प्रकट करनेवाली क्रियाओं को सहायता पहुंचाती है, दूसरों में, इसके विपरीत, छाया को प्रकट करनेवाली क्रियाओं को। अगर परिस्थितियां और पारिपार्श्विक अवस्था अनुकूल हो तो छाया को हानि पहुँचाकर प्रकाश बढ़ता है, अन्यथा इसके विपरीत होता है। यदि एक उच्चतर तत्त्व का, एक सज्ञान संकल्प-शक्ति का ज्योतिर्मय हस्तक्षेप न हो जो प्रकृति को अपनी मनमौजी प्रक्रिया का अनुसरण न करने दे, बल्कि उसके स्थान में एक युक्तिसंगत और स्पष्टदर्शी साधना को ला बिठाए तो व्यक्ति का स्वभाव प्रकृति की मनमौज के अनुसार और भौतिक तथा प्राणिक जीवन के कठोर नियमों के अधीन गठित होता है। जब हम शिक्षा की युक्तिपूर्ण पद्धति की बात कहते हैं तब हमारा मतलब इस सज्ञान संकल्प-शक्ति से ही होता है।

इसी कारण, यह अत्यंत आवश्यक है कि बच्चे की प्राण की शिक्षा यथासंभव शीघ्र से शीघ्र, निःसंदेह, ज्यों ही वह अपनी इंद्रियों का व्यवहार करने के योग्य हो जाय त्यों ही, आरंभ हो जानी चाहिये। इस तरह वह बहुत-सी बुरी आदतों से बच जायगा और हानिकारक प्रभावों को दूर कर सकेगा।

प्राण की शिक्षा के दो प्रधान रूप हैं। वे दोनों ही लक्ष्य और पद्धति की दृष्टि से एक–दूसरे से बहुत भिन्न हैं, पर हैं दोनों ही एक समान महत्त्वपूर्ण। पहला इंद्रियों के विकास और उनके उपयोग से संबंध रखता है और दूसरा है अपने चरित्र के विषय में सचेतन होना और धीरे–धीरे उस पर प्रभुत्व स्थापित कर अंत में उसका रूपांतर साधित करना।

फिर इंद्रियों की शिक्षा के भी कई रूप हैं, जैसे–जैसे सत्ता वर्द्धित होती है वैसे–वैसे ये रूप एक–दूसरे के साथ जुड़ते चले जाते हैं ; निश्चय ही, यह शिक्षा बंद कभी नहीं होनी चाहिये। इंद्रियों को इस प्रकार सुशिक्षित किया जा सकता है कि वे अपनी क्रिया में, साधारणतया उनसे जैसी आशा की जाती है उससे बहुत अधिक निर्दोषता और शक्ति प्राप्त कर सकें।

किसी प्राचीन गुह्य ज्ञान ने घोषणा की थी कि मनुष्य जिन इंद्रियों को विकसित कर सकता है उनकी संख्या पांच नहीं, बल्कि सात है और कुछ शेष क्षेत्रों में बारह तक है। विभिन्न जातियों ने विभिन्न युगों में इन अतिरिक्त इंद्रियों में से किसी को कम या अधिक पूर्णता के साथ आवश्यकतावश विकसित किया था। अगर एक समुचित साधना का लगातार अनुसरण किया जाय तो जो लोग सच्चे दिल से इनके विकास तथा उसके परिणामों में रुचि रखते हैं वे सभी इन्हें प्राप्त कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, जिन अनेक शक्तियों की लोग प्रायः ही चर्चा किया करते हैं, उनमें से एक है – अपनी शरीर–चेतना को विस्तारित कर देना, अपने से बाहर इस प्रकार फैला देना कि उसे किसी एक निश्चित बिंदु पर एकाग्र किया जा सके और इस तरह दूर की चीजों को देखा, सुना, सूंघा, चखा और यहां तक कि छुआ जा सके।

इंद्रियों और उनके व्यापार की सामान्य शिक्षा के साथ ही यथाशीघ्र विवेक और सौन्दर्य–बोध के विकास की शिक्षा भी देनी होगी। अर्थात्, जो कुछ सुन्दर और सामंजस्यपूर्ण है, सरल, स्वस्थ और शुद्ध है, उसे चुन लेने और ग्रहण करने की क्षमता–क्योंकि शारीरिक स्वास्थ्य के समान ही मानसिक स्वास्थ्य भी होता है, जिस तरह शरीर और उसकी गतियों का एक सौन्दर्य है उसी तरह इंद्रियानुभवों का भी एक सौंदर्य और सामंजस्य है। जैसे–जैसे बच्चे की सामर्थ्य और समझ बढ़े वैसे–वैसे उसे अध्ययनकाल में ही यह सिखाना चाहिये कि वह शक्ति और

यर्थाथता के साथ–साथ सौंदर्य विषयक सुरुचि और सूक्ष्म वृत्ति का भी विकास करे। उसे सुन्दर, उच्च, स्वस्थ और महत् चीजें, चाहे वे प्रकृति में हों या मानव सृष्टि में, दिखानी होंगी, उन्हें पसंद करना और उनसे प्रेम करना सिखाना होगा। वह एक सच्चा सौंदर्यानुशीलन होना चाहिये और वह पतनकारी प्रभावों से उसकी रक्षा करेगा। मालूम होता है कि गत महायुद्धों के तुरंत बाद और उन द्वारा उद्दीपित भयानक स्नायविक उत्तेजना के फलस्वरूप, मानों मानव सभ्यता के पतन और समाज–व्यवस्था के भंग होने के चिह्न के रूप में, एक प्रकार की बढ़ती हुई नीचता ने मनुष्य–जीवन को, व्यक्तिगत रूप से और सामूहिक रूप से भी, अधिकृत कर लिया है, विशेषकर सौंदर्य–लक्षी जीवन और इंद्रियों के जीवन के स्तर में। अगर इंद्रियों का विधिवत तथा ज्ञानपूर्वक संस्कार किया जाय तो बच्चे में संसर्ग–दोष के कारण जो निकृष्ट, सामान्य और असंस्कृत चीजें आ गयी हैं वे धीरे–धीरे दूर की जा सकती हैं, और साथ ही, यह संस्कार उसके चरित्र पर भी सुखद प्रतिक्रियाएं उत्पन्न करेगा। क्योंकि जिस व्यक्ति ने सचमुच एक समुन्नत रुचि विकसित की है वह, स्वयं उस सुरुचि के कारण ही, भद्दे, बर्बर या हीन ढंग से कार्य करने में अपने को असमर्थ अनुभव करेगा। यह सुरुचि, अगर यह सच्ची हो तो, व्यक्ति के अन्दर एक प्रकार की महानता और उदारता ले आयगी जो उसके कार्य करने की पद्धति में सहज–स्वाभाविक ढंग से प्रकट होगी और उसे बहुत–सी नीच और उल्टी क्रियाओं से अलग रखेगी।

इससे स्वभावतः ही हम प्राणः की शिक्षा के दूसरे पहलू पर पहुंच गये हैं, उस पहलू पर जिसका संबंध चरित्र और उसके रूपांतर से है।

साधारणतया, साधना की जो विधियां प्राण, उसकी शुद्धि और उस पर प्रभुत्व–प्राप्ति से संबंध रखती हैं, वे दमन, संयम, त्याग और संन्यास के द्वारा अग्रसर होती हैं। यह प्रक्रिया निश्चय ही अधिक आसान और शीघ्र फल देने वाली है, यद्यपि, गंभीरतर दृष्टि से देखने पर, सच्ची और सांगोपांग शिक्षा की अपेक्षा, कम टिकाऊ और कार्यकारी है। इसके अतिरिक्त, यह प्राण के हस्तक्षेप, सहायता और सहयोग की समस्त संभावना को ही बहिष्कृत कर देती है। परंतु, यदि कोई व्यक्ति का और उसके कार्य का सर्वांगीण विकास करना चाहता हो तो प्राण की यह सहायता प्राप्त करनी अत्यंत आवश्यक है।

अपने अंदर की बहुत–सी क्रियाओं के विषय में सचेतन होना, यह देखना कि हम क्या करते हैं और क्यों करते हैं, अत्यंत आवश्यक आरंभ है। बच्चे को सिखाना चाहिये कि वह आत्म–निरीक्षण करे, अपनी प्रतिक्रियाओं तथा आवेगों और उनके कारणों को समझे, अपनी वासनाओं का, उग्रता और उत्तेजना की अपनी क्रियाओं का, अधिकार जमाने, अपने उपयोग में लाने और शासन करने की सहज प्रेरणा का तथा मिथ्याभिमान–रूपी आधार–भूमिका — जिस पर ये चेष्टाएं अपनी परिपूरक दुर्बलता, अनुत्साह, अवसाद और निराशा के साथ स्थित होती हैं — स्पष्टदर्शी साक्षी बने।

स्पष्ट ही प्रक्रिया तभी लाभदायक होगी जब निरीक्षण करने की शक्ति बढ़ने के साथ–साथ प्रगति करने और पूर्णता पाने का संकल्प भी बढ़ता जाय। ज्यों ही बच्चा इस संकल्प को धारण करने की योग्यता प्राप्त कर ले त्यों ही, अर्थात्, साधारण विश्वास के विपरीत, बहुत कम उम्र में ही यह उसके अंदर भर देना चाहिये।

प्रभुत्व और विजय–प्राप्ति के इस संकल्प को जाग्रत् करने की विधियां विभिन्न व्यक्तियों के लिये विभिन्न प्रकार की होती हैं। कुछ व्यक्तियों के लिये युक्तिपूर्ण तर्क सफल होता है, दूसरों के लिये भावुकता और शुभ कामना को व्यवहार में लाना पड़ता है, फिर अन्य के लिये मर्यादा और आत्म–सम्मान का भाव ही पर्याप्त होता है। परंतु सभी लोगों के लिये अत्यंत शक्तिशाली उपाय है– उसके सामने निरंतर और सच्चाई के साथ दृष्टांत उपस्थित करना।

अगर एक बार संकल्प दृढ़ता से स्थापित हो जाय तो फिर विशेष कुछ करना नहीं रह जाता। बस, इतना ही पर्याप्त है कि सच्चाई और लगन के साथ मनुष्य आगे बढ़ता जाय और हार को कभी अंतिम चीज न मान बैठे। अगर तुम समस्त दुर्बलता और पीछे हटने से बचना चाहो तो एक महत्वपूर्ण बात तुम्हें अवश्य जाननी चाहिये और उसे कभी नहीं भूलना चाहिये : मनुष्य अपने सकंल्प को अपनी मांसपेशियों की ही तरह विधिबद्ध, और वर्द्धमान अभ्यासों के द्वारा उन्नत और विकसित कर सकता है। जो चीज तुम्हें महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होती उसके लिये भी अधिक–से–अधिक प्रयास अपने संकल्प से मांगने में तुम्हें हिचकिचाना नहीं चाहिये, क्योंकि प्रयास के द्वारा ही क्षमता बढ़ती है, उसे अत्यंत

कठिन कार्यों में भी व्यवहार में लाने की शक्ति धीरे–धीरे प्राप्त होती है। जो कुछ करने का निर्णय तुमने किया है वह तुम्हें अवश्य करना चाहिये चाहे कुछ भी क्यों न हो जाय, यहां तक कि चाहे तुम्हें कितनी ही बार नए सिरे से अपना प्रयास क्यों न आरंभ करना पड़े। प्रयास के द्वारा तुम्हारा संकल्प सुदृढ़ होगा और अंत में तुम्हें इससे अधिक कुछ भी नहीं करना पड़ेगा कि तुम स्पष्ट दृष्टि से वह लक्ष्य चुन लो जिसके लिये तुम इसका व्यवहार करोगे।

सार–रूप में कह सकते हैं : हमें अपने स्वभाव का पूरा ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और फिर अपनी क्रियाओं पर ऐसा संयम प्राप्त करना चाहिये कि हमें पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त हो जाय और जिन चीजों को रूपांतरित करना है उनका रूपांतर साधित हो जाय।

अब, बाकी सब कुछ निर्भर करता है उस आदर्श पर जिसे प्रभुत्व और रूपांतर के प्रयास के द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है। प्रयास और उसके फल का मूल्य उस आदर्श के मूल्य पर निर्भर करेगा। इस विषय की चर्चा हम मन की शिक्षा के संबंध में आलोचना करते हुए अपने अगले लेख में करेंगे।[1]

---

१ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ १८ से २१ (शिक्षा के विषय पर अरविन्द और श्रीमाँ ने कहा, पृष्ठ १०७-११३)

इन्द्रियों का विकास एवं उपयोगिता——— प्राणिक शिक्षा ———चरित्र का विकास एवं मूल्यों का आरोपण

इन्द्रियों का विकास एवं उपयोगिता

- चक्षु इन्द्रिय की शिक्षा
- श्रवण इन्द्रिय की शिक्षा
- सूँघने की इन्द्रिय की शिक्षा
- स्वाद की इन्द्रिय की शिक्षा
- स्पर्श की की इन्द्रिय शिक्षा

सही, स्पष्ट एवं शक्ति हेतु

विवेक एवं सौन्दर्य बोध का विकास

- सौन्दर्य बोध
- कला का रस एवं परख

चरित्र का विकास एवं मूल्यों का आरोपण

- सत्यनिष्ठा
- स्पष्टवादिता
- प्रयासरतता
- ईमानदारी
- शान्ति
- सौम्यता
- हर्ष
- आत्म—संयम
- साहस
- आत्म—अनुशासन

रेखाचित्र ३[2]

२ मीरेक सेंटर

अध्याय–५

चरित्र का विकास कैसे करें

नैतिक शिक्षा, मूल्यों की शिक्षा – सभी इस विषय को लेते हैं। श्रीमाँ इसे प्राण की शिक्षा की दृष्टि से देखती हैं – चरित्र का विकास प्राण की शिक्षा का ही अंग है। (प्राण की शिक्षा की गहरी समझ के लिए, इस पुस्तक के भाग–४ को पढ़ें) यह अध्याय मानव प्रकृति में अमूल्य जानकारी प्रदान करता है। यह सूचना निम्नलिखित ढंग से क्रमबद्ध की गई है।

- बच्चे की प्रकृति को समझना
- बच्चे व माता–पिता का सम्बन्ध समझना
- प्रकृति की कुछ विशेष कठिनाइयों का सामना
- सद्‌गुणों का विकास

बच्चे की प्रकृति समझना

बच्चों में प्राण कितना विकसित होता है?

प्राण उनके मन से कहीं अधिक विकसित होता है। बच्चों में यह पानी

की तरह तरल–सा होता है; उसका रूप बहुत ठोस और यथार्थ नहीं होता। इसीलिए उन पर बहुत कुछ कार्य किया जा सकता है, क्योंकि उपादान अभी तक लचीला होता है, वह ठोस नहीं बना होता; यह बात देखी जा सकती है: उनमें कोई ऐसी वस्तु होती है जो जैसे चाहे मोड़ी जा सकती है, मानों कोई मक्खन को रूप दे रहा हो; किन्तु, जब वे बीस से पच्चीस वर्ष के हो जाते हैं, तो उनकी वह विशेष मनोवृत्ति पक्की बन जाती है, उनका चरित्र एक स्थिर मोड़ अपना लेता है और तब दोषों को रोकने के स्थान पर, उन्हें सुधारना आवश्यक हो जाता है। यह एक और ही बात है। यदि व्यक्ति उन्हें ऐसी शिक्षा देना चाहे जिससे वे अपने में बुरी आदतें न डालें या बुरी प्रवृत्तियों के अनुसार न चलें, एक ऐसी शिक्षा जो बच्चों को सदा ठीक रास्ते पर चलाए (जिसका वह उनसे अनुसरण कराना चाहता है), तो ऐसा करना तभी संभव होगा जब वे छोटे होते हैं, बड़े होने पर ऐसा करना कठिन हो जाता है। छाप को बदलना आसान नहीं होता, कभी–कभी तो वस्तुओं के बदलने के लिए उन्हें तोड़ना भी आवश्यक हो जाता है : ऐसा करना उन लोगों के साथ आवश्यक हो जाता है जो प्रगतिशील नहीं हैं, जो रूढ़ हैं और रूढ़ ही बने रहना चाहते हैं, जो अपनी पूरी सामर्थ्य से अपनी तुच्छ आदतों के साथ चिपटे रहते हैं। जबकि छोटे बच्चे नमनीय होते हैं, उनके मन बदले जा सकते हैं, उन्हें प्रगति के पथ पर चलाया जा सकता है, यह समझाया जा सकता है कि उन्हें आज की अपेक्षा कल ज्यादा अच्छा होना चाहिए।[1]

बच्चे की संभावनाओं का मूल्यांकन कैसे करें?

"बच्चों की संभावनाओं का मूल्यांकन करने के लिए साधारण नैतिक विचार कम ही उपयोगी होते हैं। विद्रोही, अनुशासनहीन, जिद्दी स्वभाववाले प्रायः अपने अंदर वे गुण छिपाए रहते हैं जिनका उपयोग करना सीखा नहीं गया है। हो सकता है कि निठल्ले भी शांति और धैर्य की बड़ी संभावनाओं को छिपाये हों।

खोजने के लिए पूरी दुनिया पड़ी है और सरल समाधान शायद ही किसी काम के होते हों। विभिन्न चरित्र को पहचानने और उन्हें अच्छी तरह उपयोगी बनाना जानने के लिए अध्यापकों को छात्रों से कहीं ज्यादा मेहनत करनी होगी।"[2]

---

१. मातृवाणी, भाग–६, पृष्ठ ११–१२ (साथ ही पंचविध शिक्षा, पृष्ठ ५१–५२)
२. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ३७५

बच्चे लालची क्यों होते हैं?

"ओह! लोभी! यह तो कोई भारी अपराध नहीं है! लोभी बच्चे हैं। शायद उनकी पाचन–क्रिया कमजोर है, इसलिए वे सदा खाते रहना चाहते हैं पर खाने से उन्हें कुछ लाभ नहीं होता। समूची बाह्य सत्ता ही सभी प्रकार की कठिनाइयों से ग्रस्त है, सभी की – बच्चों की भी – यही अवस्था है। यह अधिक उचित होता, यदि तुम मुझसे यह पूछते : "कुछ बच्चे क्रूर क्यों हैं?" यह बात सबसे अधिक भयानक है।"[३]

बच्चे हमेशा चीज क्यों माँगते हैं (जो भी देखें. . .)?

"ओह, क्योंकि वे कामना से भरे होते हैं। शायद वे कामना के स्पंदनों से निर्मित हुए थे, और चूँकि उन्हें अपने ऊपर अधिकार नहीं होता, इसलिए यह खुलकर प्रकट होती है। बड़ी आयु के लोग भी इच्छा से भरे होते हैं, लेकिन उनमें एक प्रकार का . . . कैसे कहा जाए? . . . वे अपनी कामना दिखाने में सकुचाते हैं, उन्हें जरा शर्म–सी आती है या फिर, उन्हें डर लगता है कि लोग उन पर हँसेंगे; इसलिए वे प्रकट नहीं करते। लेकिन वे भी कामनाओं से भरे होते हैं। हाँ, बच्चे ज्यादा सरल होते हैं। जब वे कोई चीज चाहते हैं तो कह देते हैं। वे अपने–आपसे यह नहीं कहते कि शायद इसे न दिखाने में ज्यादा अकलमंदी है, क्योंकि अभी तक उनके अंदर इस प्रकार की बुद्धि नहीं आयी। लेकिन मेरा ख्याल है कि साधारणतः कुछ अपवादों को छोड़कर, लोग सतत् कामनाओं में ही निवास करते हैं। वे उसे बस, प्रकट नहीं करते, और कभी–कभी तो वे उसे स्वयं अपने सामने भी स्वीकार करने से शर्माते हैं। लेकिन वह होती तो है, कुछ पाने की अपेक्षा होती है . . . व्यक्ति कोई सुन्दर चीज देखता है और वह तुरंत प्राप्त करने की इच्छा का रूप ले लेती है; और यह बहुत–सी चीजों में एक है . . . यह बिल्कुल बचकानी है। यह बिल्कुल बचकानी और हास्यास्पद चीज है, क्योंकि सौ में से कम–से–कम नब्बे बार कामना करने वाले को जब वह चीज मिलती है, तो वह उसे देखता भी नहीं। यह बहुत ही कम होता है कि चीज भले कैसी भी क्यों न हो, पाने के बाद भी उसमें रस बना रहे।"[४]

---

३. मातृवाणी, भाग-६, पृष्ठ ५ (साथ ही संकलित शिक्षा, पृष्ठ ४७)
४. मातृवाणी, भाग-६, पृष्ठ ४११-४१२ (साथ ही: शिक्षा भाग - २, पृष्ठ १६९)

कुछ बच्चे क्रूर और दुष्ट क्यों होते हैं?

"कुछ बच्चे क्रूर क्यों हैं?" यह बात सबसे अधिक भयानक है. . .। किन्तु यह अचेतना के कारण होता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि उन्हें यह भी पता नहीं कि वे दूसरों को कष्ट पहुँचा रहे हैं। सामान्यतया, यदि उन्हें यह बात समझा दी जाए – उदाहरणार्थ, उनके अपने अनुभव द्वारा – तो वे समझ जाते हैं। जो बच्चे जानवरों के साथ बुरा व्यवहार करते हैं (ऐसे कई हैं) – हाँ तो, वह इसलिए कि उन्हें यह पता ही नहीं कि जानवर भी उन्हीं की तरह कष्ट अनुभव करते हैं। जब उन्हें यह बात समझा दी जाए कि जब वे जानवरों को चुटकी भरते हैं या उनके बाल खींचते हैं या उन्हें मारते हैं तो उन्हें भी पीड़ा होती है और यदि आवश्यकता पड़े तो उनके शरीर में भी ऐसी ही पीड़ा पहुँचाकर उन्हें यह दिखा दिया जाए तो वे फिर नहीं करते!

कुछ बच्चे विशेष रूप से दुष्ट होते हैं। ये एक विश्वासघाती प्रभाव तले होता है। और कभी–कभी यह बात इनके शैशव से ही दृष्टिगोचर होने लगती है और यदि उन्हें बदला न जाए तो वे सारी आयु ऐसे ही बने रहेंगे, उन्हें बदलना आसान नहीं होता।

इसका कारण शायद माँ–बाप में एक अवचेतन दुष्टता है। माना यह जाता है कि लोग अपनी दुष्टता को अपने बच्चों में पैदा करके उसे अपने अंदर से निकाल फेंकते हैं। व्यक्ति के अंदर हमेशा एक परछाईं रहती है। ऐसे लोग होते हैं जो इसे बाहर प्रक्षिप्त करते हैं – यह उन्हें हमेशा परछाईं से मुक्त नहीं करता, फिर भी शायद उन्हें सांत्वना मिलती हो। लेकिन उससे 'लाभ' होता है बच्चे को। क्या तुम नहीं देखते? यह बिल्कुल स्पष्ट है कि उस वक्त माँ–बाप चेतना की जिस अवस्था में होते हैं उसका बहुत अधिक महत्त्व होता है।"[६]

बच्चों में बुरी आदतें क्यों होती हैं – जैसे चीजें व्यवस्थित नहीं रखना? क्या प्राण के कारण ऐसा होता है?

"यह कई बातों पर निर्भर है। उदाहरणार्थ, कुछ बच्चे व्यवस्था–बद्ध नहीं होते, वे अपनी वस्तुओं को सँभालकर नहीं रख सकते, उन्हें खो देते हैं या नष्ट कर देते हैं – इसके तीन कारण होते हैं। अधिकतर ऐसा उस बच्चे के साथ

---

५. मातृवाणी, भाग–६, पृष्ठ ५ ([illegible], पृष्ठ ४७-४६)

६. मातृवाणी, भाग–५, पृष्ठ ३९३

होता है जिसमें प्राणिक शक्ति की कमी हो। तब ऐसा होता है, जब वह अपनी वस्तुओं को सँभालकर नहीं रख सकता या उसके चारों ओर सब चीज अव्यवस्थित रहती हैं. तो यह सदा प्राणिक शक्ति की कमी का लक्षण होता है; वह इन बाह्य वस्तुओं में रुचि नहीं ले पाता, क्योंकि उसमें इसके लिए काफी प्राणिक शक्ति नहीं होती। दूसरा कारण है भौतिक वस्तुओं में रुचि का अभाव और अनुशासन का अभाव, वह अपने को अनुशासन में नहीं रख पाता। उदाहरणार्थ जब बच्चे कपड़े उतारते हैं तो उन्हें चारों ओर फेंक देते हैं; या फिर, जब खिलौनों से खेल चुकते हैं, तो उन्हें वहीं बिखरा छोड़ देते हैं; स्कूलों का काम समाप्त किया, तो सब कुछ वहीं छोड़कर उठ गए; कलम एक ओर, कॉपी दूसरी ओर, पुस्तक किसी और स्थान पर, और तब ये सब वस्तुएँ खो जाती हैं। दुर्भाग्यवश, यही बात यहाँ स्कूल के अधिकतर बच्चों में है, वे सब कुछ खो देते हैं। मैंने पुस्तकों को लुगदी–सा बना देखा है क्योंकि वे सारी रात किसी गमले पर पड़ी रहीं और अगली सुबह पानी बरस गया। जब वे मिलीं, तो लुगदी–सी बन गयी थीं। किन्तु ऐसा कभी–कभी होता है। पेंसिलों का भी यही हाल होता है – मेरे पास ऐसी बहुत–सी कलमें और पेंसिलें हैं जो ऐसे ही, यहाँ–वहाँ से उठायी गयी थीं, जो खो गयी थीं। ये प्रकृतियाँ बिलकुल अनुशासनहीन हैं, इनमें कार्य करने की कोई विधि नहीं होती, और इनके भीतर भी कोई पद्धति नहीं होती। और फिर फल यह होता है कि वे वस्तुओं से घृणा करने लगते हैं – तो जैसा श्रीअरविन्द कहते हैं, वे वस्तुएँ पाने के अधिकारी नहीं हैं। जो लोग अपनी वस्तुओं को साज–सँभालकर रखना नहीं जानते, वे उन्हें पाने के योग्य नहीं हैं। श्रीअरविन्द ने अपने पत्रों में प्रायः ही इस बात की चर्चा की है। उन्होंने कहा है कि यदि तुम भौतिक वस्तुओं की देखभाल नहीं कर सकते, तो तुम्हें उन्हें पाने का कोई अधिकार नहीं है। सचमुच में यह मानव सत्ता में एक प्रकार के अहंभाव का, एक अव्यवस्था का द्योतक है और यह अच्छा लक्षण नहीं है। और फिर बाद में जब लोग बड़े होते हैं, तो एक अलमारी अथवा अलमारी का एक खाना भी ठीक तरह से नहीं रख पाते। वे एक साफ–सुथरे कमरे में हो सकते हैं, लेकिन तुम मेज का एक खाना या अलमारी खोलो, तो वह मानों युद्धक्षेत्र होगा! सब कुछ तितर–बितर है। तुम प्रत्येक वस्तु को उलझा पाओगे; वहाँ कुछ भी व्यवस्थित नहीं होगा। ऐसे लोगों का बेचारा मस्तिष्क भी ऐसी हालत में होता है जिसमें उनके विचार भी उनकी

भौतिक वस्तुओं की भाँति अस्त-व्यस्त पड़े रहते हैं। उन्होंने अपने विचारों को व्यवस्थित नहीं किया है। उन्होंने उन्हें व्यवस्थित नहीं किया है। ऐसे लोग मस्तिष्क की गड़बड़ी की अवस्था में निवास करते हैं। और यह एक निश्चित लक्षण है, इसमें मैंने कहीं अपवाद नहीं देखा है : जो लोग अपनी भौतिक वस्तुओं को व्यवस्थित ढंग से रखना नहीं जानते – उनके विचार भी उनके मस्तिष्क में ऐसे ही रहते हैं, हमेशा। वे इकट्ठे मिलकर रहते हैं, अत्यधिक विरोधी विचार भी इकट्ठे रख दिए जाते हैं और विश्वास रखो कि यह किसी उच्चतर समन्वय के द्वारा नहीं, बल्कि अपने विचारों को व्यवस्थित करने की अक्षमता तथा एक प्रकार की अव्यवस्था के कारण होता है। यदि तुम किसी ऐसे व्यक्ति के कमरे में घुस सको और उसकी मेज का दराज खोल सको या उसकी अलमारी में झाँक सको तो तुम्हें उससे दस मिनट बात करने की भी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। ऐसे लोगों की मनोव्यवस्था का तुम्हें पता चल जाएगा।"[७]

बच्चे व माता-पिता का सम्बन्ध समझना

गर्भधारण के समय माता-पिता की चेतना का बच्चे के चरित्र पर क्या असर पड़ता है?

"यह बिल्कुल स्पष्ट है कि उस वक्त माँ-बाप चेतना की जिस अवस्था में होते हैं उसका बहुत अधिक महत्त्व होता है। अगर उनमें तुच्छ और अभद्र विचार हों तो बिल्कुल निश्चित रूप से बच्चे उन्हें प्रतिबिंबित करेंगे। और यदि सब बच्चे जो विकृत, कुशिक्षित, अशिष्ट, अपूर्ण होते हैं (विशेष रूप से बुद्धि की दृष्टि से : जिनमें छेद होता है और कई चीजें गायब होती हैं), ऐसे बच्चे जो अर्ध-सचेतन और अर्ध-निर्मित होते हैं – यह हमेशा गर्भाधान के समय माँ-बाप की चेतना के दोष की वजह से होता है। जिस तरह मरणासन्न व्यक्ति की अंतिम क्षणों की चेतना की अवस्था का उसके भविष्य के लिए बहुत अधिक महत्त्व होता है, उसी तरह, गर्भाधान के समय माँ-बाप चेतना की जिस अवस्था में होते हैं, वह बच्चे पर एक प्रकार की छाप छोड़ती है जिसे वह जीवनभर प्रतिबिंबित करता रहेगा। तो यह बाहरी तौर से इतनी छोटी चीजें हैं – उस क्षण की मनोदशा, उस क्षण

७. मातृवाणी, भाग-६, पृष्ठ १२-१४ (साथ ही: पंचविधा शिक्षा, पृष्ठ ५१-५३)

की अभीप्सा या अधोगति, चाहे कुछ भी क्यों न हो, हर चीज जो विशिष्ट समय पर घटती है – वह कितनी नगण्य प्रतीत होती है, और उसका परिणाम कितना बड़ा होता है : वह जगत् में एक ऐसे बच्चे को लाती है जो अपूर्ण या दुष्ट या अंत में पूरी तरह असफल होता है। और लोग इसके प्रति सचेतन नहीं हैं।

बाद में, जब बच्चा बुरी तरह व्यवहार करता है तो वे उसे डाँटते हैं। लेकिन उन्हें अपने–आप को डाँटने से शुरू करना चाहिए, अपने–आपसे यह कहते हुए : "जब मैं बच्चे को इस जगत् में लायी तो मैं चेतना की कितनी भयंकर अवस्था में रही हूँगी।" क्योंकि यह सचमुच वही है।"[८]

बच्चों के प्रति माता–पिता का प्रेम किस प्रकार का होता है?

किस प्रकार का? यह भी है तो मानव प्रेम ही, है न? जैसेकि और सब मानव प्रेम होते हैं : यह भी सब प्रकार की वस्तुओं के साथ भयानक रूप से मिला रहता है। अधिकृत करने की आवश्यकता, एक भयानक अहंभाव। पहले तुम्हें बता दूँ, इसकी बड़ी सुन्दर तस्वीर खींची गयी हैं. . . इस पर बहुत पुस्तकें लिखी गयी हैं, बच्चों के प्रति माँ के प्रेम के विषय में बड़ी अद्‌भुत बातें कही गयी हैं। मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ कि खूब बढ़ा–चढ़ाकर इस विषय पर बोलने के सिवा, यह प्रेम भी वैसा ही है जैसा उच्चतर पशुओं का, उदाहरणार्थ. . . चौपायों का अपने बच्चों के साथ होता है, यह बिल्कुल वैसा ही है : वही प्रेमभाव, वही आत्म–विस्मृति, वही आत्म–त्याग, उन्हें शिक्षित करने की वही चिंता, वही धैर्य, सब कुछ वही. . .। मैंने कई बहुत आश्चर्यजनक बातें देखी हैं, और यदि ये सब लिखी जातीं और बिल्ली पर प्रयुक्त न करके स्त्री पर प्रयुक्त की जातीं तो कितने ही सुन्दर उपन्यास बन जाते, लोग कहते : "क्या व्यक्तित्व है यह! मातृप्रेम में ये स्त्रियाँ कितने अद्‌भुत रूप से समर्पित होती हैं!" ठीक ऐसा ही है। हाँ, बिल्लियाँ लम्बी–चौड़ी बातें नहीं कर सकतीं। बस, इतनी–सी बात है। न वे पुस्तकें लिख सकती हैं, न भाषण दे सकती हैं, भेद केवल इतना ही है। किन्तु मैंने बड़ी आश्चर्यजनक बातें देखी हैं। वही त्याग, वही आत्म–विस्मृति – ज्यों ही प्रेम का आरंभ होता है, ये बातें आ जाती हैं। किन्तु मनुष्य. . .जो कुछ मैंने अध्ययन किया है उसके आधार पर मेरा निश्चित विश्वास है कि शायद पशुओं का प्रेम कुछ अधिक पवित्र होता है क्योंकि उनमें सोचने की क्षमता नहीं होती, जबकि मनुष्य

---

८ मातृवाणी, भाग–५, पृष्ठ ४१३ (साथ ही: पंचविध शिक्षा, पृष्ठ ३४)

अपनी मानसिक शक्ति, सोचने, तर्क करने, विश्लेषण, अध्ययन करने की क्षमता के साथ, यह सब, ओह! वे अत्यधिक सुन्दर गति को भी नष्ट कर देते हैं। वे हिसाब करना, तर्क करना, शंका करना, व्यवस्था लाना आरंभ कर देते हैं।

उदाहरणार्थ, माता–पिता को लो। तुम्हारी चेतना को भ्रांतियों से मुक्त करने का भय होते हुए भी मैं तुम्हें बच्चे के प्रति माँ के प्रेम के स्रोत के विषय में बताती हूँ। इसका कारण है बच्चे का माँ के तत्त्व से बना होना, और सापेक्ष रूप से, काफी लम्बे समय तक तत्त्व का यह स्थूल तंतु माँ और बच्चे के बीच बड़े निकट रूप में बना रहता है – मानों उसका थोड़ा सा हाड़–मांस ही अंदर से निकलकर बाहर, कुछ दूरी पर रख दिया गया हो – और दोनों के बीच का यह बंधन बहुत दिनों के बाद ही टूटता है। यह एक प्रकार का सूक्ष्मसंवेदन का बंधन है, इतना कि माँ बच्चे की भावना को बिलकुल ऐसे ही ठीक–ठीक समझ लेती है जैसे अपने भाव समझती है। तो माँ की बच्चे के प्रति आसक्ति का यही भौतिक आधार है। यह भौतिक तादात्म्य का आधार है, उसके सिवा कुछ नहीं। अनुभूति बहुत पीछे आती है (पहले भी आ सकती है, यह व्यक्तियों पर निर्भर है) किन्तु मैं यहाँ अधिकतर व्यक्तियों की बात कह रही हूँ : उनमें अनुभूति बहुत पीछे ही आती है, और उसकी भी कुछ शर्तें होती हैं। उसमें सभी प्रकार की वस्तुएं होती हैं . . .। इस विषय पर मैं घंटों बात कर सकती हूँ : किन्तु तो भी इस सबको प्रेम के साथ न मिला देना चाहिए। यह एक प्रकार का भौतिक तादात्म्य है जिसका माँ अपने बच्चे की भावना को निकट, बड़े ठोस और प्रत्यक्ष रूप में अनुभव करती है : यदि बच्चे को कोई आघात लगे, तो माँ उसे अनुभव कर लेती है। ऐसा कम–से–कम दो महीने तक तो रहता ही है।

यह आधार है। बाकी सब तो लोगों की प्रकृति से, उनके विकास की अवस्था से, उनकी चेतना, शिक्षा एवं अनुभव करने की क्षमता से आता है। यह बात पहली बात से जोड़ दी जाती है और फिर बहुत–से ऐसे सामूहिक सुझाव भी होते है जो कहानियाँ गढ़ लेते हैं – क्योंकि मनुष्य कहानियाँ गढ़ने में बहुत चतुर होते हैं। वे सभी वस्तुओं के विषय में कहानियाँ बना लेते हैं। उन्होंने अपने मन का उपयोग कल्पनाओं का निर्माण करने के लिए किया है, फिर ये कल्पनाएँ वातावरण में घूमती रहती हैं, और बस इसी तरह पकड़ में आती हैं। तो कुछ लोग

एक प्रकार की वस्तुएँ पकड़ लेते हैं और कुछ अन्य प्रकार की, और फिर, क्योंकि कल्पना धकेलने की एक शक्ति है, उसके साथ व्यक्ति अभिनय करने लगता है और अंत में यदि उसमें कल्पना हो तो उपन्यास का जीवन जीता है . . .। इस सबका सच्ची चेतना के साथ, चैत्य सत्ता के साथ जरा भी संबंध नहीं है, बिलकुल नहीं, किन्तु वे तुम से अलंकारमयी भाषा में बातें करते हैं और कहानियाँ सुनाते हैं – यह सब उड़ान लेने वाली कल्पनाओं में होता है। यदि व्यक्ति देख सके, दूसरे शब्दों में, यदि तुम इस मानसिक वायुमंडल को, भौतिक मन के वायुमंडल को चारों ओर व्याप्त देख सको, जो तुम्हें क्रिया करने, अनुभूति प्राप्त करने, सोचने, कार्य करने के लिए प्रेरित करता है, तो ओह भगवान्! तुम्हारी अपने व्यक्तित्त्व के विषय में कई भ्रांतियाँ दूर हो जाएँगी।"[१]

प्रकृति की कुछ आम कठिनाइयों का सामना

अवसाद को वश में कैसे करें?

"ओह! इसका एक बड़ा सरल–सा उपाय है। अवसाद सामान्यतया प्राण में प्रकट होता है और यह व्यक्ति को अपने चंगुल में तभी ले सकता है जब वह अपनी चेतना को प्राण में रखे, वहीं निवास करे। बस, एक ही बात की जानी चाहिए : व्यक्ति प्राण की चेतना से बाहर निकलकर एक गहनतर चेतना में आ जाए। उच्चतर मन – आलोकित, उच्चतर मन, अत्यधिक उच्चतर विचार भी उदासी को दूर भगाने की शक्ति रखते हैं। जब व्यक्ति विचार के उच्चतम क्षेत्रों में जा पहुँचता है, तो भी साधारणतया अवसाद दूर हो जाता है। किन्तु बहरहाल, यदि व्यक्ति अंतरात्मा में आश्रय ढूँढ़े, तो अवसाद के लिए कहीं स्थान ही नहीं रहेगा।

अवसाद दो कारणों से आ सकता है : प्राणिक तुष्टि के अभाव से या फिर शरीर के स्नायुओं में अत्यधिक थकावट से। शारीरिक थकावट से उत्पन्न अवसाद को बड़ी सरलता से दूर किया जा सकता है : उसमें केवल विश्राम की आवश्यकता है। व्यक्ति चुपचाप बिस्तरे में पड़कर सो जाए, या फिर विश्राम करे, स्वप्नलोक में पहुँच जाए, आराम से सीधा लेटा रहे, जब तक कि वह दुबारा

---

१. मातृवाणी, भाग–६, पृष्ठ १०६–१०८ (साथ ही एजूकेशन भाग १, पृष्ठ १९९–२०१)

स्वस्थ न अनुभव करने लगे। व्यक्ति में प्राणिक असंतोष बड़ी आसानी से उत्पन्न हो जाता है और उसका सामना सामान्यतया अपनी तर्क–शक्ति से करना पड़ता है, व्यक्ति अपने अवसाद के कारण के मूल में जा कर देखे कि किस वस्तु ने उसके प्राण में असंतोष उत्पन्न किया है; और तब उस पर नजर जमाकर अपने–आपसे पूछे कि क्या उसकी आंतरिक अभीप्सा से उसका कोई संबंध है या वह बस, बिल्कुल सामान्य–सी क्रिया है। साधारणतया व्यक्ति को यह पता लग जाता है कि इसका संबंध आंतरिक अभीप्सा से बिल्कुल नहीं है और वह बड़ी सरलता से विजय प्राप्त कर सकता है और पुनः अपने सामान्य काम–धंधे में लग सकता है। यदि यह काफी न हो तो व्यक्ति को अधिक गहरे, अधिकाधिक गहरे जाना होगा जब तक कि वह आंतरात्मिक सत्ता का स्पर्श न प्राप्त कर ले। तब उसे केवल यही करना होगा कि इस आंतरात्मिक सत्ता को अवसाद की क्रिया के संपर्क में ले आए, और वह तत्काल हवा में उड़ जाएगी।

रही बात स्वयं प्राणिक क्षेत्र में अवसाद के साथ युद्ध करने की – तो कुछ अच्छे योद्धा हैं जिन्हें अपने प्राण के साथ संघर्षरत रहना बहुत प्रिय लगता है – लेकिन सच्ची बात तो यह है कि यह बहुत अधिक कठिन है।"[१०]

"........यदि तुम अवसाद में चले जाते हो तो ऊर्जा के प्रत्येक साधन से ऊपर से, नीचे से, हर तरफ से तुम्हारा सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। जड़ता में पहुंचने का यह सबसे बढ़िया तरीका है। तुम्हें अवसाद में जाने से एकदम इन्कार कर देना चाहिए।

अवसाद सदैव अत्यधिक अहंभाव का द्योतक है। जब आपको वह निकट आता महसूस हो तो अपने से कहो, "मैं एक अहंभावपूर्ण रोग से पीड़ित हूँ, मुझे इसका उपचार जरूर करना है।"

भय पर नियंत्रण कैसे पाएँ?

"बच्चों में भय क्यों होता है? क्योंकि वे कमजोर होते हैं।

वे अपने चारों ओर के वयस्क लोगों से शारीरिक तौर पर कमज़ोर होते हैं

---

१०. मातृवाणी, भाग–६, पृष्ठ ३२–३३ (साथ ही पंचविध शिक्षा, पृष्ठ ७१–७२)

और साधारणतः प्राणिक और मानसिक तौर पर भी कमजोर होते हैं। भय हीन-भाव से पैदा होता है।

फिर भी, उससे छुटकारा पाने का एक उपाय है, और वह है : भागवत कृपा पर विश्वास रखना और सभी परिस्थितियों में रक्षा के लिए उसी पर निर्भर रहना।

तुम जैसे-जैसे विकसित होते जाओगे, वैसे-वैसे यदि तुम अपने अन्दर अन्तरात्मा – यानी, अपनी सत्ता के सत्य – के साथ संपर्क को विकसित होने दो, तो अपने भय पर विजय पाते जाओगे और हमेशा यह प्रयास करो कि तुम जो कुछ सोचो, जो कुछ बोलो, जो कुछ करो वह सब सत्य की अधिकाधिक अभिव्यक्ति हो।

जब तुम सचेतन रूप से उसमें निवास करोगे, तो फिर तुम्हें अपने जीवन के किसी भी क्षेत्र में किसी चीज का भय न रहेगा, क्योंकि तुम उस वैश्व 'सत्य' के साथ एक होगे जो संसार पर शासन करता है।"[११]

"शरीर किसी भी नयी चीज से डरता है क्योंकि उसका आधार ही है तमस्; प्राण ही उसमें रजस् की प्रमुखता लाता है। इसीलिए, सामान्यतः, महत्त्वाकांक्षा, स्पर्धा और अहंकार के रूप में प्राण का हस्तपेक्ष ही शरीर को तमस् झाड़ फेंकने और प्रगति के लिए आवश्यक प्रयास करने के लिए बाधित करता है।

स्वभावतः, जिनमें मन प्रधान है वे अपने शरीर को भाषण देकर भय पर विजय पाने के लिए सब प्रकार की युक्तियाँ दे सकते हैं।

सबके लिए सबसे अच्छा उपाय है भगवान् के प्रति आत्म-निवेदन और उनकी अनंत 'कृपा' पर विश्वास।"[१२]

चिन्ता पर नियंत्रण कैसे पाएँ?

"देखो, वत्स, दुर्भाग्य की बात यह है कि तुम अपने-आपमें बहुत ज्यादा रमे रहते हो। तुम्हारी उम्र में, मैं पूरी तरह से अपनी पढ़ाई में लगी रहती थी – अपने-आपको जानकारी देने, सीखने, समझने और जानने में लगी रहती थी। इसी में मुझे रस आता था, यही मेरा आवेग था। मेरी माँ, जो मुझसे और मेरे भाई

---

११ मातृवाणी, भाग-४, पृष्ठ १० (साथ ही: दि सांइस आफ लिविंग, पृष्ठ ७१-७२)

१२ मातृवाणी, भाग-१२, पृष्ठ १२५

से बहुत प्रेम करती थी, हमें कभी अनमना, असंतुष्ट या आलसी न होने देती थी। यदि हम उनके पास जाते और किसी बाबत शिकायत करते तो वह हमारे ऊपर हँसती, हमें डाँटती और हमसे कहती थी : "यह क्या मूर्खता है? हास्यास्पद न बनो, जाओ और अपना काम करो, अपनी अच्छी या बुरी मनोदशा की परवाह न करो! इसमें कोई मजा नहीं है।"

मेरी माँ की बात बिलकुल ठीक थी और मैं अनुशासन तथा काम करते हुए एकाग्रता और आत्म–विस्मृति सिखाने के लिए उनकी बहुत कृतज्ञ हूँ।

मैंने तुम्हें यह इसलिए बताया है क्योंकि तुम जिस चिंता की बात करते हो वह इसलिए आती है क्योंकि तुम अपने–आपमें बहुत ज्यादा रमे रहते हो। तुम्हारे लिए बहुत ज्यादा अच्छा होगा कि जो कर रहे हो (चित्रकला या संगीत) उसमें मन लगाओ, अपने मन को विकसित करो जो अभी तक बहुत अशिक्षित है, और ज्ञान के वे तत्त्व सीखने में लगाओ जिनका जानना अनिवार्य है यदि तुम अज्ञानी और असंस्कृत नहीं रहना चाहते।

अगर तुम नियमित रूप से दिन में आठ–नौ घंटे काम करो तो तुम्हें भूख लगेगी। तुम अच्छी तरह से खाओगे और शांति से सोओगे और तुम्हारे पास यह सोचने के लिए समय न होगा कि तुम अच्छी मनोदशा में हो या बुरी।"[१३]

हीनता के भाव पर नियंत्रण कैसे पाएँ?

"जो चीज सबसे अधिक हीनता की, सीमितता की, तुच्छता की, निःशक्तता की भावना देती है वह बराबर यही चीज होती है – अपनी ओर अपने–आपको मोड़ लेना, अपने–आपको अति सूक्ष्म अहं की सीमाओं में बंद कर लेना। तुम्हें अपने–आपको विस्तारित करना, दरवाजों को खोलना होगा और सबसे उत्तम तरीका है स्वयं अपने ऊपर एकाग्र होने के बदले जो कुछ किया जाय उस पर एकाग्र होने में सक्षम होना।"[१४]

आलस्य का त्याग कैसे करें?

"आलस्य दुर्बलता या रस के अभाव से आता है। पहली चीज का उपचार करने के लिए – तुम्हें मजबूत होना चाहिए।

---

१३. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ३९७

१४. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १३० (साथ ही एजूकेशन भाग २, पृष्ठ १५०–१५१)

दूसरी चीज को ठीक करने के लिए – कुछ रुचिकर काम करना चाहिए।"[५]

बच्चे की बार–बार चीजों को माँगने की आदत को किस तरह सुधारें?

इसके कई तरीके हैं। लेकिन सबसे पहले तुम्हें यह जानना चाहिए कि कहीं तुम उसे अपने विचार या अपनी भावना प्रकट करने से तो नहीं रोक रहे, क्योंकि अधिकतर लोग यही करते हैं। वे डाँटते और कभी–कभी दंड भी देते हैं; और इससे बच्चे को अपनी कामनाएँ छिपाने की आदत पड़ जाती है। लेकिन इससे वह उनसे छुटकारा नहीं पाता। अगर उससे हमेशा यही कहा जाए: "नहीं, तुम्हें यह चीज नहीं मिलेगी", तो उसके अंदर मन की यह अवस्था जम जाती है : "जब तक मैं छोटा हूँ तब तक लोग मुझे कुछ भी नहीं देंगे! मुझे बड़े होने की राह देखनी होगी। जब मैं बड़ा हो जाऊँगा तो मैं जो चाहूँगा पा लूँगा।" बात ऐसी है। लेकिन इससे बच्चे उस चीज से छुटकारा नहीं पाते। बच्चे को पालना बड़ा मुश्किल काम है। एक तरीका यह है कि बच्चा जो माँगे देते चलो; और स्वभावतः, दूसरे ही क्षण वह कुछ और माँगेगा, क्योंकि यही तो नियम है, कामना का नियम यही है : कभी संतुष्ट न हुआ जाय। अतः, अगर बच्चा समझदार है, तो तुम उससे कह सकते हो : "तुम इस चीज के लिए इतना आग्रह कर रहे थे, अब तुम्हें इसकी परवाह भी नहीं रही। अब तुम कुछ और ही माँग रहे हो।" लेकिन अगर बच्चा बहुत होशियार हुआ तो कहेगा : "मुझे छुटकारा दिलाने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि मैं जो भी माँगू मुझे देते चलो।"

कुछ लोग सारे जीवन यह विचार बनाए रखते हैं। अगर उनसे अपनी कामनाओं को जीतने के लिए कहा जाए तो वे कहते हैं : "इसका सबसे सुगम उपाय है उन्हें संतुष्ट करना।" इस तरह का तर्क त्रुटिहीन मालूम होता है। लेकिन तथ्य यह है कि कामना के विषय को नहीं, कामना के आवेग को, उसकी गतिविधि को बदलने की जरूरत है। और इसके लिए बहुत–से ज्ञान की जरूरत है, और यह बहुत छोटे बच्चे के लिए मुश्किल है।

यह कठिन है। वास्तव में, उनमें तर्क की क्षमता नहीं होती; वे कारण नहीं समझ पाते; तुम उन्हें बात समझा नहीं पाते। तो, जब ऐसी स्थिति होती है तो माँ–बाप उनसे कहते हैं : "चुप रहो, तुम एक मुसीबत हो!" इस तरह वे मुश्किल

५. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १३६

में से निकल जाते हैं, पर यह कोई समाधान तो न हुआ। यह बहुत कठिन है। इसके लिए लगातार प्रयास और अटल धीरज की जरूरत होती है। कुछ लोग जीवन-भर ऐसे होते हैं; वे अपने सारे जीवन बच्चों जैसे बने रहते हैं और उन्हें कोई युक्ति-युक्त बात बताना असंभव होता है। जैसे ही तुम उनसे कहो कि वे समझदार नहीं हैं, और उनकी कामनाओं को संतुष्ट करने के लिए उन्हें चीजें नहीं दी जा सकतीं, तो वे बस, यही समझते हैं : "ये लोग अच्छे नहीं हैं, यह व्यक्ति अच्छा नहीं है।" बस!

वास्तव में, तुम्हें आरंभ में इस गति को उन चीजों की ओर मोड़ना चाहिए जिन्हें सच्चे दृष्टिकोण से पाना ज्यादा अच्छा है और जिन्हें पाना ज्यादा कठिन है। अगर तुम कामना के इस आवेग को उस ओर मोड़ सको. . .। उदाहरण के लिए, जब बच्चा कामनाओं से भरा हो, तो तुम उसे ज्यादा ऊँचे प्रकार की कामना दे सको – बिल्कुल क्षणिक संतोष देने वाले विशुद्ध भौतिक चीजों के लिए कामना की जगह – अगर तुम उसके अन्दर जानने की कामना, सीखने की कामना, एक विलक्षण व्यक्ति बनने की कामना जगा सको . . . इस तरह शुरू कर सकते हो। चूँकि ये चीजें करना मुश्किल है, तो धीरे-धीरे वह इन चीजों के लिए अपने अंदर इच्छा विकसित कर लेगा। या फिर, भौतिक दृष्टि से ही कोई ऐसी चीज करने की कामना दो जो ज्यादा मुश्किल हो, उदाहरण के लिए, कोई ऐसा खिलौना बनाने के लिए दो जिसे बनाना मुश्किल हो या उसे कोई खेल दो जिसमें धीरज की जरूरत हो, जिसमें बहुत अध्यवसाय की जरूरत हो।

अगर तुम उन्हें दिशा दे सको – इसके लिए बहुत विवेक और धीरज की जरूरत है फिर भी, यह संभव है – अगर तुम उन्हें किसी ऐसे काम में लगा सको, तुम उन्हें कठिन खेलों में सफल होने या किसी ऐसे काम में लगा दो जिसमें बहुत ध्यान और एकाग्रता की जरूरत है या किसी ऐसी दिशा में चला दो जिसमें अध्यवसाय पूर्ण इच्छा का काम हो, तो इसके परिणाम आ सकते हैं: इससे उनका ध्यान अमुक चीजों की ओर से हटकर और चीजों की ओर चला जायगा। इसके लिए सतत् सावधानी की जरूरत है – मैं नहीं कह सकती कि यह सबसे आसान तरीका है, क्योंकि यह निश्चय ही आसान नहीं है – पर है सबसे अधिक प्रभावशाली। 'ना' कहना कोई इलाज नहीं और 'हाँ' कर देना भी कोई इलाज नहीं है; और कभी-कभी यह, स्वभावतः बहुत कठिन हो जाता है।

उदाहरण के लिए, मैंने ऐसे लोग देखे हैं जिनके बच्चे जो नजर आ जाए, उस सबको खा जाना चाहते थे। उन्हें ऐसा करने दिया जाता था। इससे वे बहुत बीमार हो जाते थे। और फिर, उस चीज से घृणा करते थे। लेकिन यह जरा खतरनाक है। क्यों, है न? कुछ ऐसे बच्चे होते हैं जो हर चीज को-लेकर बेचैन हो उठते हैं। एक दिन एक बच्चे को दियासलाई मिल गयी। उन्होंने यह कहने की जगह कि 'मत छुओ', उसे अपनी मर्जी के मुताबिक करने दिया और उसने अपने–आपको जला लिया। इसके बाद उसने कभी दियासलाई नहीं छुई।

लेकिन यह जरा खतरनाक है। कुछ बच्चे एकदम अचेतन होते हैं और अपनी कामनाओं में बहुत साहसी होते हैं : उदाहरण के लिए, वे दीवार की मुंडेर पर या छत पर चलना चाहते हैं या पानी देखते ही उसमें डुबकी लगाना चाहते हैं या नदी में गोता मारना चाहते हैं . . . कभी–कभी यह बहुत कठिन हो जाता है . . . या फिर, कुछ बच्चों को सड़क पार करने का पागलपन होता है : हर बार मोटर आती देखकर . . . उसका रास्ता काटने की कोशिश करते हैं। अगर उन्हें यह करने दिया जाय, तो किसी दिन यह परीक्षण घातक हो सकता है।

हाँ, मैं ऐसे लोगों को जानती थी जिन्होंने ऐसे परीक्षण किए थे। पता नहीं वे सफल हुए या नहीं। लेकिन, जैसा कि मैंने कहा, बच्चा झुलस गया, यह एक गड़बड़ हो गयी क्योंकि बच्चे के शरीर में जले के निशान रह गए। और फिर, एक लड़का था जो बिना सोचे–समझे एक जीने की रेलिंग पर खेलता हुआ गिर पड़ा और अपना सिर लगभग तोड़ लिया. . .। तो तुम देखते हो कि इसके अपने परिणाम होते हैं। लेकिन ऐसों को 'ना' करने से भी कोई लाभ नहीं होता, उल्टा ही होता है। अगर तुम उनसे कहो : ''खास तौर पर यह मत लेना, इससे नुकसान होगा'' – तो वे न मानेंगे; वे यही समझेंगे कि यह उनकी कामना से पिंड छुड़ाने के लिए कहा गया है।

यह बहुत कठिन समस्या है। एक आदमी था जिसकी शिक्षा में स्वाधीनता के बारे में कुछ ऐसे ही विचार थे, उसने मुझे बताने के लिए सिद्धांत बनाए कि व्यक्तिगत स्वाधीनता का मान करना चाहिए, यहाँ तक कि नए लोगों के लिए पिछले अनुभवों का कभी उपयोग न करना चाहिए, हमें उन्हें अपने सब परीक्षण अपने–आप करने के लिए छोड़ देना चाहिए। यह चीज बहुत दूर तक जा पहुँची।

उन लोगों ने मेरी बड़ी समालोचना की, क्योंकि मैं दुर्घटनाओं को रोकने की कोशिश कर रही थी। उन्होंने मुझसे कहा : "आप इन्हें रोकने में बड़ी गलती कर रही हैं।" तो मैंने कहा : "अगर कोई मर जाए तो?" – "तो इसका मतलब होगा उसे मरना था, आपको उनकी नियति और उनके विकास की आजादी में दखल देने का कोई अधिकार नहीं है। वे बेवकूफियाँ करना चाहते हैं, तो उन्हें बेवकूफियाँ करने दो। जब उन्हें पता लग जाएगा कि ये बेवकूफियाँ हैं, तो वे नहीं करेंगे।" और ऐसे उदाहरण हैं जब आदमी निश्चय ही उन्हें फिर से नहीं करता, क्योंकि वह सीमा से पार निकल जाता है।

अगर तुम इसका कोई सिद्धांत बनाना चाहो तो यह एक बहुत ही कठिन समस्या है। हर मामला एकदम अलग होता है और अलग पद्धति की माँग करता है। और सचमुच, अगर तुम बच्चे को अच्छी–से–अच्छी शिक्षा देना चाहते हो, तो तुम्हें अपना सारा समय उसी में लगा देना होगा। तुम और कुछ भी न कर सकोगे। यह मानते हुए कि तुम्हें प्रकट रूप से उस पर निगरानी नहीं रखनी चाहिए, ठीक समय पर ठीक क्रिया करने के लिए, उसके जाने बिना भी उसके ऊपर नजर रखनी चाहिए। तब तुम और कुछ न कर सकोगे।

तो, शायद हमें एक बीच की अवस्था खोज निकालनी चाहिए जो इन दोनों छोरों के बीच हो : पहली, जिसमें हमेशा उस पर निगरानी रखी जाए, और दूसरी, जिसमें उसे अपनी मर्जी के मुताबिक करने के लिए पूरी छूट हो, उसे हो सकने वाली दुर्घटनाओं के बारे में भी सचेत न किया जाए। हर क्षण समायोजन! कठिन है।"७७

बच्चों की विनाशकारी प्रवृत्तियों के लिए क्या करें?

बच्चे उन सब प्रकार की चीजों से डरते हैं जिनका बड़ों के लिए अस्तित्व ही नहीं होता। उनकी दृष्टि विशुद्ध रूप से भौतिक नहीं होती। उनके पास पृष्ठभूमि की शक्तियों की क्रीड़ा का एक प्रकार का कम या अधिक यथार्थ और ठीक–ठीक बोध होता है। अतः उस अवस्था में होने के कारण वे उन शक्तियों से प्रभावित होते हैं जिनका, अन्यथा, उन लोगों पर काबू नहीं रहता जो अपने अंदर बंद और अधिक स्थूल होते हैं। और ये शक्तियाँ – उदाहरण के लिए,

७७. मातृवाणी, भाग–६, पृष्ठ ४१२–४१५ (साथ ही: एजूकेशन, भाग २, पृष्ठ ७०–७४)

विनाश की शक्तियाँ या क्रूरता की शक्तियाँ या दुष्टता या दुर्भावना की शक्तियाँ – सब, यह सब चीजें वातावरण में रहती हैं। जब व्यक्ति ज्यादा सचेतन या अंदर से ज्यादा अच्छी तरह निर्मित हो तो यह चीजें बहुत प्रभाव डाल सकती हैं और बच्चों से ऐसी चीजें करवा सकती हैं जिन्हें वे अपनी सामान्य अवस्था में न करते। मेरा ख्याल है कि यह विशेष रूप से इसी कारण होता है।

निश्चेतना का तथ्य भी है। बहुधा कोई बच्चा हानि पहुँचाता है और उसे पता नहीं होता कि वह हानि पहुँचा रहा है। वे अजाग्रत होते हैं, अपनी गतिविधि में बंद रहते हैं, और जो करते हैं उसके असर के प्रति सचेतन नहीं होते। यह अक्सर होता है।

इसका अर्थ यह है कि यदि बालक उचित ढंग से शिक्षित है, और अगर तुम उसकी श्रेष्ठ भावनाओं से अपील करो और उसे यह समझाओ कि अमुक तरीके से चीजें करने से दूसरों को हानि पहुँचती है (और तुम थोड़ा बहुत दिखाकर इस बात को उनके लिए साकार बना सकते हो), तो बहुधा वे हानि पहुँचाना बंद कर देते हैं।

सबसे बढ़कर यह शिक्षा का सवाल है। क्रूरता की अर्ध–संचेतन गतियाँ – माँ–बाप में इन्हें न पाना बहुत विरल है; हाँ, तो बच्चे की चेतना पर छाप डालने के लिये यह काफी है। कई होते हैं – लेकिन उनकी संख्या बहुत कम है – जिनके अंदर एक विकृत रचना होती है। ऐसे दुष्ट बच्चे होते हैं जिनका सुधार असंभव है। लेकिन वे बहुत विरल हैं।"[१८]

बच्चों को हानिकारक प्रभावों से कैसे बचाएँ?

सबसे बुरी चीज है (जिसे लोग अक्सर करते हैं) अपने बच्चे को नौकरों के साथ छोड़ देना। यह एक अपराध है। क्योंकि, इन लोगों की चेतना बिल्कुल गँवारू, बिलकुल नीच और बिलकुल अंधकारपूर्ण होती है और बिल्कुल सहज रूप से, बिना चाहे वे उसे बच्चों में पैठने देते हैं। स्वभावतः एक ऐसी आयु होती है जब बच्चे पाठशाला में भेजे जाते हैं और वहाँ वे बच्चों के ऐसे दल के संपर्क में आने लगते हैं जो हमेशा बहुत वांछनीय नहीं होता। इन संबंधों से बच निकलना बड़ा कठिन है। बहरहाल, अगर तुमने जीवन का आरंभ थोड़ी सचेतनता

---

१८. मातृवाणी, भाग–५, पृष्ठ ४१०–४११ (साथ ही पंचविध शिक्षा, भाग २, पृष्ठ ३१–३२)

और बहुत सद्‌भावना के साथ किया है तो जब तुम ऐसे व्यक्तियों से मिलते हो जिनकी संगति वांछनीय नहीं है तो तुम उसे महसूस कर लेते हो। और अगर तुम्हारे अंदर सद्‌भावना हो तो तुम तुरंत उनसे न मिलने या उनके संग न रहने की कोशिश करते हो।"[19]

सद्‌गुणों का विकास

बच्चों में कौनसे गुण डालने चाहिए ?

"पूर्ण सच्चाई की आवश्यकता।

'सत्य' की अंतिम विजय की निश्चयता।

सिद्धि के संकल्प के रहते निरंतर उन्नति की संभावना।"[20]

एक आदर्श बालक कौन है ?

आदर्श बालक

शांत स्वभाव का होता है : जब सारी बातें उसके विरुद्ध जाती हुई मालूम होती हैं अथवा सभी निर्णय उसके विपक्ष में होते हैं तब भी वह क्रोधित नहीं होता।

उत्साही होता है : जो कुछ वह करता है उसे वह अपनी योग्यता के अनुसार उत्तम–से–उत्तम रूप में करता है और यह जानते हुए भी कि असफलता प्रायः निश्चित है, वह अपना कार्य निरंतर करता रहता है। वह सर्वदा सीधे ढंग से ही विचार करता है और सीधे ढंग से ही कार्य करता है।

सत्यनिष्ठ होता है : वह कभी सत्य बोलने से नहीं डरता – परिणाम चाहे कुछ भी क्यों न हो।

धैर्यशील होता है : अपने प्रयासों का फल देखने के लिए यदि उसे दीर्घ काल तक प्रतीक्षा करनी पड़े तो भी वह निरुत्साहित नहीं होता।

---

१९. मातृवाणी, भाग–५, पृष्ठ ४१०–४११ (साथ ही: पंचविध शिक्षा, भाग २, पृष्ठ ३१–३२)
२०. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १५० (साथ ही: दि साइंस आफ लिविंग, पृष्ठ ३५)

सहनशील होता है : वह सभी अनिवार्य कठिनाइयों और दुःखों का सामना करता है उनके कारण मन में जरा भी नहीं झुँझलाता।

अध्यवसायी होता है : वह अपने प्रयास को कभी ढीला नहीं होने देता – चाहे जितने लंबे समय तक उसे क्यों न जारी रखना पड़े।

समचित्त होता है : वह सफलता और विफलता दोनों अवस्था में समता बनाए रखता है।

साहसी होता है : चाहे उसे बहुत बार पराजय का सामना क्यों न करना पड़े, वह हमेशा अंतिम विजय के लिए संग्राम में लगा रहता है।

प्रसन्न होता है : वह जानता है कि सब प्रकार की परिस्थितियों में किस तरह हँसा जा सकता है और हृदय को प्रसन्न रखा जा सकता है।

विनयी होता है : वह अपनी सफलता के ऊपर गर्व नहीं करता और न अपने साथियों से अपने को बड़ा ही समझता है।

उदार होता है : वह दूसरे के गुणों की प्रशंसा करता है और सफलता प्राप्त करने में दूसरों को सहायता देने के लिए बराबर तत्पर रहता है।

ईमानदार और आज्ञाकारी होता है : वह सब प्रकार के अनुशासनों को मानता है और सदा ही ईमानदारी से काम लेता है।"[२१]

मजबूत कैसे बनें?

"पहले तुम्हारे अंदर समग्र, संपूर्ण रूप से उसके लिए चाह होनी चाहिए और फिर जो कुछ जरूरी है वह करना चाहिए।"[२२]

सबके साथ सद्‌भावना कैसे बनाए रखें?

"जब मैं अपने खेल के साथियों से असहमत होती थी तब जिस उपाय को काम में लाती थी, तुम्हें भी वही उपाय सुझा रही हूँ। उन दिनों मैं बहुत संवेदनशील थी, जैसे तुम हो। जब वे बुरा–भला कहते तो मुझे बहुत चोट लगती थी, विशेषकर जब वे ऐसे लोग होते जिन्हें मैंने हमेशा सहानुभूति और सद्‌भावना दिखायी थी। मैं अपने–आपसे कहा करती थी : "मैं दुखी और दीन क्यों बनूँ?

२१. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १५०–१५१ (साथ ही: दि साइंस आफ लिविंग, पृष्ठ ५५–५६)
२२. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १३६

अगर वे जो कहते हैं वह ठीक है तो मुझे खुश होना चाहिए कि मुझे यह पाठ मिला और मुझे अपने–आपको ठीक कर लेना चाहिए; और अगर वे गलती पर हैं तो मैं उनके लिए चिंता क्यों करूँ? – उन्हें अपनी भूलों के लिए दुःखी होना चाहिए। दोनों अवस्थाओं में मेरे लिए सबसे अच्छी और प्रतिष्ठापूर्ण बात यही है कि मैं बलवान्, शांत और अविचल बनी रहूँ।"

मैं अपने–आपको जो पाठ आठ वर्ष की अवस्था में पढ़ाया करती थी और जिसका अनुसरण करने की कोशिश करती थी वह इसी प्रकार के सभी उदाहरणों में अब भी उपयोगी है।"[२३]

"बच्चों से कुछ बातें :

(1) अगर तुम यह नहीं चाहते कि दूसरे तुम्हारा मजाक करें तो तुम भी औरों का मजाक न उड़ाओ।

(2) अगर तुम चाहते हो कि लोग तुम्हारा सम्मान करें तो तुम भी हमेशा सम्माननीय ढंग से काम करो।

(3) अगर तुम चाहते हो कि सब तुमसे प्यार करें तो तुम भी सबसे प्यार करो।"[२४]

काम में सत्यनिष्ठा कैसे विकसित करें?

"जब व्यक्ति कोई कार्य करने का निर्णय कर ले और उसे स्वीकार कर ले तो उसे अधिक–से–अधिक अच्छे ढंग से करना चाहिए।

प्रत्येक वस्तु चेतना और आत्म–संयम में विकास करने का अवसर हो सकती है और विकास कर सकने का यह प्रयत्न तत्काल कार्य को, वह चाहे जो भी हो, रोचक बना देता है।"[२५]

आत्मविश्वास कैसे विकसित करें?

जब बच्चा सामान्य परिस्थितियों में रहता है, तो उसे यह सहज विश्वास होता है कि उसे जिन चीजों की जरूरत होगी वे सब उसे मिल जाएंगी।

यह विश्वास जीवन–भर अडिग बना रहना चाहिए; लेकिन बच्चे के अंदर अपनी आवश्यकताओं का सीमित, अज्ञान–भरा और ऊपरी भान होता है, उसकी

---

२३ मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १५७

२४. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १५७

२५. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ३९५–३९६

जगह उत्तरोत्तर, अधिक विशाल, अधिक गहरे और अधिक सत्य विचार को लेना चाहिए जो परम प्रज्ञा के साथ मेल खाता हो, यहाँ तक कि हमें यह अनुभव हो जाए कि केवल भगवान् ही जानते हैं कि हमारी सच्ची आवश्यकताएँ क्या हैं और हम हर चीज के लिए उन्हीं पर निर्भर रह सकें।"[२६]

अपनी संकल्प शक्ति कैसे विकसित करें?

"उसे प्रशिक्षित करो, जैसे मांसपेशियों से काम लेकर उनसे कसरत करवायी जाती है, वैसे ही इससे कसरत करवाओ।"[२७]

"एकाग्रता और संकल्प–शक्ति को मांसपेशियों की तरह विकसित किया जा सकता है; वे नियमित प्रशिक्षण और कसरत से विकसित होती हैं।"[२८]

"तुम जानते हो कि अत्यंत दयनीय दुर्बल व्यक्ति भी नियमित अभ्यास के द्वारा किसी भी अन्य व्यक्ति के समान बलशाली हो सकता है। मनुष्य का संकल्प ऐसा नहीं होना चाहिए जो मोमबत्ती की तरह झिलमिलाकर बुझ जाय।

संकल्पशक्ति को, एकाग्रता की शक्ति को अवश्य बढ़ाना चाहिए; बस, प्रश्न है पद्धति का, नियमित अभ्यास का। यदि तुम चाहो तो कर सकते हो।

परंतु संकल्प को कमजोर बनाने के लिए यह विचार नहीं उठना चाहिए कि भला इससे लाभ क्या? यह भावना कि मनुष्य एक विशिष्ट स्वभाव लेकर पैदा होता है और उस विषय में कुछ भी नहीं कर सकता, एक मूर्खतापूर्ण बात है।"[२९]

काम की प्रेरणा में सत्य एवं मिथ्यात्व के बीच कैसे अन्तर करें?

जो लोग अंधकार और मिथ्यात्व की शक्तियों पर 'सत्य' की ज्योति के विजयी होने में सहायता करना चाहते हैं वे अपनी गतिविधि और क्रिया को शुरू करने वाले आवेगों का ध्यानपूर्वक अवलोकन करके, और उनके बीच भेद करके, जो 'सत्य' से आते हैं और जो मिथ्यात्व से आते हैं उनमें से पहले को स्वीकार और दूसरे को अस्वीकार करके, ऐसा कर सकते हैं।

---

२६. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १२४

२७. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १३७

२८. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १३७

२९. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ६ (साथ ही: दि साइंस आफ लिविंग, पृष्ठ ३७)

धरती के वातावरण में 'सत्य की ज्योति' के 'आगमन' के पहले प्रभावों में से एक है – यह विवेक शक्ति।

वास्तव में 'सत्य की ज्योति' द्वारा लाए हुए इस विवेक के विशेष उपहार को पाए बिना, 'सत्य' के मनोवेगों और मिथ्यात्व के मनोवेगों में फर्क करना बहुत कठिन है।

फिर भी, आरंभ में सहायता करने के लिए, तुम यह निर्देशक नियम बना सकते हो कि जो–जो चीजें शांति, श्रद्धा, आनंद, सामंजस्य, विशालता, एकता और उठता हुआ विकास लाती हैं वे 'सत्य' से आती हैं; जबकि जिन चीजों के साथ बेचैनी, संदेह, अविश्वास, दुःख, फूट, स्वार्थपूर्ण संकीर्णता, जड़ता, उत्साहहीनता और निराशा आएं वे सीधे मिथ्यात्व से आती हैं।"[१०]

१०. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ३०४

अध्याय–६

इन्द्रियों को कैसे प्रशिक्षित करें?

इन्द्रियों का विकास एक ऐसा विषय है जो आमतौर पर केवल बाल्य–काल में ही लिया जाता है, बालकों की ज्ञान–कर्मेन्द्रियों के विकास के अन्तर्गत। परन्तु यह इन्द्रिय–अनुभव के क्रमबद्ध विकास एवं इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये गए संकेतों की सही सूचना एवं संप्रेषण के हेतु नाड़ियों की शुद्धि पर ध्यान नहीं देता। श्रीमाँ की शिक्षा–पद्धति में इन्द्रियों का प्रशिक्षण प्राण की शिक्षा का एक आवश्यक अंग है, और इसका सीधा प्रभाव न केवल शरीर के कार्यों में, बल्कि चरित्र के गठन एवं मानसिक विकास पर भी होता है। यह अध्याय तीन मूल प्रश्नों को उठाता है:–

- इन्द्रिय अनुभव कैसे निर्धारित होते हैं ?
- इन्द्रियों के विकास की क्या आवश्यकता है ?
- इन्द्रियों का आत्म–विकास के लिए किस तरह उपयोग किया जाए ?

इन्द्रिय अनुभव क्या निर्धारित करता है ?

मनुष्य की इंद्रियां उसकी मनोवैज्ञानिक स्थिति के प्रभाव के अधीन होती है ; क्योंकि आँखों के दर्शन और मस्तिष्क की ग्रहणशीलता के बीच कोई चीज

आ जाती है। यह बहुत सूक्ष्म वस्तु है ; मस्तिष्क स्नायुओं के माध्यम से आंखों के दर्शनों को ग्रहण करता है ; वहां कोई बौद्धिक क्रिया नहीं होती ; वह मानों तत्क्षण होता है, परंतु आँख के देखने और मस्तिष्क में उसका प्रत्युत्तर देने वाले तथा उसका मूल्यांकन करने वाले कोष के बीच एक क्षीण अवकाश होता है। और वास्तव में मस्तिष्क का यह मूल्यांकन ही भावनाओं के प्रभाव के अधीन होता है जो कुछ आँख देखती है। और मस्तिष्क उसे जो मूल्य प्रदान करता है उन दोनों के बीच का यह क्षीण प्रकंपन ही प्रत्युत्तर को मिथ्या बना देता है। और यह कोई सद्भाव का प्रश्न नहीं है, क्योंकि अत्यंत सच्चे लोग भी यह नहीं जानते कि क्या घटित हो रहा है, अत्यंत शांत–स्थिर लोग भी, जिनमें कोई तीव्र भावावेग नहीं होता, जो कोई भावावेग अनुभव भी नहीं करते, इस प्रकार प्रभावित हो जाते हैं और इस हल्के से मिथ्या बनाने वाले प्रकंपन के हस्तक्षेप को नहीं समझ पाते।'[1]

इन्द्रियों का विकास क्यों आवश्यक है ?

आजकल स्कूलों में बच्चों के विकास के लिये कई प्रकार के अनुशासनों का आविष्कार किया गया है, बच्चों की निरीक्षण शक्ति का विकास, शीघ्र निर्णय लेने या चुनाव करने का अभ्यास, आंखों के प्रयोग, मूल्यों को आंकने की क्षमता आदि। बच्चों के लिये अब कई प्रकार के खेल शुरू किये गये हैं जिनसे यह सब सिखाया जा सके। श्रवण–शक्ति, घ्राण शक्ति, दृष्टि–शक्ति को भी विकसित किया जा सकता है–इन सबका विधिवत् विकास किया जा सकता है। यदि व्यक्ति अपने संवेदनों में ही निवास करने के स्थान पर–यह 'सुखकर' है या 'असुखकर', यह 'प्रसन्नता' देता है या 'अप्रसन्नता' और अन्य सब प्रकार की वस्तुएं जो पूर्णतया निरर्थक होती हैं– सब संवेदनों की गणना, नाप–जोख और तुलना करने, उनका बारीकी से निरीक्षण एवं अध्ययन करने में सफल हो जाय. । मनुष्य वस्तुतः अंधों के समान अपना जीवन यापन करते हैं, सतत् रूप में, पूर्णतया अचेतन अवस्था में रहते हैं, और संवेदनों और प्रतिक्रियाओं में, सभी प्रकार के आवेगों में डुबकी लगाते रहते हैं, और तब कहते हैं, यह सुखकर है, यह असुखकर, यह बात प्रसन्नतादायक है, यह दुःखदायी, आदि–आदि। यह सब फिर क्या है ? इस बात का क्या अर्थ है ?– कुछ भी नहीं। बल्कि व्यक्ति को स्पंदनों के पूरे महत्त्व का, वस्तुओं के परस्पर सम्बंधों का लेखा–जोखा, गणना, तुलना और निरीक्षण कर सकना चाहिये, पूर्ण और वैज्ञानिक रूप से उनका

---

१ मातृवाणी भाग ४ पृष्ठ ११ (साथ ही दि साइंस आफ लिविंग पृष्ठ ४७)

अध्ययन करना चाहिये, सब कुछ का, हां, सब कुछ का– उदाहरणार्थ, सभी संवेदनों का, उनसे जो–जो प्रतिक्रियाएं उत्पन्न होती हैं उन सबका, संवेदन से मस्तिष्क की क्रिया का, और फिर संवेदनों के प्रति मस्तिष्क के प्रत्युत्तर का– सबका अध्ययन करना चाहिये। और इस प्रकार व्यक्ति अपनी संकल्प शक्ति, अपने संवेदनों को पूरी तरह नियंत्रित करने में इस हद तक सफल हो जाता है कि यदि व्यक्ति किसी वस्तु की अनुभूति नहीं चाहता, तो बस इतना ही काफी है कि वह अपनी संकल्प–शक्ति के द्वारा उसे काटकर अलग कर दे : तब वह उसे अनुभव ही नहीं करता। ऐसे कई अनुशासन हैं। कुछ तो तुम्हारे सारे जीवन–काल ही चलते रहते हैं, और यदि उनका भली–भांति अनुसरण किया जाय तो एक क्षण भी किसी का नष्ट नहीं होता और कार्य भी बड़ा रोचक हो जाता है। फिर आवेगों के लिये भी कोई अवकाश नहीं रहता, इससे सब आवेग दूर हो जाते हैं। जब व्यक्ति का अध्ययन सम्बंधी दृष्टिकोण वैज्ञानिक हो जाता है, तो वह उस कॉर्क के समान नहीं रह जाता जो लहरों के द्वारा इस ओर या उस ओर फेंक दिया जाता है। प्रकृति एक अस्थायी क्रिया होती है। प्रकृति, ओह! किस प्रकार वह मनुष्य के साथ क्रीड़ा करती है! हे भगवान्, जब तुम देखते हो कि वह कैसी है, ओह! यह व्यक्ति को विद्रोह करने को विवश करने के लिये काफी है। मुझे यह समझ में नहीं आता कि वे कैसे विद्रोह नहीं करते...। वह कामना की एक लहर भेजती है, और लोग भेड़ों के समान अपनी–अपनी इच्छाओं की ओर दौड़ पड़ते हैं; वह एक उग्रता की लहर भेजती है, और लोग फिर से भेड़ों के समान, भेड़धसान से उग्रता में ही निवास करने लगते हैं और इसी प्रकार हर चीज के साथ होता है। क्रोध–वह केवल एक छड़ी हिलाती है, और सब क्रोध ा के वश हो जाते हैं। उसे केवल एक संकेत करना होता है–अपनी सनक का संकेत– और जनसाधारण उसके पीछे दौड़ पड़ते हैं– अथवा यह वस्तु एक से दूसरे में भी प्रवेश कर जाती है, यूं ही; ऐसा क्यों होता है वे जान ही नहीं पाते। उनसे यदि पूछा जाय: "ऐसा क्यों हुआ?"–"हां तो, अचानक ही मुझे गुस्सा आ गया। अकस्मात् ही मुझमें यह प्रबल इच्छा पैदा हो गयी" ओह! यह लज्जाजनक है।[२]

इन्द्रियों का आत्म–विकास के लिए कैसे उपयोग किया जाए ?

कैसे ? लेकिन तुम संवेदनों के द्वारा– देखकर, निरीक्षण करके, सुनकर– ही तो सीखते हो। कक्षाएं तुम्हारे संवेदनों को विकसित करती हैं, अध्ययन तुम्हारे

---

२. मातृवाणी भाग ६ पृष्ठ ७८-८० (सच ही : एजूकेशन, भाग १, पृष्ठ १७४-७५)

संवेदनों को विकसित करता है, मन संवेदनों के द्वारा चीजें प्राप्त करता है। इन्द्रियों की शिक्षा से तुम्हारे सामान्य शिक्षण के विकास में सहायता मिलती है; अगर तुम ठीक तरह, एकदम यथार्थ रूप से देखना सीख लो; अगर तुम छूकर चीजों की प्रकृति को पहचानना सीख लो; अगर तुम घ्राण के द्वारा विभिन्न प्रकार की गंधों में फर्क करना सीख लो– यह सब शिक्षा के प्रबल साधन हैं। वास्तव में, उनका इस काम के लिये, अवलोकन, नियंत्रण और ज्ञान के लिए उपयोग होना चाहिये। अगर तुम काफी विकसित हो, तो तुम देखकर ही चीजों की प्रकृति जान सकते हो; घ्राण के द्वारा भी मूल्य जान सकते हो, चीजों के अलग–अलग स्वभाव जान सकते हो; स्पर्श से तुम चीजों को पहचान सकते हो। यह शिक्षा का सवाल है; यानी, इसके लिये तुम्हें मेहनत करनी होगी।

उदाहरण के लिये, साधारण आदमी और कलाकार की दृष्टि में बहुत भेद होता है। कलाकार के देखने की विधि साधारण आदमी की अपेक्षा बहुत ज्यादा सचेतन और पूर्ण होती है। अगर तुमने अपनी दृष्टि को प्रशिक्षित न किया हो, तो तुम अस्पष्ट और अयथार्थ रूप में देखते हो, उसे ठीक दृष्टि कहने की जगह छाप कह सकते हैं। कलाकार जब कुछ देखता है, जब उसने आंखों का उपयोग करना सीख लिया हो तो–उदाहरण के लिये, वह केवल एक रूप देखने की जगह जिसमें वह अस्पष्ट रूप से कह सकता है कि यह व्यक्ति इससे या उससे मिलता–जुलता है या नहीं– आकृति के वास्तविक ढांचे– को देखता है, विभिन्न भागों के अनुपात देखता है, यह देखता है कि आकृति सामंजस्यपूर्ण है या नहीं, और ऐसा क्यों है; और यह भी कि यह किस प्रकार का या रूप का या आकार का है; एक ही नजर में वह इस तरह की बहुत–सी चीजें देख लेता है, समझे, एक ही नजर में यह सब देख लेता है, और यह देखता है कि विभिन्न रूपों में क्या सम्बंध है।

जब तुम अपनी आंखों को यथार्थता के साथ देखने की शिक्षा दे लो, तुम ऐसा कर सकते हो; तुम आसानी से इस तरह देख सकोगे। उदाहरण के लिए, तुम्हें कोई चीज, एक वस्तु या अनेक वस्तुएं, किसी बक्से में रखनी हैं। साधारण आदमी को नाप का फीता लेना होगा और ठीक चीज जानने के लिये बक्से को नापना होगा। जिस आदमी की आंखें सधी हुई हैं वह जो चीजें रखनी हैं उन पर

नजर डालेगा और झट देख लेगा कि कौन–से बक्से की जरूरत है; या अगर कोई द्रव रखना हो, तो उसे बोतल के ठीक आकार का पता होगा, क्योंकि उसकी आंख को देखकर चीजें ठीक–ठीक नापने का अभ्यास है। एक और उदाहरण लो : तुम्हें किसी की उंगली पर अंगूठी पहनानी है। साधारण आदमी एक के बाद एक अंगूठियां पहनाकर देखने के लिए लिये बाधित होता है ताकि ठीक माप की अंगूठी निकल आये। जिसने अपनी आंखों को प्रशिक्षण दिया है वह उंगली की ओर देखेगा और फिर अंगूठियों पर नजर डालेगा; उसे धोखा नहीं हो सकता और वह तुरंत, भूल किये बिना, ऐसी अंगूठी उठा लेगा जो बिल्कुल ठीक आती हो। हां तो, आंखों के इस प्रशिक्षण की तरह कानों को भी शिक्षा दी जा सकती है, ताकि वे ध्वनियों और उनके विभिन्न प्रकारों में भेद कर सकें। यह घ्राण–शक्ति के लिये भी किया जा सकता है, ताकि भिन्न प्रकार की गंधों का पता लगाया जा सके; इसी तरह स्वाद के लिये भी यही बात है।

और अगर तुम चीजों के पास इस विचार से जाओ कि तुम उनका अध्ययन करोगे, दृष्टि की यथार्थता विकसित करोगे और चीजों के आपसी संबंध जानोगे, तो संवेदनों के लिए संवेदनों में जीने की जगह (यानी, "ओह, यह मोहक है" या "यह अप्रिय है", मुझे यह पसंद है, मुझे यह पसंद नहीं" आदि, बेवकूफियों में रहने की जगह), तुम चीजों के गुण, उनके उपयोग और आपसी सम्बंध का परिचय संवेदनों के अध्ययन से पा लोगे। इससे तुम जगत् के साथ पूर्णतया सचेतन रूप से नाता जोड़ सकोगे। हर चीज के लिये, छोटे–से–छोटे ब्योरे के लिए... उदाहरण के लिए, तुम्हें पकाना पड़ता है और तुम कोई अच्छा–सा पकवान बनाना चाहते हो। हां, तो अगर तुम्हारी इंद्रियां सधी हुई नहीं हैं तो तुम्हें यह परीक्षण करना होगा, वह परीक्षण करना होगा, फिर चखना होगा, ठीक करना होगा, और फिर व्यवस्था करनी होगी। अगर तुमने अपने स्वाद को प्रशिक्षित कर रखा है तो तुम भली–भांति जानते हो–स्वाद और गंध एक साथ, दोनों एक–दूसरे के बहुत नजदीक हैं और एक–दूसरे के पूरक हैं– तुम्हें पता होगा कि तुम किस प्रकार का भोजन पका रहे हो, तुम जो पका रहे हो उसकी गंध आयेगी और फिर, गंध के कारण और तुम जो बना रहे हो उसके स्वरूप के कारण तुम ठीक–ठीक जान जाओगे कि उसके स्वाद को पूरा करने के लिए और क्या मिलना चाहिये,

इस चीज या उस चीज, सब प्रकार की चीजों में से क्या डालना चाहिये, जो मिल जाय; उदाहरण के लिये, विभिन्न तरकारियां इस तरह कैसे मिलायी जायं कि सब मिलकर समान वस्तु तैयार हो। और तब तुम्हारे सामने एक ऐसा पकवान तैयार होगा जिसमें तुम्हें हर तीसरे मिनट यह देखने की जरूरत न होगी कि उसमें नमक मिर्च काफी है या नहीं, मक्खन तो ठीक है या ...। तुम्हें पता होगा कि ठीक क्या करना चाहिये और बिना भूल के तुम वही करोगे।

गंध के लिये भी यही बात है। उदाहरण के लिए, अगर तुमने अपनी घ्राणेन्द्रियों को प्रशिक्षित कर लिया है, तो तुम चीजों को उनके ठीक अनुपात में मिला सकते हो, उनकी प्रकृति जानकर... उदाहरण के लिये, किसी सुगंध की प्रकृति से परिचित होकर उससे मेल खाने वाली दूसरी सुगंध से मिला सकते हो...। फूलों को ले लो; उन्हें सूँघो। हां तो, ऐसी गंधें होती हैं जो आपस में मेल नहीं खातीं। अगर तुम उन्हें एक साथ रख दो तो ऐसी चीज बन जाती है जो अखरती है, जिसमें कोई ... सामंजस्य, कोई एकता नहीं। लेकिन अगर तुमने अपनी घ्राणेन्द्रियों को प्रशिक्षित कर रखा हो, तो जब तुम्हें एक अमुक गंध मिले तो तुम जान सकते हो कि और कौन–सी गंध उसके साथ मेल खाती है। और तुम उन चीजों को नजदीक ला सकोगे जो साथ जाने के लिये बनी हैं।

रंगों के बारे में भी वही बात है। रंगों की शिक्षा विस्तार और जटिलता, दोनों में बहुत विस्मयकारी है। अगर तुम सभी रंगों में भेद करना सीख लो, यह जानो कि कौन–सा रंग किस परिवार का है, वह किस प्रकार का सामंजस्य ला सकता है– तुम यह जान सकते हो, तो यह वही चीज होगी। तुम रंग की स्मृति भी उसी तरह रख सकते हो जैसे आकृति की स्मृति। तुम चाहते हो कि तुम्हारी सब चीजों में मेल हो... उदाहरण के लिये, तुम दो चीजों में मेल चाहते हो : ऊपरी कपड़े और स्कर्ट या ... का मेल देखना चाहते हो, या कोई भी चीज हो सकती है... या एक प्रकार के कपड़े का दूसरे प्रकार के कपड़े से मेल करना चाहते हो। साधारणतः तुम्हें एक कपड़ा लेकर दूसरों के पास रखना होता है; और अंत में, बहुत–से परीक्षणों के बाद, अगर तुम बहुत ज्यादा ही फूहड़ नहीं हो, तो तुम ठीक मेल बिठा लेते हो। लेकिन अगर तुम्हें रंगों का प्रशिक्षण प्राप्त हो, तो तुम रंग पर एक नजर डालते हो और बिना संकोच के, ठीक उसी रंग के पास जा पहुंचते हो जो इसके साथ मेल खाता है, क्योंकि तुम्हें इस रंग की प्रकृति अच्छी तरह याद रहती है और तुम उस रंग को ही अपनाते हो जो इसके साथ मेल खाता है।

लेकिन, देखो, तुम अपने–आपको प्रशिक्षित करने के लिये बहुत, बहुत प्रकार के ... खेल बना सकते हो है न ? तुम्हारे पास चीजों की एक पूरी श्रृंखला है, कोई भी चीज ले लो : अलग रंगों के कपड़े के टुकड़े, कागज के छोटे–छोटे टुकड़े, फीते के टुकड़े, कुछ भी। और फिर तुम उन्हें श्रृंखला बनाने के लिये एक क्रम में सजाओ, यह देखो कि उन्हें किस क्रम में रखना चाहिये। इसके साथ, कौन–सा जाना चाहिये? और इस दूसरे के साथ, कौन–सा जाना चाहिये ? और इसी तरह से। और तुम इस तरह निरंतर श्रृंखला बनाओ कि रंगों के एक छोर से दूसरे तक जा सको और बीच में कोई चीज चिल्लाये नहीं।

इस तरह की चीजें करने के लिए असंख्य अवसर हैं। तुम उनका उपयोग नहीं करते। लेकिन अगर तुम शिक्षा की दृष्टि से इस समस्या को देखो, तो तुम्हें हमेशा अपने–आपको शिक्षित करने के निरंतर अवसर मिलते रहते हैं, निरंतर। ऐसा लगता है कि लोग रस की दृष्टि से भयंकर भूलें करते हैं; अगर तुम कलात्मक सामंजस्य की दृष्टि से देखो, तो तुम बड़ी ही अंघव्यवस्था में रहते हो! रंगों के संबंघ को ही ले लो– और भी बहुत–सी चीजें हैं, आकारों का संबंध है जो इससे बढ़कर जटिल है– लेकिन रंगों का संबंघ : तुम एक रंग लेकर दूसरे के साथ रखो; अब इन रंगों के वर्ग आपस में नहीं मिलते। तब, अगर तुम्हें प्रशिक्षण नहीं मिला है, तो कई बार तुम्हें पता भी नहीं चलता। कभी–कभी तुम कहते हो: "ओह! यह बहुत सुन्दर नहीं है।" लेकिन तुम यह नहीं जानते कि क्यों, तुम कारण के बारे में जरा भी सचेत नहीं हो। लेकिन अगर तुम प्रशिक्षित हो, अगर तुम्हारी आंख सधी हुई है, तो पहले तो तुम कभी इस प्रकार की भूल करते ही नहीं, तुम कभी ऐसी दो चीजों को एक साथ नहीं लाते जो एक साथ नहीं जातीं; और अगर संयोगवश, तुम किसी और के शरीर पर ऐसे रंग देखो जो मेल नहीं खाते, तो तुम्हारे अंदर यह अस्पष्ट–सा भाव नहीं आता : "ओह, यह सुन्दर नहीं है, यह अच्छा नहीं है," एक अस्पष्ट–सी चीज... जिसमें तुम यह नहीं जानते कि यह क्यों सुन्दर नहीं है, क्यों सुखद नहीं है। और ठीक इसी कारण कि एक रंग एक वर्ग का है, और दूसरा, दूसरे वर्ग का, और अगर तुम भिन्न वर्गों वाले रंगों को बिना सामंजस्य लाने वाले मध्यवर्ती रंगों के साथ, एक साथ ले आओ, तो वे चिल्लाते हैं। तुम तुरंत उपचार खोज सकते हो क्योंकि तुम जानते हो कि दोष कहां है।

हां तो, आकारों के दृष्टिकोण से भी यही बात है, समझे। तुम एक कमरा सजाते हो। तुम किसी भी चीज को किसी भी जगह रख देते हो और तब, जब कोई सामंजस्य की भावना वाला उसमें घुसता है, तो उसे बेचेनी–सी होती है। उसे लगता है कि वह एक अव्यवस्था में घुस रहा है। लेकिन अगर तुम्हारे अंदर रंग और आकार का भाव है, तो तुम्हें उसमें व्यवस्था और प्रबंध का भाव भी जोड़ देना चाहिये; लेकिन तो भी, व्यवस्था और प्रबन्ध के उपयोगितावादी के भान के बिना भी, अगर तुम्हारे अंदर सच्चे रूप का भान है– रूप और आकार का भान है कि कौन–सा किसके साथ सामंजस्य रखता है, कौन–सा किसका पूरक है, और रंगों में कौन–से एक–दूसरे के पूरक और आपस में सामंजस्य रखते हैं– तब अगर तुम्हें एक कमरा सजाना हो, तो भले ही तुम्हारे पास फर्नीचर की तीन ही चीजें हों, तुम उन्हें ठीक जगह रखोगे। लेकिन अधिकतर लोग नहीं जानते, इससे उनके लिये कोई फर्क नहीं पड़ता। वे केवल एक ही चीज के बारे में सोचते हैं : "ओह, इस चीज को यहां रखने से ज्यादा सुविधा रहेगी,. उस चीज को वहां रखने से ज्यादा आराम रहेगा!" और फिर, कभी–कभी तो वे यह भी नहीं सोचते, चीजों को जहां–तहां डाल देते हैं।

लेकिन जब वे अपने कमरे में घुसते हैं, उस जगह जहां उन्हें दिन के कई घंटे बिताने होते हैं, तो वे एक अव्यवस्था और अव्यवस्था में घुसते हैं; और अगर वे संवेदनशील नहीं है तो उन्हें इसका पता भी नहीं चलता, उन्हें बेचैनी नहीं होती। बहरहाल, यह उनके अन्दर सामंजस्य लाने में सहायक नहीं होता; जब कि अगर तुम्हारे पास...। तुम्हारे पास ऐसा कमरा है; इस कमरे में, जिसकी अमुक लम्बाई–चौड़ाई है, तुम्हें अमुक संख्या में फर्नीचर या चीजें रखनी हैं, न अधिक, न कम; और उन्हें किसी विशेष ढंग से सजाना है। उदाहरण के लिये, एक रेखाओं का सामंजस्य होता है, है न; अब अगर तुम चीजों को रेखाओं का सामंजस्य देखे बिना ही रख दो, तो तुरंत ऐसा लगेगा मानो कोई चीज जोर से चिल्ला रही है। लेकिन अगर तुम यह जानते हो कि कहां गोलाई की जरूरत है और कहां कोण की, कहां किसी छोटी चीज की जरूरत है, और कहां बड़ी की, और तुम चीजों को व्यवस्था में रखो...। फर्नीचर की बस, चार चीजें लो : तुम उन्हें ठीक स्थान पर रख सकते हो या गलत स्थान पर; और होता यह है कि अगर तुम्हारे अन्दर सचमुच सुरुचि है और तुम भली–भांति प्रशिक्षित हो, तो

तुम्हारी व्यवस्था न केवल सामंजस्यपूर्ण बल्कि पूर्णतया व्यावहारिक भी होगी। कुछ लोग, है न, एक छोटे–से स्थान में बहुत सारी चीजें इकट्ठी कर लेते हैं और उन्हें इतनी भद्दी तरह रखते हैं कि वे किसी चीज से टकराये बिना हिल–डुल भी नहीं सकते।

मैं इस तरह के लोगों को जानती हूँ। वे अपने कमरे में घुसते हैं और अपना समय इस या उस चीज के साथ टकराने में लगा देते हैं; तो उन्हें जिस चीज की जरूरत हो उसका उपयोग कर सकने के लिये गोल–गोल चक्कर लगाने होते हैं और नाना प्रकार की असाधारण कलाबाजियां करनी होती हैं। और वे इस बारे में सोचते भी नहीं, वे उसके बारे में सोचते भी नहीं, बस, ऐसा हो गया. .. अधिकतर लोग इतने निश्चेतन होते हैं कि जब उनसे पूछा जाय : "ऐसा क्यों है?" तो कह देते हैं : "ऐसा हो गया, ऐसा ही है।" तो यह हो गया, अचानक! और वे अपना सारा जीवन "अचानक" जीते हैं, चीजें इस तरह हो जाती हैं...। हां तो, यह वास्तव में इन्द्रियों की शिक्षा के अभाव के कारण है। अगर तुम उन्हें वास्तव में सच्चे ढंग से प्रशिक्षित कर सको, तो सबसे पहले तो तुम तुरंत इस असह्य चीज से बच जाते हो : "यह सुखद है, वह दुःखद है, यह प्रिय है, वह अप्रिय है. ..। ओह, कैसा अप्रिय संवेदन!" तुम्हें पता नहीं होता कि क्यों, फिर भी, यह ठीक ऐसा ही है। और फिर अचानक : "आहा!, यह कैसा सुखद है!"

और फिर, कोई चीज तुम्हें अच्छी लगती है इसलिये तुम बहुत अधिक खा जाते हो, और अपने–आपको बीमार कर लेते हो। या फिर कोई उपचार इसलिये नहीं कर सकते क्योंकि वह अप्रिय है और तब... तुम्हारे पास कोई उपचार है भी नहीं – मेरा मतलब ऐसी चीज से है जो सचमुच उपचार करे! बहुत बार मुझे लोगों से कहना पड़ता है : "लेकिन तुम यह क्यों नहीं लेते ?"–"ओह!, यह इतना बुरा है!" लेकिन अगर उससे फायदा होता है, तो वह तुम्हें बुरा न लगना चाहिये। अगर तुम सचेतन हो, तो तुम्हें उसके फायदे का अनुभव करना चाहिये और इससे वह तुम्हें बुरा न लगेगा।

इन्द्रियों के ज्ञान का अभाव तुम्हें इस प्रकार की संवेदना में फेंक देता है। हां, तुम बहुत छोटी अवस्था में यह प्रशिक्षण शुरू कर सकते हो, बहुत ही छोटी, और तुम उसे सौ वर्ष के ऊपर भी चला सकते हो। और फिर, सचमुच, अपने

अंदर, शुरू के लिये, तुम कभी बूढ़े नहीं होते क्योंकि यह हमेशा रुचिकर रहता है और तुम हमेशा प्रगति करते रहते हो; और अंत में, कुछ समय बाद, बहुत समय नहीं, लगभग बीस साल में– यह अधिक नहीं है– तुम अपनी इन्द्रियों को तर्कसंगत, बुद्धिमत्तापूर्ण, उपयोगी ढंग से काम में लाना सीख जाते हो और इससे तुम्हें संसार के साथ सचेतन रूप से संपर्क में आने में सहायता मिलती है। अन्यथा हो सकता है कि तुम आधे–अंधे लोगों की तरह अंधकार में, उस तरह (संकेत) टटोलते घूमते हो, तुम रास्ता ढूंढने की कोशिश करते हो और हर कदम पर किसी–न–किसी चीज से टकराते हो। या फिर, तुम गलत रास्ता पकड़ लेते हो और फिर नये सिरे से शुरू करना पड़ता है। तुम भूल करते हो, तो उसे ठीक कर लेना चाहिये। और मैं कहती हूं, यह एक छोटी सी कसरत की तरह है जो तुम किसी समय कर सकते हो... "यह ऐसा क्यों है ? तुमने ऐसा क्यों किया?" – "मुझे पता नहीं।"– "तुमने इसे यूं क्यों रखा ?"–"पता नहीं।" अगर तुम अपने साथ ईमानदार हो, तो तुम्हें अपने–आपको दिन में सौ बार यही उत्तर देना होगा : "पता नहीं।"

मुझे नहीं लगता कि सौ में से एक भी व्यक्ति ऐसा है जो चीजें सचेतन रूप से और जानबूझकर करता है, जो सुरुचि या सामंजस्य के आन्तरिक तत्त्व के साथ एक लय होता है। ऐसे लोग हैं, परंतु बहुत नहीं, बहुत ज्यादा नहीं। और ऐसे लोग भी जिनमें सहज सुरुचि है (ऐसे लोग होते हैं जिनमें सुरुचि सहज स्वाभाविक होती है, जन्म से ही उनकी इन्द्रियां सुसंस्कृत होती हैं– उन्हें हमेशा अपने माता–पिता के प्रति कुछ कृतज्ञता प्रकाशित करनी चाहिये, क्योंकि यह बहुत ही विरल चीज है और वे अवश्य किसी शुभ नक्षत्र में पैदा हुए होंगे), ये लोग भी प्रशिक्षण के द्वारा असाधारण पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं। अवलोकन की क्षमता को विकसित करने के लिये, आजकल कसरतें की जाती हैं– यह फैशन है। मेरा ख्याल है... मुझे पता नहीं शायद ये तुमसे भी करवायी जाती हों, सब प्रकार की भांति–भांति की कसरतें; उदाहरण के लिये, एक मेज पर कुछ चीजों की एक संख्या रख दी जाती है, उस तरह। और फिर विद्यार्थियों को बुलाया जाता है–अमुक चीजों को अमुक स्थानों पर रखा जाता है : विद्यार्थी आते हैं, कुछ सेकंड रहते हैं और फिर से चले जाते हैं और तब उनसे पूछा जाता है कि मेज पर क्या था। अब यह देखने में मजा आता है कि किसने क्या देखा। हां,

उन्हें पता होता है कि उन्हें कुछ देखना है; उन्हें पहले से सूचना दे दी जाती है, अचानक आश्चर्यचकित नहीं किया जाता । उन्हें सूचना होती है, उनसे कहा जाता है : "तुम्हें देखना है।"

हां तो जो ठीक–ठीक बता सकते हैं कि कितनी चीजें कहां–कहां थीं, वे प्रथम श्रेणी के हैं। तुम अपने लिये इसे कसरत के रूप में कर सकते हो, यह बहुत मजेदार है। तुम कहीं जाते हो... तुम किसी मित्र के घर जाते हो और फिर कुछ देर बाद बाहर आकर अपने से पूछते हो : "फर्नीचर कहां था ? उसे किस तरह सजाया गया था ? मेज पर क्या–क्या चीजें थीं ?" तुम देख सकोगे कि तुम्हें याद है या नहीं, तुमने चीजों को ठीक तरह देखा है या नहीं। पर्दों का रंग कैसा था ? तकियों का रंग क्या था ? ऐसी सब तरह की चीजें; यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसका कोई अन्त नहीं।[१]

---

१ मातृवाणी भाग ६ पृष्ठ ८२-८९ (साथ ही : एजूकेशन, भाग १, पृष्ठ १७६-१८२)

अध्याय–७

मन की शिक्षा

सब प्रकार की शिक्षाओं में सबसे अधिक प्रचलित है मन की शिक्षा। तो भी, कुछ एक अपवादों को छोड़कर, साधारणतः, इसमें ऐसे छिद्र रह जाते हैं जो इसे बहुत ही अपूर्ण और अंत में एकदम निरर्थक बना देते हैं।

मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि शिक्षा का अर्थ लोग समझते हैं मन की आवश्यक शिक्षा। बच्चे को कुछ वर्ष एक कठोर शिक्षा–पद्धति के अनुसार शिक्षा दे चुकने पर, जो उसके मस्तिष्क को प्रबुद्ध करने की अपेक्षा कहीं अधिक उसमें ज्ञान–सामग्री को ठूंस देती है, हम समझ लेते हैं कि उसके मानसिक विकास के लिये जो कुछ करना आवश्यक था वह पूरा हो गया। पर बात ऐसी नहीं है। अगर शिक्षा समुचित मात्रा में और विचार–विवेक के साथ दी भी जाती है और वह मस्तिष्क को कोई हानि नहीं पहुँचाती, तो भी वह मानव मन को वे सब क्षमताएं नहीं दे पाती जो उसे एक अच्छा और उपयोगी यंत्र बनाने के लिए आवश्यक है। साधारणतया, जो शिक्षा बच्चों को दी जाती है वह, अधिक–से–अधिक शारीरिक व्यायाम की तरह मस्तिष्क की नमनीयता को बढ़ा सकती है। इस दृष्टिकोण से देखें तो, मानवीय विद्या की प्रत्येक शाखा ही एक विशेष प्रकार का मानसिक व्यायाम होती है, और इन सब शाखा–प्रशाखाओं में से प्रत्येक के अंदर जिस शब्दावली का प्रयोग किया जाता है वह उस शाखा की अपनी विशेष और सुनिश्चित भाषा होती है।

मन की सच्ची शिक्षा के, उस शिक्षा के जो मनुष्य को एक उच्चतर जीवन के लिये तैयार करेगी, पांच प्रधान अंग हैं। साधारणतया ये अंग एक के बाद एक आते हैं, पर विशेष व्यक्तियों में वे अदल-बदलकर या एक साथ भी आ सकते हैं। वे पांचों अंग, संक्षेप में इस प्रकार हैं :

१) एकाग्रता की शक्ति का, मनोयोग की क्षमता का विकास करना।

२) मन को व्यापक, विशाल, बहुविध और समृद्ध बनाने की क्षमताएं विकसित करना।

३) जो केंद्रीय विचार या उच्चतर आदर्श या परमोज्ज्वल भावना जीवन में पथ-प्रदर्शक का काम करेगी उसे केंद्र बनाकर समस्त विचारों को सुसंगठित करना।

४) विचारों को संयमित करना, अनिष्ट विचारों का त्याग करना, ताकि मनुष्य अंत में, जैसा चाहे वैसा और जब चाहे तब विचार कर सके।

५) मानसिक निश्चलता का, परिपूर्ण शांति का और सत्ता के उच्चतर क्षेत्रों से आनेवाली अंतःप्रेरणाओं को अधिकाधिक पूर्णता के साथ ग्रहण करने की क्षमता का विकास करना।

शिक्षा के इन अंगों को कार्यान्वित करने के लिये भिन्न व्यक्तियों के लिये जिन पद्धतियों का व्यवहार किया जा सकता है उन सबका पूरा ब्योरा देना तो यहां संभव नहीं है, पर फिर भी कुछ व्याख्यात्मक सूचनाएं दी जा सकती हैं।

यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि बच्चे की मानसिक उन्नति को जो चीज सबसे अधिक बाधा पहुंचाती है वह है उसके विचारों का निरंतर विक्षिप्त होते रहना। बालक का विचार तितली की तरह इधर-उधर उड़ता रहता है और उसे एकाग्र करने के लिए उसे अपनी ओर से महान प्रयास करने की आवश्यकता होती है। और फिर भी यह क्षमता उसमें गुप्त रूप से विद्यमान है क्योंकि जब तुम किसी चीज में उसकी दिलचस्पी पैदा कर पाते हो तब वह काफी हद तक ध्यान जमाने में समर्थ हो जाता है। अतएव, यह शिक्षक की चतुराई पर निर्भर करता है कि वह धीरे-धीरे बच्चे के अंदर ध्यान जमाने के लिये निरंतर एक समान

प्रयास करने और कोई कार्य करते समय उसमें अधिकाधिक पूर्णता के साथ डूब जाने की क्षमता और योग्यता पैदा करे। ध्यान एकाग्र करने की इस क्षमता को विकसित करने वाले सभी साधन अच्छे हैं ; आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार खेल से आरंभ कर पारितोषिक तक सभी काम में लाये जा सकते हैं। पर अत्यंत-महत्त्वपूर्ण चीज है मनोवैज्ञानिक क्रिया। सर्वप्रधान साधन यह है कि जो चीज हम बच्चे को सिखाना चाहते हैं उसमें उसकी दिलचस्पी उत्पन्न कर दें, कार्य करने की रुचि, उन्नति करने की इच्छा जगा दें। बच्चे को देने योग्य सबसे मूल्यवान् उपहार यही है कि हम उसमें सीखने का अनुराग, सर्वदा और सर्वत्र सीखने का अनुराग पैदा कर दें ताकि उसके लिये जीवन की सभी परिस्थितियां, सभी घटनाएं अधिक और सदा अधिकाधिक सीखते रहने के लिये नित्य नवीन अवसर बन जायें।

इसके लिए सजगता और एकाग्रता के अतिरिक्त निरीक्षण, यथार्थ अंकन तथा विश्वस्त स्मरणशक्ति भी पैदा करनी चाहिये। निरीक्षण की क्षमता का विकास विभिन्न प्रकार के और स्वाभाविक अभ्यासों के द्वारा, बच्चे के विचार को सजग, सतर्क और स्फूर्तिमान बनाये रखने में सहायता देने वाले सभी सुअवसरों का उपयोग करके किया जा सकता है। स्मरण–शक्ति की अपेक्षा उसकी बोध–शक्ति को बढ़ाने पर बहुत अधिक बल देना चाहिये। मनुष्य केवल वही जानता है जिसे वह समझता है। जो चीज मनुष्य यंत्र की तरह रट लेता है वह धीरे–धीरे धुंधली होती जाती है और अंत में विलीन हो जाती है। जो कुछ तुम समझ जाते हो उसे तुम कभी नहीं भूलते। कोई भी चीज कैसे और क्यों होती है यह बच्चे को समझाने में तुम्हें कभी आनाकानी नहीं करनी चाहिये। अगर तुम स्वयं न समझा सको तो तुम्हें उसे किसी ऐसे व्यक्ति के पास भेज देना चाहिये जो उसका उत्तर देने योग्य ज्ञान रखता हो अथवा उस प्रश्न से संबंध रखनेवाली पुस्तकें दे देनी चाहिये। बस, इसी तरह तुम धीरे–धीरे बच्चे में सच्चे अध्ययन की रुचि तथा ज्ञान–प्राप्ति के लिये अथक प्रयत्न करने की आदत जगा सकते हो।

इस तरह स्वाभावतः हम विकास के दूसरे स्तर में आ जायेंगे जहां पर मन अपने को विस्तारित और समृद्ध बनायेगा।

जैसे–जैसे बच्चा उन्नति करे वैसे–वैसे तुम उसे यह दिखलाओगे कि किस प्रकार प्रत्येक चीज अध्ययन का सुन्दर विषय बन सकती है, बशर्ते कि प्रश्न पर ठीक ढंग से विचार किया जाय। प्रत्येक दिन, प्रत्येक मुहूर्त्त का जीवन समस्त पाठशालाओं से बढ़कर होता है ; वह होता है बहुविध और जटिल, अदृष्टपूर्व अनुभवों से, समाधान के लिये प्रस्तुत समस्याओं से, स्पष्ट और प्रभावक उदाहरणों से तथा प्रत्यक्ष परिणामों से भरा–पूरा। अगर तुम बच्चों के पूछे हुए असंख्य प्रश्नों का बुद्धिमानी तथा स्पष्टता के साथ उत्तर दे सको तो उनमें बड़ी आसानी से एक स्वस्थ–सुन्दर खोज की वृत्ति जगायी जा सकती है। कोई भी मजेदार उत्तर अपनी श्रृंखला में अन्यान्य चीजों को खींच ले आता है और बच्चा, अपना ध्यान आकृष्ट होने के कारण, बिना किसी प्रयास के ही बहुत अधिक, पाठशाला में बैठकर साधारणतया जो कुछ सीखता है उससे बहुत अधिक सीख जाता है। सावधानी तथा बुद्धिमानी के साथ पुस्तकों का चुनाव करने से भी बच्चे में लाभदायक चीजें पढ़ने की रुचि उत्पन्न होती है जो एक साथ ही शिक्षाप्रद और आकर्षक होती है। तुम्हें ऐसी किसी चीज से डरना नहीं चाहिये जो बच्चे की कल्पना–शक्ति को जगाती और संतुष्ट करती है ; कल्पना ही वह चीज है जो सर्जनशील मानसिक वृत्ति को विकसित करती है तथा यही वह चीज है जो अध्ययन को एक सजीव वस्तु बना देती है और जिससे मन आनंद के साथ वर्द्धित होता है।

मन की नमनीयता और विशालता बढ़ाने के लिये हमें केवल अनेक और बहुविध विषयों के अध्ययन की ओर ही नहीं, बल्कि, विशेषकर, एक ही विषय पर विभिन्न दिशाओं से विचार करने की ओर ध्यान देना चाहिये। ऐसा करने से बालक व्यावहारिक तरीके से यह समझ जायगा कि एक ही बौद्धिक समस्या का सामना, निपटारा तथा समाधान करने के बहुतेरे रास्ते हैं। इस तरह उसका मस्तिष्क सब प्रकार की कठोरता से मुक्त हो जायगा और, साथ–ही–साथ, उसकी चिंतनशक्ति अधिक समृद्ध तथा नमनीय हो जायगी और कहीं अधिक बहुमुखी एवं व्यापक समन्वय के लिये तैयार हो जायगी। इस तरीके से बच्चे में यह भाव भी भरा जा सकता है कि मानसिक ज्ञान अत्यंत आपेक्षिक वस्तु है और फिर धीरे–धीरे ज्ञान के एक अधिक सच्चे उद्‌गम के लिये उसमें अभीप्सा जगायी जा सकती है।

निःसंदेह, जैसे–जैसे बच्चा अपने अध्ययन में अग्रसर होता है और उम्र में बड़ा होता है, वैसे–वैसे उसका मन भी परिपक्व होता है और सामान्य भावनाओं को ग्रहण करने में अधिकाधिक सक्षम होता है ; और फिर इसके साथ–साथ सदैव निश्चयात्मक भाव की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है, एक ज्ञान की आवश्यकता महसूस होती है जो इतना अधिक स्थायी हो कि उसे आधार बनाकर एक मानसिक रचना तैयार की जा सके — ऐसी रचना तैयार की जा सके जो मस्तिष्क में एकत्र हुई सभी भिन्न और अस्त–व्यस्त और बहुधा विरोधी भावनाओं को सुव्यवस्थित तथा क्रमबद्ध करने दे। निश्चय ही, यदि हम अपने विचारों की अस्तव्यस्तता से बचना चाहें तो उन्हें इस प्रकार क्रमबद्ध करना बहुत ही आवश्यक है। सभी विरोधी चीजें प्रतिपूरक चीजों में रूपांतरित हो सकती हैं; पर उसके लिये हमें एक ऐसी उच्चतर भावना को ढूंढ निकालना होगा जो उन्हें सुसमंजस बनाने में समर्थ हो। यह सदा ही अच्छा है कि सभी समस्याओं पर संभाव्य सभी दृष्टिकोणों से विचार किया जाय ताकि पक्षपात और संकीर्णता से बचा जाय ; पर अगर हमारे विचार को सक्रिय और सृजनात्मक होना हो तो उसे, प्रत्येक क्षेत्र में, गृहीत सभी दृष्टिकोणों का एक स्वाभाविक और युक्तिसंगत समन्वय होना चाहिये। अगर तुम्हें अपने सभी विचारों को एक साथ शक्तिशाली तथा निर्माणकारी शक्ति का रूप देना हो तो तुम्हें अपने मानसिक समन्वय की केंद्रीय भावना को चुनने में बहुत सावधानी रखनी चाहिये ; क्योंकि उसी के ऊपर तुम्हारे समन्वय का मूल्य निर्भर करेगा। जितनी ही ऊंची और विशाल तुम्हारी केंद्रीय भावना होगी और जितनी ही अधिक वह विश्वजनीन होगी, काल और देश से ऊपर उठी हुई होगी, उतनी ही अधिक और जटिल भावनाओं, धारणाओं और विचारों को वह सुव्यवस्थित और सुसमंजस बनाने में समर्थ होगी।

कहने की आवश्यकता नहीं कि व्यवस्थित करने का कार्य तुरंत पूरा–का–पूरा नहीं किया जा सकता। मन को, अगर उसे अपने बल और यौवन को बनाये रखना है तो, नित्य–निरंतर उन्नत होना होगा, सभी नये–नये ज्ञानों के प्रकाश में अपनी मान्यताओं को सुधारते रहना होगा, नयी मान्यताओं को शामिल करने के लिये अपने क्षेत्र को बढ़ाना होगा और इसके लिये अपने विचारों को फिर से श्रेणीबद्ध और सुसंगठित करना होगा ताकि उनमें से प्रत्येक विचार को, दूसरों के साथ उसके संबंध को देखते हुए, अपना समुचित स्थान प्राप्त हो और इस तरह

समूचा विचार–समुदाय सुसमंजस और सुव्यवस्थित हो जाय।

परंतु हमने अब तक जो कुछ कहा है वह सब चिंतनशील मन से संबंध रखता है, उस मन से संबंध रखता है जो ज्ञान प्राप्त करता है। पर ज्ञानार्जन मानसिक कार्य का केवल एक अंग है ; कम–से–कम इतना ही प्रधान दूसरा अंग है रचनात्मक वृत्ति, रूप देखने की क्षमता और इसलिये कार्य के लिये तैयारी करने की क्षमता। मानसिक कार्य के इस अंश को, यद्यपि यह है बहुत ही महत्त्वपूर्ण, बहुत कम लोगों ने ही विशेष अध्ययन या अनुशीलन का विषय बनाया है। केवल वही लोग जो किसी कारणवश अपनी मानसिक क्रियाओं पर कठोर नियंत्रण करना चाहते हैं, इस रचनात्मक वृत्ति का निरीक्षण और अनुशासन करने की बात सोचते हैं ; और फिर, जब वे इसके लिये प्रयास करने लगते हैं तब ऐसी महान् कठिनाइयां उनके सामने खड़ी हो जाती हैं जो अलंघ्य प्रतीत होती हैं।

फिर भी मन की इस रचनात्मक क्रिया के ऊपर संयम स्थापित करना आत्म–शिक्षण का अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग है ; यहां तक कहा जा सकता है कि इसके बिना किसी भी प्रकार का मानसिक प्रभुत्व पाना संभव नहीं। अध्ययन का जहां तक संबंध है, सभी विचार स्वीकार करने योग्य हैं और उन सबको उस समन्वय के अंदर ले आना चाहिये जिसका कार्य ही होगा अधिकाधिक समृद्ध और बहुविध होना ; पर, कार्य का जहां तक संबंध है, बात इससे एकदम भिन्न होगी। जिन विचारों को हम स्वीकार करेंगे उन्हें कार्य रूप में परिणत करने के लिये हमें उन पर कठोर संयम स्थापित करना होगा। हमारे मानसिक समन्वय के आधारभूत केंद्रीय विचार का साधारण झुकाव जिस ओर हो, उसी के साथ मेल खानेवाली भावनाओं को हमें कार्यरूप में अभिव्यक्त होने देना चाहिये। इसका अर्थ होता है कि हमारी मानसिक चेतना में जो भी विचार प्रवेश करे उसे हमें केंद्रीय भावना के सामने ला रखना चाहिये। और अब तक एकत्र किये हुए विचारों के बीच में अगर उस विचार को अपना समुचित स्थान प्राप्त हो जाय तो उसे समन्वय के अंदर शामिल करना चाहिये ; अगर उसे अपना समुचित स्थान प्राप्त न हो तो उसे बाहर फेंक देना चाहिये ताकि वह कार्य के ऊपर कोई प्रभाव न डाल सके। मानसिक पवित्रीकरण का यह कार्य खूब नियमित रूप से करना चाहिये और तभी अपने कार्यों के ऊपर हमारा पूर्ण अधिकार सुरक्षित रह सकता है।

इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये उत्तम यह है कि थोड़ा–सा समय दैनिक रूप में नियत रखा जाय जब हम अपने विचारों को चुपचाप देखें और अपने समन्वय के भीतर यथास्थान सजाकर रखें। एक बार जहां इस बात–की आदत पड़ गयी कि फिर तुम अपने विचारों के ऊपर, कार्यादि के भीतर भी, संयम बनाये रख सकोगे और इस योग्य हो जाओगे कि जो कार्य तुम कर रहे हो उसके लिये जो विचार उपयोगी नहीं हैं उन्हें सामने न आने दो। विशेषकर, यदि सजगता और एकाग्रता की शक्ति को निरंतर बढ़ाया जाय तो, हमारी बाह्य सक्रिय चेतना केवल उन्हीं विचारों को आने देगी जिनकी आवश्यकता होगी और तब वे सब–के–सब अधिक शक्ति–संपन्न और फलोत्पादक हो जायंगे। और अगर, एकाग्रता तीव्र हो जाने पर, यह आवश्यक हो कि चिंतन बिलकुल किया ही न जाय, तो समस्त मानसिक प्रकंपन बंद करके प्रायः पूर्ण निश्चल–नीरवता प्राप्त की जा सकती है। इस निश्चल–नीरवता के अंदर मनुष्य धीरे–धीरे उच्चतर मानस क्षेत्रों की ओर खुल सकता है और वहां से जो अंतःप्रेरणाएं आती हैं उन्हें स्मरण रखना सीख सकता है।

परंतु इस अवस्था के प्राप्त होने से पहले भी निश्चल–नीरवता अपने–आप में अत्यंत उपयोगी चीज है। जिन लोगों का मन कुछ विकसित और क्रियाशील होता है उनमें से अधिकांश का मन कभी शांत नहीं रहता। दिन के समय, उसकी क्रिया पर एक प्रकार का संयम रहता है ; पर रात के समय, शरीर की निद्रा की अवस्था में, जाग्रत अवस्था के संयम के प्रायः संपूर्ण रूप में हट जाने पर, मन अत्यधिक क्रियाशील हो जाता है और उसकी सारी क्रियाएं बहुधा असंबद्ध होती हैं। इसके कारण मन पर एक प्रकार का जोर पड़ता है जो अंत में थकावट ले आता है और मानसिक शक्तियों को कम कर देता है।

असली बात यह है कि मानव सत्ता के अन्य सभी भागों की तरह मन को भी विश्राम की आवश्यकता होती है और उसे यह विश्राम तब तक नहीं मिल सकता जब तक कि हम यह न जान लें कि यह दिया कैसे जाता है। अपने मन को विश्राम देने की कला एक ऐसी चीज है जो हमें अवश्य अर्जित करनी चाहिये। मन को विश्राम देने का एक तरीका है मन के कार्य को बदलते रहना; परंतु सबसे अधिक विश्राम की संभावना विद्यमान है निश्चल–नीरवता–के अंदर।

जहां तक मानसिक वृत्तियों का संबंध है, निश्चल–नीरवता की शांति में कुछ मिनट बिताने का अर्थ होता है घंटो सोने की अपेक्षा कहीं अधिक लाभदायी विश्राम लेना।

जब हम अपनी इच्छानुसार मन को निश्चल–नीरव बनाना और ग्रहणशील निश्चल–नीरवता में उसे एकाग्र करना सीख जायेंगे तब ऐसी कोई समस्या नहीं रह जायगी जिसे हम हल न कर सकें, कोई ऐसी मानसिक कठिनाई नहीं रह जायगी जिसका कोई समाधान न प्राप्त हो जाय। जब विचार चंचल होता है तब वह अस्त–व्यस्त और शक्तिहीन हो जाता है ; सजग शांति के अंदर ही ज्योति प्रकट हो सकती है और मनुष्य की क्षमताओं के नवीन क्षेत्रों को उन्मुक्त कर सकती है।[1]

---

[1] दि मदर, शिक्षा के सम्बन्ध में श्री अरविन्दो और श्री माँ (साथ ही: मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ २४ से २६ तक)

मानसिक शिक्षा

मन के विकास की ५ अवस्थायें

0 धारणा शक्ति, ध्यान की क्षमता

0 मन की प्रसारता, विशालता जटिलता एवं बहुलता

0 एक केन्द्रीय विषय के चारों ओर विचारों का सुनियोजन

0 विचारों का संयम, अनावश्यक विचारों का त्याग

0 मानसिक नीरवता का विकास

मन की शक्तियों का विकास

0 धारणा एवं ध्यान

0 दर्शन

0 तर्क

0 कल्पना

0 परख

0 स्मृति

रेखाचित्र ४[२]

२ नॉस्टिक सेंटर

अध्याय–८

मन का प्रशिक्षण कैसे करें?

हम कोई भी काम क्यों न लें – अध्ययन, अध्यापन, सीखना. . .उसका असली मूल्य हमारी मानवीय विद्याओं के विकास में मदद देने में है। श्रीमाँ के शब्दों में. . .

अगर तुम अपना निरीक्षण करो तो तुम देखोगे कि हमेशा तुम्हें एक चीज इस ओर खींचती है और दूसरी चीज उस ओर खींचती है, और फिर इस तरह की अस्पष्टता मानों तुम रुई के फाहों में रह रहे हो, बादलों में रह रहे हो, कुछ भी स्पष्ट नहीं है।

काम का उपयोग इसके सिवाय कुछ नहीं है : वह तुम्हारी मानसिक शक्तियों को निश्चित रूप देता है। क्योंकि, तुम जो कुछ सीखते हो (अगर तुम उसे किसी कम या अधिक गहरे अध्ययन द्वारा व्यवहार में न लाओ), तो जो कुछ तुमने सीखा है उसका कम–से–कम आधा भाग तो समय के साथ उड़ जाएगा। लेकिन वह एक चीज अपने पीछे छोड़ जाएगा। अपने विचार को निश्चित रूप देने की क्षमता, उसमें से कोई सुनिश्चित, यथार्थ और संगठित चीज बनाने की क्षमता और काम का सच्चा उपयोग यही है, तुम्हारे मस्तिष्क की क्षमता को व्यवस्थित करना।[1]

---

१. मातृवाणी, भाग-६, पृष्ठ ११९, १२०

अतः मन का प्रशिक्षण, शिक्षा का एक प्रमुख लक्ष्य होना चाहिए – मस्तिष्क को मात्र सूचनाओं एवं तथ्यों से भर देना नहीं, बल्कि क्रमबद्ध रूप में अन्यान्य विद्याओं, क्षमताओं एवं मन की क्रियाओं का प्रशिक्षण।

इस अध्याय के ये भाग हैं :–

- मन के प्रशिक्षण की आवश्यकता
- मानसिक विद्याओं का प्रशिक्षण
- मानसिक कठिनाइयों के साथ निपटना
- मानसिक क्षमताओं का संवर्धन

मन के प्रशिक्षण की आवश्यकता

बुद्धि को सुसंस्कृत करने का क्या महत्त्व है?

"संसार की रचना इस ढंग से हुई है – कम से कम अब तक तो ऐसा ही देखा जाता है, पर हम आशा करते हैं कि ऐसा अधिक दिन तक आगे नहीं रहेगा – कि ऐसा व्यक्ति जो सुसंस्कृत नहीं है, और एकाएक कई विचारों के सम्पर्क में आता है तो बहुधा वह गलत विचारों का ही चुनाव करता है।

और ऐसा बच्चा जो शिक्षित नहीं होता, हमेशा कुसंगति का ही चुनाव करता है। यह ऐसी चीज है जिसका मैं ठोस रूप में लगातार अनुभव कर रही हूँ। अगर आप एक बच्चे को विशेष वातावरण में रखें और बचपन से ही उसके भीतर उस विशिष्ट वातावरण व विशेष पवित्रता का प्रभाव डालें तो उसे गलत चुनाव न करने का अवसर मिलता है। लेकिन यदि बच्चे को सांसारिक वातावरण से जैसा कि वह है, सीधे निकाल कर ऐसे समाज में प्रविष्ट कराया जाता है जिसमें अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के तत्त्व मौजूद हैं तो वह सीधे उन लोगों के सम्पर्क में चला जायगा जो उसे बर्बाद कर सकते हैं, व उसे गलत चीजों का प्रशिक्षण दे सकते हैं; तात्पर्य यह है कि वे उसे बुरी से बुरी संगति में डाल सकते हैं।

ऐसे आप व्यक्ति को जो बौद्धिक रूप से सुसंस्कृत नहीं है यदि कुछ मिश्रित ढंग के यहाँ–वहाँ के विचारों से अवगत करायें और उससे सही विचारों का चयन करने को कहें तो वह हमेशा ही मूर्खतापूर्ण विचारों का ही चुनाव करेगा, क्योंकि जैसा कि श्रीअरविन्द ने हमें बताया है, यह मिथ्यात्व व अज्ञान का जगत है और उससे बाहर निकलने के लिये एक प्रयास व अभीप्सा की आवश्यकता है; इसके लिये व्यक्ति को अपनी अन्तर्तम सत्ता के सम्पर्क में आना परम आवश्यक है – ऐसा सम्पर्क जो सचेतन और साथ ही आलोकमय हो, बशर्ते कि ऐसा व्यक्ति सचमुच में सही और गलत के बीच तथा अच्छे और बुरे के प्रभाव के बीच विवेकपूर्ण अंतर करना चाहता हो। लेकिन अगर तुम अपने को ऐसे ही अंधमुख जाने दोगे तो अवश्य ही गड्ढे में गिरोगे।[२]

"हमारे पास अंग हैं, पेशियाँ हैं, नसें हैं; वस्तुतः वह सब है जिनसे मिलकर शरीर बनता है; यदि हम उन्हें विशिष्ट विकास और विशिष्ट प्रशिक्षण न दें तो यह सब शरीर की 'शक्ति' को यथाशक्य व्यक्त तो करेंगे, परंतु वह अभिव्यंजना होगी निपट भद्दी और अधूरी। निस्संदेह, एक शरीर जो शारीरिक शिक्षा के अत्यंत पूर्ण और यथोचित तरीकों से प्रशिक्षित किया गया है, वह ऐसी चीजें करने में समर्थ होगा जो इसके बिना कभी न कर पाता। मेरा ख्याल है कि कोई इस बात से इंकार नहीं कर सकता। हाँ, तो मन के लिए भी यही बात लागू होती है। तुम्हारे पास एक मानसिक यंत्र है जिसमें अनेक संभावनाएँ हैं, अनेक क्षमताएँ हैं, लेकिन ये संभावनाएँ और क्षमताएँ छिपी हुई हैं, इन्हें विशिष्ट शिक्षण की, विशिष्ट रूप से साधने की आवश्यकता है ताकि ये 'ज्योति' को व्यक्त कर सकें। यह निश्चित है कि साधारण जीवन में दिमाग मानसिक चेतना की बाह्य अभिव्यंजना का आसन है, तो, यदि दिमाग विकसित न हो, यदि यह अनगढ़ रहे तो ऐसी असंख्य चीजें हैं जो व्यक्त नहीं की जा सकेंगी, क्योंकि अपने–आपको व्यक्त करने के लिए उनके पास आवश्यक यंत्र नहीं होगा। यह एक वाद्य यंत्र की तरह होगा जिसमें अधिकतर स्वर नहीं हैं, वह कुछ मोटा सादृश्य तो उत्पन्न कर देगा, पर यथार्थ कुछ भी नहीं।

मानसिक शिक्षण, बौद्धिक शिक्षा तुम्हारे मस्तिष्क की बनावट को बदल देती है, काफी हद तक बढ़ा देती है और परिणामस्वरूप अभिव्यंजना अधिक समृद्ध और यथार्थ हो उठती है।

---

२. मातृवाणी, भाग-२, पृष्ठ २००, २०१

यदि तुम जीवन से भागना चाहो और अनिर्वचनीय शिखरों पर चढ़ना चाहो तो यह जरूरी नहीं है, पर यदि तुम अपनी अनुभूति को बाह्य जीवन में मूर्त रूप देना चाहो तो यह अपरिहार्य है।[३]

"एक अच्छा, विशाल, नमनीय और समृद्ध मानसिक यंत्र बनाने के लिये बौद्धिक शिक्षण अनिवार्य है, परंतु उसकी क्रिया वहीं समाप्त हो जाती है।

मनसे ऊपर उठने में, वह सहायक की अपेक्षा बाधक अधिक है क्योंकि साधारणतः, एक सुसंस्कृत और शिक्षित मन अपने–आपसे संतुष्ट रहता है और ऐसा विरल होता है कि वह अपने–आपको चुप करने की कोशिश करे ताकि उसे पार किया जा सके।"[४]

ज्ञान एवं प्रज्ञा क्या हैं एवं उनका क्या महत्त्व है?

"ज्ञान और बुद्धि यथार्थ रूप में मनुष्य के उच्चतर मन के गुण हैं जो उसे पशु से अलग करते हैं।

ज्ञान और बुद्धि के बिना व्यक्ति मनुष्य नहीं, मानव रूप में पशु होता है।"[५]

मन का प्रशिक्षण कैसे हो?

"वास्तव में, शिक्षा में हमें सर्वदा दो समानान्तर प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करना चाहिये। पहली है, 'परमाश्चर्यमय' के लिये तरसने की प्रवृत्ति, उस चीज की प्यास जो अप्राप्य प्रतीत होती है, जो तुम्हें दिव्यत्व की भावना से भर देती है। परन्तु इसके साथ–ही–साथ, जब हम संसार की ओर, जैसा कि यह है, देखें तो हमें यथार्थ शुद्ध, सच्चे निरीक्षण को उत्साहित करना चाहिये, पूरे ब्योरे की यथार्थता के लिये समस्त कल्पनाओं को दूर करने, निरन्तर संयम रखने, एक अत्यंत व्यावहारिक, अत्यन्त सतर्क विवेकशीलता पर जोर देना चाहिये। ये दोनों बातें समानान्तर चलनी चाहिये। सामान्यतया, तुम इस विचार से एक को मार देते हो कि यह दूसरे को बढ़ाने के लिये आवश्यक है। परन्तु यह एकदम गलत है। ये दोनों साथ–साथ रह सकती हैं और एक ऐसा क्षण भी आता है जब मनुष्य को यह देखने का पर्याप्त ज्ञान रहता है कि ये दोनों एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं और वही है दिव्य दृष्टि, उच्चतर विवेक। उस समय एक सीमित दर्शन और दिव्य दृष्टि के स्थान पर हमारा विवेक एकदम सच्चा, शुद्ध, यथातथ्य बन जाता है। पर

३. मातृवाणी, खण्ड-९, ४०२ (सत प्रि: एस्पूप्रेशन, भाग २, पृष्ठ २०६-०७)
४. मातृवाणी, खण्ड-१२, पृष्ठ ११९
५. मातृवाणी, खण्ड-१२, पृष्ठ ११८, ११९

वह विशाल होता है और अपने अन्दर एक ऐसे समूचे क्षेत्र को लिये रहता है जो अभी तक ठोस अभिव्यक्ति का अंग नहीं है।

शिक्षा के दृष्टिकोण से यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण होगी : संसार जैसा है, उसे ठीक–ठीक वैसा ही स्थूल रूप में, अत्यन्त पार्थिव और ठोस ढंग से देखना तथा जैसा वह हो सकता है उसे एक अत्यन्त मुक्त, अत्यंत ऊँची, अत्यधिक आशा और अभीप्सा और अद्‌भुत निश्चयता से भरी हुई सूक्ष्म–दृष्टि से देखना – ये दोनों विवेकशक्ति दो ध्रुव के समान छोर हैं।

हम अत्यन्त महान्, अत्यन्त अद्‌भुत, अत्यन्त सशक्त, अत्यन्त अर्थपूर्ण और अत्यन्त संपूर्ण के रूप में जिसकी कल्पना कर सकते हैं वह उसके मुकाबले कुछ नहीं है जो यह हो सकता है और इसके साथ–ही–साथ ब्योरे में जो हमारी छोटी–से–छोटी यथार्थता होगी वह कभी पर्याप्त यथार्थ नहीं होगी और ये दोनों एक साथ रहने चाहिये। जब मनुष्य इसे (*नीचे की ओर संकेत*) जानता है और जब उसे (*ऊपर की ओर संकेत*) जानता है तब वह दोनों को साथ रखने में समर्थ होता है।"[६]

मानसिक विद्याओं का प्रशिक्षण

एकाग्रता क्या है?

"इसका अर्थ है अपनी चेतना के बिखरे हुए सभी धागों को एक ही बिन्दु पर, एक ही भाव या विचार पर वापस ले आना। जो लोग पूर्ण मनोयोग की स्थिति प्राप्त करने में समर्थ होते हैं वे जो कार्य हाथ में लेते हैं उसी में सफल होते हैं; वे हमेशा तेज प्रगति करते हैं। और इस प्रकार की एकाग्रता ठीक मांसपेशी की भांति विकसित की जा सकती है; इसके लिए मनुष्य प्रशिक्षण के विभिन्न पथों, विभिन्न पद्धतियों का अनुसरण कर सकता है। उदाहरण के लिए, तुम जानते हो कि अत्यंत दयनीय दुर्बल व्यक्ति भी नियमित अभ्यास के द्वारा किसी भी अन्य व्यक्ति के समान बलशाली हो सकता है। मनुष्य का संकल्प ऐसा नहीं होना चाहिए जो मोमबत्ती की तरह झिलमिलाकर बुझ जाए।"[७]

---

६. मातृवाणी, भाग-१०, पृष्ठ १६४, १६५ (साथ ही : एजूकेशन भाग २, पृष्ठ २०६)

७. मातृवाणी, भाग-४, पृष्ठ ५ (साथ ही : दि साइंस आफ लिविंग, पृष्ठ ३७)

"एकाग्रता की यह क्षमता केवल बौद्धिक क्रियाओं में ही नहीं बल्कि सब प्रकार के क्रिया–कलाप में हो सकती है और यह शक्तियों पर सचेतन रूप से अधिकार करने से आती है।

यह जानी हुई बात है कि मनुष्य का मूल्य उसके केंद्रित मनोयोग की क्षमता के अनुपात में होता है, एकाग्रता जितनी अधिक होती है परिणाम भी उतना ही असाधारण होता है, यहाँ तक कि पूर्ण और अविरत एकाग्र मनोयोग अपने काम पर प्रतिमा की मुहर लगा देता है।"[८]

एकाग्रता का मूल्य क्या है?

"इसके अतिरिक्त, जीवन में तुम कुछ भी करना चाहो, एक चीज नितांत अपरिहार्य है और *सबके* मूल में है, वह है ध्यान एकाग्र करने की क्षमता। यदि तुम एक बिन्दु पर ध्यान और चेतना की किरणों को केंद्रित करने में सफल हो जाते हो और इस एकाग्रता को दृढ़ संकल्प द्वारा बनाए रख सकते हो तो ऐसी कोई चीज नहीं जो इसका प्रतिरोध कर सके – चाहे कुछ भी क्यों न हो, वह नितांत जड़–भौतिक विकास से लेकर उच्चतम आध्यात्मिक विकास तक, पर इस अनुशासन का पालन करना चाहिए निरंतर, या यूँ कहें, निर्विकार रहते हुए; यह नहीं कि हमेशा एक ही चीज़ पर एकाग्र रहना होगा – मेरा मतलब यह नहीं है, मेरा मतलब है एकाग्रता सीखने से।

भौतिक रूप में, अध्ययन, खेल–कूद, सब तरह के शारीरिक और मानसिक विकास के लिए यह नितांत अपरिहार्य है और मनुष्य की कीमत उसके अवधान के गुण के अनुपात में होती है।

और आध्यात्मिक दृष्टि से तो इसका और भी अधिक महत्त्व है। कोई भी आध्यात्मिक बाधा ऐसी *नहीं* जो एकाग्रता की मर्मभेदी शक्ति का प्रतिरोध कर सके। उदाहरण के लिए, चैत्य पुरुष का संधान, अंतस्थित भगवान् के साथ मिलन, उच्चतर प्रदेशों की ओर उन्मीलन, *सब* प्रगाढ़ और आग्रही एकाग्रता की शक्ति द्वारा उपलब्ध किए जा सकते हैं – लेकिन इसे करना सीखना होगा।

मानवी क्षेत्र में, और अतिमानवी तक में ऐसी कोई चीज नहीं है जिसकी कुंजी एकाग्रता की शक्ति न हो।

---

८. मातृवाणी, भाग-१२, पृष्ठ २६०

इस क्षमता के साथ तुम श्रेष्ठ खिलाड़ी हो सकते हो, श्रेष्ठ विद्यार्थी हो सकते हो, कलाकार, साहित्यिक और वैज्ञानिक बन सकते हो, सबसे बड़े संत बन सकते हो। और प्रत्येक व्यक्ति में यह प्रारंभ बिन्दु के रूप में रहता है – यह सबको मिला हुआ है, पर वे इसे बढ़ाते नहीं।"[९]

कुछ लोग बहुत जल्दी एकाग्र कैसे हो जाते हैं जबकि अन्य नहीं हो पाते? क्यों?

"वे शायद किसी एक या दूसरे कारण से, जन्म से ही ऐसे होते हैं, या फिर शायद यह जाने बिना कि वे क्या कर रहे हैं वे एकाग्रता का अभ्यास कर चुके हैं। हाँ, कुछ ऐसे बच्चे हैं जो अपनी छोटी अवस्था में ही, किसी बात को बड़े ध्यानपूर्वक सुनते हैं, जबकि कुछ का ध्यान सदा ही बँट जाता है। किन्तु विभिन्न सत्ताओं की आंतरिक रचना ऐसी ही होती है। कोई भी दो व्यक्ति एक जैसे नहीं होते। कुछ व्यक्तियों में एकाग्रता की महान् शक्ति होती है और कुछ में नहीं।"[१०]

प्रयास करके भी हम एकाग्र क्यों नहीं हो पाते?

"अगर सचमुच तुम एकाग्र नहीं हो पाते, तो तुम्हें अपना समय अपने अंदर इसका कारण खोजने में लगाना चाहिए। तब यदि अध्यापक तुमसे कोई प्रश्न पूछे तो तुम्हें कह देना चाहिए : "खेद है, मैं सुन नहीं रहा था!"[११]

"जब उत्तर नहीं आता तो उसका कारण यह होता है कि दिमाग में एक प्रकार की अस्पष्टता होती है, कुछ मेघाच्छन्न–सा, वहीं पर कुहरे जैसा, और तब तुम वहाँ ऐसे होते हो मानों सपने में हो। तुम उसे पाने के लिए आगे बढ़ते हो परंतु ऐसा लगता है मानों रुई के फाहों में आगे बढ़ रहे हो, तुम्हें वहाँ स्पष्ट दिखायी नहीं देता इसलिए कुछ नहीं आता। तुम घंटों इसी अवस्था में रह सकते हो।

एकाग्रता ठीक इस बादल को हटाना है। तुम अपनी बुद्धि के सभी तत्त्वों को इकट्ठा करके एक बिन्दु पर जमा देते हो और तब सक्रिय रूप से चीज को पाने की कोशिश भी नहीं करते। तुम सिर्फ इतना करते हो कि इस प्रकार एकाग्र हो सको कि केवल प्रश्न ही दिखायी दे – केवल सतह पर ही न दिखायी दे, बल्कि अपनी गहराई में दिखायी दे, जो उसमें छिपा है वह दिखायी दे। अगर तुम अपनी

---

९. मातृवाणी, भाग-९, पृष्ठ ३६०-६१ (सब ही : एजूकेशन भाग २, पृष्ठ २०१-०२)
१०. मातृवाणी, भाग-६, पृष्ठ ९ (सब ही : संकलित शिक्षा, पृष्ठ ४८)
११. मातृवाणी, भाग-४, पृष्ठ १०४ (सब ही : एजूकेशन भाग २, पृष्ठ १५४)

सभी मानसिक ऊर्जाओं को इकट्ठा कर सको, उन्हें एक निश्चित बिन्दु पर लाकर समस्या के हल के लिए जमाए रख सको और वहीं बँधे रहो मानों तुम किसी दीवार में छेद करने वाले हो तो अचानक हल आ जाएगा। और यही एक तरीका है। अगर तुम कोशिश करो, क्या यह रास्ता है, क्या वह है? . . .तो तुम्हें कुछ न मिलेगा या तुम्हें घंटों लग जाएंगे। तुम्हें अपनी मानसिक शक्तियों को एक बिन्दु पर ला सकना चाहिए, इतनी शक्ति के साथ जो शब्दों को छेदकर उनके पीछे की चीज पर पहुँच सके। वही पाने लायक चीज है, उस पर झपट पड़ो।

और हमेशा उन्हीं दिनों जब तुम जरा अस्पष्ट–से होते हो, यह काम ज्यादा मुश्किल हो जाता है। तुम अस्पष्ट होते हो, मानों तुम किसी चीज को पकड़ना चाहते हो और वह तुमसे बच निकलती है।

अगर तुम अपनी बादलों जैसी तरलता में, अपनी अस्पष्ट–सी गतिविधि में लगे रहते हो तो, चाहे बरसों परिश्रम किए चले जाओ, वह तुम्हारे लिए निरर्थक होगा। तुमने जब उसमें प्रवेश किया था, उसमें से निकलते समय उससे ज्यादा समझदार न होगे।

लेकिन यदि तुम उन वस्तुओं ने जो तुम्हें बहुत ही कम रुचि की दिखाई देती है, अपने ध्यान को यहाँ तक कि आधे घंटे के लिए भी एकाग्र कर सकते हो ....यह कितना रुचिपूर्ण है।"[१२]

क्या एकाग्रता की शक्ति विकसित की जा सकती है?

"हाँ, इसे विकसित किया जा सकता है, और इस विकास का कोई अंत नहीं। और इसे विकसित करना सर्वथा अनिवार्य भी है।"[१३]

एकाग्रता कैसे विकसित करें?

"एक नियमित, अध्यवसायी, कठोर, अविचल अभ्यास के द्वारा – मेरा अभिप्राय है एकाग्रता और संकल्प–शक्ति के अभ्यास द्वारा।"[१४]

"उसे प्रशिक्षित करो, जैसे मांसपेशियों से काम लेकर उनसे कसरत करवायी जाती है, वैसे ही इससे कसरत करवाओ।"[१५]

---

१२. मातृवाणी, भाग-५, पृष्ठ १२६-१२७ (साथ ही : एजूकेशन भाग २, पृष्ठ १५९-६१)
१३. मातृवाणी, भाग-६, पृष्ठ ६ (साथ ही : पंचविध शिक्षा, पृष्ठ ४८)
१४. मातृवाणी, भाग-१२, पृष्ठ ४००
१५. मातृवाणी, भाग-१२, पृष्ठ १२७

"जैसे कोई एथलीट विधिवत् रूप से वैज्ञानिक और क्रमिक प्रशिक्षण द्वारा मांसपेशियों को विकसित करता है, उसी तरह वैज्ञानिक और विधिवत् प्रशिक्षण के द्वारा एकाग्र मनोयोग की क्षमता को भी विकसित किया जा सकता है कि स्वेच्छा से किसी भी विषय या किसी भी क्रिया पर एकाग्र हुआ जा सके। इस तरह तैयारी का काम धीरे-धीरे, लगातार एक ही क्रिया को दोहराते हुए अवचेतना में करने की जगह, सचेतन रूप से इच्छा-शक्ति को एकाग्र करके और मनोयोग को किसी एक बिन्दु पर अपनी योजना और निश्चय के अनुसार केन्द्रित करके किया जाता है। सबसे बड़ी कठिनाई है भीतरी और बाहरी परिस्थितियों की परवाह न करते हुए एकाग्रता की यह क्षमता प्राप्त करना – यह शायद कठिन है पर दृढ़ निश्चय करने वाले अध्यवसायी के लिए असंभव नहीं है। और फिर, विकास का चाहे जो मार्ग अपनाया जाए, सफलता के लिए दृढ़ निश्चय और अध्यवसाय अनिवार्य है।

प्रशिक्षण का उद्देश्य है मनोयोग को केन्द्रित करने की एक ऐसी क्षमता को विकसित करना जो इच्छा के अनुसार किसी भी विषय पर अत्यंत आध्यात्मिक से लेकर अत्यंत जड़-भौतिक तक अपनी शक्ति की पूर्णता में कुछ भी खोये बिना लगा सके, उदाहरण के लिए, भौतिक क्षेत्र में, अपनी शक्ति को एक खेल से दूसरे खेल की ओर, एक क्रिया से दूसरी क्रिया की ओर समान रूप से सफलता के साथ लगा सकना।"[१६]

'संकल्प शक्ति को, एकाग्रता की शक्ति को अवश्य बढ़ाना चाहिये; बस, प्रश्न है पद्धति का, नियमित अभ्यास का। यदि तुम चाहो तो कर सकते हो।

परंतु संकल्प को कमजोर बनाने के लिये यह विचार नहीं उठना चाहिये कि 'भला इससे लाभ क्या'? यह भावना कि मनुष्य एक विशिष्ट स्वभाव लेकर पैदा होता है और उस विषय में कुछ भी नहीं कर सकता, एक मूर्खतापूर्ण बात है।"[१७]

ध्यान देने की शक्ति क्या है और यह कैसे विकसित होती है?

"मेरा ख्याल है कि निरीक्षण की शक्ति सत्ता के सभी भागों में विकसित होती है। तुम्हारे अंदर मन की निरीक्षण-शक्ति हो सकती है, प्राण की निरीक्षण-शक्ति

---

१६. मातृवाणी, भाग-१२, पृष्ठ २६०, २६१

१७. मातृवाणी, भाग-६, पृष्ठ ५ (साथ ही : दि साइंस आफ लिविंग, पृष्ठ ३०)

हो सकती है और शरीर की निरीक्षण–शक्ति हो सकती है। उदाहरणार्थ, जब तुम विचारों को, विचारों की शृंखला को, विचारों के तर्क को देखते हो, तब निरीक्षण की वही शक्ति नहीं होती जिसे तुम तब देखते हो जब तुम अपने किसी मित्र को व्यायाम, आदि करते देखते हो और यह देखते हो कि व्यायाम की क्रियाएँ ठीक ढंग से कर रहा है या नहीं। यानी, मनोयोग की क्षमता दोनों अवस्थाओं में है, किन्तु उसका कार्यक्षेत्र भिन्न है। यह नहीं कहा जा सकता कि सत्ता का एक भाग दूसरे भागों को देख रहा है; सत्ता के प्रत्येक भाग में देखने की सामर्थ्य – अर्थात् एकाग्रता और मनोयोग की सामर्थ्य विकसित हो रही है। निरीक्षण की सामर्थ्य को विवेक की सामर्थ्य के साथ नहीं मिला देना चाहिए। विवेक बौद्धिक क्षमता है। निर्णय जैसी वस्तु भी उसमें होती है, जिसे हम "विभेद कर सकने की क्षमता" कहते हैं : तुम किसी एक या दूसरी वस्तु के मूलस्रोत तथा इन वस्तुओं के पारस्परिक मूल्य के बीच में विभेद कर सकते हो। किंतु यह कार्य यथार्थ निरीक्षण पर आधारित होना चाहिए। निरीक्षण की शक्ति पहले आती है, विभेद करने के बाद में।"[१८]

तर्कबुद्धि का हमारे जीवन में क्या उपयोग है?

"तर्कबुद्धि के बिना मानव जीवन असंगत और अनियंत्रित रहेगा; हम आवेगमय पशुओं या असंतुलित पागलों जैसे होंगे।"[१९]

"किन्तु चेतना की उच्चतर स्थिति में पहुँचने से पहले एक ऐसी स्थिति आती है जहाँ मनुष्य अपने अंदर बुद्धि–वृत्ति को – एक स्पष्ट, सुनिश्चित, युक्ति–संगत तर्क–बुद्धि की वृत्ति को विकसित कर सकता है जो चीजों को पर्याप्त रूप में तटस्थ दृष्टि से देख सके। और इस बुद्धि का पर्याप्त विकास कर चुकने पर तुम अपने सब आवेगों, अनुभवों, कामनाओं, समस्त–व्यस्तताओं को इस तर्क–बुद्धि के समक्ष रख सकते हो और इससे तुम, विवेकशील बन जाते हो। अधिकांश लोग तकलीफ में पड़कर अविवेकी हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, जब वे बीमार हो जाते हैं तब अपना समय यह कहते हुए बिताते हैं, "ओह! मैं कितना बीमार हूँ, कितना कष्टकर है यह, क्या बराबर ऐसी ही स्थिति बनी रहेगी?" और स्वभावतः अवस्था बिगड़ती चली जाती है। या जब कोई दुर्भाग्य उन पर आ पड़ता है तो वे चिल्ला उठते हैं, "केवल मुझ पर ही ऐसी चीजें आती हैं और मैं सोचता था कि अब तक सब कुछ ठीक ही चल रहा है", और उनके आँसू फूट पड़ते हैं,

---

१८. मातृवाणी, भाग-६, पृष्ठ ८ (साथ ही : संकलित शिक्षा, पृष्ठ ४७)

१९. मातृवाणी, भाग-१२, पृष्ठ १३८

स्नायुएँ परेशान हो उठती हैं। हाँ, अतिमानव की तो बात ही अलग है, स्वयं मनुष्य के भीतर ही एक उच्चतर सामर्थ्य है जिसे विवेक–बुद्धि कहते हैं, जो चीजों को धीरता से, शांति से, युक्तिसंगत ढंग से देख सकती है। यह बुद्धि तुमसे कहती है, "चिंता न करो, इससे कुछ भी सुधार न होगा, तुम्हें शिकायत नहीं करनी चाहिए, जब यह बात घट ही गयी तो इसे स्वीकार कर लेना चाहिए।" तब तुम तुरंत शांत हो जाते हो। यह मन के लिए एक बहुत अच्छा प्रशिक्षण है; इससे निर्णय–शक्ति, दृष्टि और वस्तुनिष्ठता का विकास होता है और साथ ही तुम्हारे चरित्र पर इसकी बहुत स्वस्थ क्रिया होती है। इससे तुम्हें अपनी स्नायुओं पर जोर डालने की मूर्खता से बचने और विवेकपूर्ण व्यक्ति की तरह आचरण करने में सहायता मिलती है।"[२०]

तर्क–बुद्धि का विकास कैसे करें ?

"ओह! उपयोग द्वारा। तर्क–बुद्धि भी मांसपेशियों की तरह, इच्छा–शक्ति की तरह विकसित होती है। ये सभी चीजें समझदारी के साथ उपयोग करने से विकसित होती हैं। तर्क–बुद्धि, हर एक के अंदर तर्क–बुद्धि होती है, केवल वह उसका उपयोग नहीं करता। कुछ लोग तर्क–बुद्धि से बहुत डरते हैं क्योंकि वह उनके आवेशों के प्रतिकूल जाती है। इसलिए वे उसकी बात न सुनना ज्यादा पसंद करते हैं। तो, स्वभावतः, यदि कोई तर्क–बुद्धि की बात न सुनने की आदत ही डाल ले, तो विकसित होने की जगह, वह प्रकाश अधिकाधिक खोने लगता है।

तर्क–बुद्धि को विकसित करने के लिए पहले तुम्हें सच्चाई के साथ उसकी चाह करनी चाहिए; अगर तुम एक ओर तो अपने–आपसे कहो: "मैं अपनी तर्क–बुद्धि को विकसित करना चाहता हूँ", और दूसरी ओर तर्क–बुद्धि तुमसे जो करने के लिए कहे उस पर कान न दो, तो परिणाम कुछ नहीं आता, क्योंकि स्वभावतः, वह जब–जब तुमसे कहे : "यह मत करो" या "यह करो", तब–तब तुम उससे उल्टा करो, तो उसकी कुछ भी कहने की आदत छूट जाएगी।"[२१]

---

२०. मातृवाणी, भाग-४, पृष्ठ ४६

२१. मातृवाणी, भाग-७, पृष्ठ १७४ (सब ही : एजूकेशन, भाग २, पृष्ठ १७५-७६)

सही सोच कैसे पैदा करें?

"मानसिक क्षमता नीरव ध्यान में विकसित होती है।"[२२]

अपने विचारों को कैसे विकसित करें?

"तुम्हें बहुत एकाग्रता और ध्यान के साथ ऐसी पुस्तकें पढ़नी चाहिए जो तुम्हें सोचने के लिए बाधित करती हैं, उपन्यास या नाटक नहीं। तुम जो पढ़ो उसका ध्यान लगाओ, जब तक तुम किसी विचार को समझ न जाओ तब-तक उस पर मनन करो। कम बोलो, शांत और एकाग्र रहो और तभी बोलो जब बोलना अनिवार्य हो।"[२३]

मन में स्पष्टता कैसे विकसित करें?

"अधिक अध्ययन करने से, अधिक सोचने-विचारने से, बौद्धिक व्यायाम से। उदाहरणार्थ, किसी भी सामान्य विचार का निरूपण करो और फिर उसके विरोधी विचार का और तब इन दोनों विचारों में समन्वय खोजो, दूसरे शब्दों में, एक ऐसा तीसरा विचार ढूँढ़ो जो इन दोनों में समन्वय स्थापित कर दे।"[२४]

अपनी समझ को कैसे बेहतर करें?

"समझने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि अपनी चेतना में हमेशा इतने ऊँचे उठो कि तुम सभी परस्पर-विरोधी विचारों को एक सामंजस्यपूर्ण समन्वय में एक कर सको।"[२५]

समझ द्वारा मेधा कैसे बढ़ती है?

जब तुम चीज को समझ जाते हो तो वह तुम्हारे अंदर एक स्फटिक-सा बनाती है, एक चमकदार, छोटा-सा बिन्दु। और जब तुम ऐसे बहुत, बहुत बिन्दु पा लेते हो तब तुम समझदार होने लगते हो। काम का यह उपयोग है, बेकार चीजों के ढेर से दिमाग को भर लेना नहीं।"[२६]

हम अपने विचारों को कैसे व्यवस्थित करें?

"जो लोग अपनी भौतिक वस्तुओं को व्यवस्थित ढंग से रखना नहीं जानते-

---

२२. मातृवाणी, भाग-१२, पृष्ठ १४०
२३. मातृवाणी, भाग-१२, पृष्ठ १४२
२४. मातृवाणी, भाग-१२, पृष्ठ ३६३
२५. मातृवाणी, भाग-१२, पृष्ठ १३६
२६. मातृवाणी, भाग-५, पृष्ठ १२८ (तथा देखें : एजूकेशन भाग २, पृष्ठ १६१)

उनके विचार भी उनके मस्तिष्क में ऐसे ही रहते हैं, हमेशा। वे इकट्ठे मिलकर रहते हैं, अत्यधिक विरोधी विचार भी इकट्ठे रख दिये जाते हैं, और विश्वास रखो कि यह किसी उच्चतर समन्वय के द्वारा नहीं, बल्कि अपने विचारों को व्यवस्थित करने की अक्षमता तथा एक प्रकार की अव्यवस्था के कारण होता है। यदि तुम किसी ऐसे व्यक्ति के कमरे में घुस सको और उसकी मेज का दराज खोल सको या उसकी अलमारी में झाँक सको तो तुम्हें उससे दस मिनट बात करने की भी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। ऐसे लोगों की मनोव्यवस्था का तुम्हें पता चल जायगा, ठीक है न ?

दूसरी ओर, एक ऐसे व्यक्ति भी थे (मैं तुम्हें पीछे बताऊँगी कि वे कौन थे) जिनके कमरे में सैकड़ों पुस्तकें पड़ी थीं, अनगिनत कागज के पन्ने, कॉपियाँ और सभी प्रकार की वस्तुएँ, और कमरे में प्रवेश करते ही तुम्हें सर्वत्र पुस्तकें और कागज, आदि ही नजर आते – इनका एक बड़ा ढेर रहता, कमरा इन वस्तुओं से भरा रहता था। किन्तु यदि दुर्भाग्यवश तुम कागज का एक टुकड़ा भी इधर–उधर करते, तो उन्हें एकदम पता लग जाता और वे कहते : "मेरी वस्तुओं को किसने छुआ है?" तुम कमरे के अंदर घुसते ही इतनी सारी चीजें देखकर खोये–से महसूस करने लगते और फिर भी प्रत्येक वस्तु का अपना स्थान था। और वे इतने सचेतन थे कि जैसा मैं तुम्हें पहले भी कह चुकी हूँ, कि यदि एक कागज भी अपने स्थान से इधर–उधर हो जाता – उदाहरणार्थ, यदि कोई किसी कागज को जिस पर कुछ अंकित होता या किसी पत्र या किसी और ही वस्तु को, वस्तुओं को करीने से लगा देने के ख्याल से, और ही स्थान पर रख देता – तो वे कहते : "तुमने मेरी वस्तुओं को छुआ है; तुमने उन्हें इधर–उधर कर दिया है और मेरी चीजों को अस्त–व्यस्त कर डाला है।" ये स्वभावतया श्रीअरविन्द ही थे! अतएव, तुम व्यवस्था को गरीबी के साथ न मिला दो। स्वभावतया यदि तुम्हारे पास केवल एक दर्जन पुस्तकें हैं या बहुत कम वस्तुएं हैं तो उन्हें करीने से रखना अधिक सरल है, किन्तु जो बात कर सकनी चाहिये वह है बहुत–सी वस्तुओं को व्यवस्थित ढंग से रखना – और यह ढंग भी तर्क–संगत, चेतन और बुद्धिमत्तापूर्ण होना चाहिये। इसके लिये व्यक्ति में व्यवस्था रखने की योग्यता का होना आवश्यक है।

हाँ, यदि कोई बीमार हो, उसमें कुछ करने की शक्ति न हो, तो बात और हो जाती है। किन्तु यहाँ भी, कुछ सीमाएँ हैं। मैं ऐसे बीमार व्यक्तियों को जानती थी जो तुमसे कह सकते थे : "इस दराज को खोलो और इसके बाएं कोने के पीछे की ओर, उस वस्तु के नीचे तुम्हें यह वस्तु मिलेगी;" वह व्यक्ति खुद हिल–डुल नहीं सकता और अपने–आप वस्तु को नहीं ले सकता, किन्तु वह यह भली–भाँति जानता है कि वह कहाँ रखी है। किन्तु इसके अतिरिक्त, एक बात और भी है, आदर्श यह है कि कुछ सुव्यवस्था हो, उदाहरण के लिये जैसी पुस्तकालयों में होती है, जहाँ हजारों, लाखों पुस्तकें रखी रहती हैं, प्रत्येक का वर्गीकरण किया जाता है (स्वभावतया ही यह कार्य एक ही आदमी नहीं करता), किन्तु यह एक ऐसा कार्य है जिसमें पुस्तकों का वर्गीकरण इतना अच्छा होता है कि यदि तुम एक कार्ड लाकर कहो कि "मुझे यह पुस्तक चाहिये" तो तुम्हें पंद्रह मिनट में अथवा कमी–कमी पाँच मिनट में ही वह पुस्तक मिल जाती है। व्यवस्था इसी को कहते हैं। और फिर भी वहाँ कमरे पुस्तकों से भरे रहते हैं। किन्तु यह सब बहुत–से लोगों द्वारा कुशलतापूर्वक किये गये कार्य का, एक व्यावसायिक संगठन का परिणाम है। हाँ तो, व्यक्ति को अपनी वस्तुओं को इसी प्रकार सुव्यवस्थित ढंग से रखना चाहिये – साथ ही अपने विचारों को भी – और उसे यह ठीक जानना चाहिये कि उसकी वस्तुएँ कहाँ पड़ी हैं और क्योंकि उसकी व्यवस्था युक्ति–युक्त है उसे उन तक सीधा पहुँच सकना चाहिये। यह तुम्हारी अपनी युक्ति होती है – हो सकता है पड़ोसी की युक्ति न हो, तुम्हारे पड़ोसी की नहीं, यह आवश्यक नहीं है, यह तुम्हारी अपनी युक्ति है – किन्तु व्यवस्था–संबंधी तुम्हारा ढंग युक्तियुक्त हो, तो तुम्हें पता होता है कि तुम्हारी वस्तु कहाँ है और, जैसा कि मैं तुम्हें बता चुकी हूँ, यदि वह वस्तु कहीं इधर–उधर हो जाय, तो तुम्हें तत्काल ही पता लग जाता है। और जो लोग ऐसा कर सकते हैं वे सामान्यतया वे ही होते हैं जो अपने विचारों को भी व्यवस्थित कर सकते हैं और फलस्वरूप अपने चरित्र को भी और अंत में अपनी क्रियाओं पर भी नियंत्रण रख सकते हैं।"[२७]

स्मृति कैसे बढ़ाएँ?

"अपनी चेतना का विस्तार करो और तुम्हारी स्मृति बढ़ेगी।

---

२७. मातृवाणी, खण्ड-६, पृष्ठ ७४, ७५ साथ ही : [illegible] शिक्षा, पृष्ठ ४३-४४)

चेतना यांत्रिक मस्तिष्क की स्मृति से बहुत ज्यादा बड़ी स्मृति है। मैंने यह बात एक दिन, अभी बहुत दिन नहीं हुए, तुम्हें समझायी थी। मैंने तुम्हें बतलाया था कि यांत्रिक मस्तिष्क की स्मृति भूल सकती है – उलझन डाल सकती है, विकृत कर सकती है – लेकिन अगर तुम अपने अंदर फिर से उस चेतना को स्थापित कर सको जिसमें तुम उस समय थे तो तुम्हें ठीक वही अनुभूति होगी। और यही एकमात्र सच्ची स्मृति है। और यह पूरी तरह तुम्हारी चेतना के विकास पर निर्भर है!"[२८]

सही परख कैसे विकसित करें?

'कभी–कभी नैतिक भावनाएँ भी मिलजुल जातीं और निर्णय को गलत बना देती हैं, पर हमें सभी नैतिक भावनाओं को अपने से बहुत दूर फेंक देना चाहिये; क्योंकि नैतिकता और 'सत्य' एक–दूसरे से बहुत दूर हैं (यदि मेरी इस बात से किसी को चोट पहुँच रही हो तो मुझे इसका दुःख है, पर बात ऐसी ही है)। जब तुम समस्त आकर्षण और समस्त विकर्षण को जीत चुकोगे केवल तभी यथार्थ निर्णय कर सकोगे। जब तक ऐसी चीजें हैं जो तुम्हें आकर्षित करती हैं और ऐसी चीजें हैं जो तुम्हें विकर्षित करती हैं तब तक तुम्हारे लिये यह संभव नहीं कि तुम्हारी इन्द्रियाँ पूर्णतः विश्वसनीय रूप से कार्य कर सकें।

प्रत्येक व्यक्ति, उदाहरणार्थ, यह जानता है कि जब कोई दुर्घटना घटित होती है तो वहाँ उसे देखने वाले दो, तीन या दस व्यक्ति हो सकते हैं पर सभी लोग एक ही चीज कभी नहीं देखते; घटती एक ही बात है पर कोई दो व्यक्ति ऐसे नहीं होते जो उसे एक ही ढंग से देखते हों। आंतरिक धक्के के होने से वे जो कुछ घटित होता है उसके केवल एक बहुत छोटे–से भाग को ही देखते हैं।

परंतु सभी धारणाओं को – एक भावना और उसके विपरीत भावना को – सुसमंजस करने का एक तरीका है – रेखा के दो छोरों के रूप में उन्हें समझना चाहिये; फिर इन दो छोरों के बीच में एक–दूसरी के पीछे आने वाली अनगिनत दूसरी भावनाओं को रखना चाहिये, फिर तुम देखोगे कि उनके मध्य एक प्रकार की संगति है। तुम्हें यह भी मालूम होगा कि यह एक बहुत मजेदार अभ्यास है।"[२९]

---

२८. मातृवाणी, भाग-६, पृष्ठ २७० (देखें : एजूकेशन, भाग २, पृष्ठ ५१-५२)
२९. मातृवाणी, भाग-४, पृष्ठ ५२-५३ (देखें : दि साइंस ऑफ लिविंग, पृष्ठ ४२-४८)

तटस्थ रूप से देखने का तात्पर्य स्वयं अपनी ओर से कुछ भी मिलाये बिना, समस्त व्यक्तिगत प्रतिक्रिया से मुक्त होकर देखना और निर्णय देना। मनुष्य को कोई व्यक्तिगत भावना मिलाये बिना वस्तुओं को देखना सीखना चाहिये।

और मैं यह भी जोड़ रही हूँ कि यह 'पूर्ण मशीन' सजीव चेतना की स्पष्ट दृष्टि के बिना कुछ नहीं कर सकती। जब चेतना 'एक' होती है तो तुम तादात्म्य के द्वारा जान सकते हो; अर्थात् अपनी चेतना को उस वस्तु या मनुष्य के साथ युक्त करके जिसे तुम निष्पक्ष भाव से जानना या जिसके बारे में निष्पक्ष भाव से निर्णय देना चाहते हो, तुम उस वस्तु या मनुष्य के साथ एक आंतरिक संपर्क स्थापित कर लेते हो और फिर पूर्ण निश्चितता के साथ उसे जान लेना तुम्हारे लिये संभव हो जाता है।

. . . फिर निर्णय को विकृत और दूषित करने वाली चीज है परिणामों के विषय में हमारी दुश्चिंता। पूर्णरूप से सत्य निर्णय देने के लिये तुम्हें यह जानना चाहिये कि कामना के बिना उसे किस प्रकार कार्यान्वित किया जाय और कैसे कर्म किया जाय – हजार में केवल एक ही व्यक्ति ऐसा कर सकता है। लगभग सभी लोग परिणाम के विषय में आतुर होते हैं अथवा परिणाम प्राप्त करने के लिये महत्त्वाकांक्षी होते हैं। उन्हें परिणामों के विषय में उत्कंठित नहीं होना चाहिये; बस, इसलिये कार्य करो कि तुमने जान लिया है कि यही काम है जिसे तुम्हें अवश्य करना चाहिये; अपने–आपसे कहो : "मैं इसे कर रहा हूँ, क्योंकि यही वह चीज है जिसे करना चाहिये, और पीछे चाहे जो हो उससे मेरा कोई मतलब नहीं।"

यह स्पष्ट ही एक आदर्श है और जब तक इसे प्राप्त नहीं कर लिया जाता तब तक कार्य में सर्वदा मिलावट रहेगी। अतएव जब तक तुम परम सत्य के सुस्पष्ट दर्शन के द्वारा परिचालित नहीं होते, तुम्हें सर्वदा वही कार्य करने का नियम बना लेना चाहिये जो तुम्हारे लिये करणीय है, क्योंकि बस करने लायक वही कार्य है, और कोई नहीं।"[१०]

कल्पना क्या है?

"कल्पना निर्माण की शक्ति है। असल में, जिनमें कल्पना नहीं होती वे

---

१०. मातृवाणी, भाग-४, पृष्ठ १२-१३ (साथ ही : दि साइंस आफ लिविंग, पृष्ठ ४८-४९)

मानसिक दृष्टिकोण से निर्माता नहीं होते, वे अपने विचार को ठोस शक्ति नहीं दे सकते। कल्पना कर्म का एक बहुत शक्तिशाली साधन है। उदाहरणार्थ, यदि तुम्हारे कहीं दर्द हो रहा हो और तुम यह कल्पना कर सको कि तुम उसका लोप किये दे रहे हो या दूर हटा रहे हो या नष्ट कर रहे हो – ऐसी सब तरह की कल्पनाएँ -- तो बहुत अच्छी तरह सफल होते हो।"[३१]

"वास्तव में, हमारे जीवन का बहुत–सा भाग हमारी कल्पना–सृष्टि का ही मूर्त रूप है। प्रत्येक बार जब तुम किसी अस्वस्थ कल्पना में रस लेते हो, अपने भयों की रूप–रेखा बनाते हो, दुर्घटनाओं और विपत्तियों की आशंका करते हो, तब तुम अपने भावी विनाश के लिये खाई खोदते हो। इसके विपरीत, तुम्हारी कल्पना जितनी अधिक आशापूर्ण होगी, अपने लक्ष्य को पूरा करना तुम्हारे लिये उतना ही अधिक संभव होगा। कूए महोदय को इस शक्तिशाली सत्य का ज्ञान हो गया था और उन्होंने सैंकड़ों लोगों को केवल यह सिखाकर अच्छा कर दिया कि वे अपनी कष्टमुक्त स्थिति की कल्पना करें। एक बार उन्होंने एक स्त्री की घटना सुनायी जिसके बाल झड़ते जा रहे थे। उसने अपने–आपको सुझाव देना शुरू किया कि मैं दिन–पर–दिन अच्छी हो रही हूँ और मेरे बाल निश्चय ही बढ़ रहे हैं। लगातार ऐसी कल्पना करने से उसके बाल सचमुच बढ़ने लगे, यहाँ तक कि अधिक आत्म–प्रेरणा से वह जितना चाहती थी उतने लंबे हो गये। मानसिक रचनाएँ बनाने की शक्ति योग में भी अत्यंत उपयोगी है; जब भगवत्संकल्प के साथ मन का संपर्क स्थापित हो जाता है, अतिमानसिक 'सत्य' मन और उच्चतम 'प्रकाश' के मध्यवर्ती स्तरों के द्वारा अवतरित होने लगता है और यदि मन में पहुँचकर यह उसके अंदर रचनाएँ बनाने की शक्ति देखता है तो यह सहज ही मूर्त रूप धारण कर लेता है और तुम्हारे अंदर सर्जनशील शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।"[३२]

अपनी कल्पना को प्रगति के लिये कैसे उपयोग में लाएँ?

"यदि कोई जानता है कि इसे कैसे प्रयोग किया जा सकता है, जैसा कि मैंने कहा, वह अपने लिए अपने आंतरिक व बाह्य जीवन का सृजन कर सकता है; वह अपनी कल्पना से अपने अस्तित्व का निर्माण कर सकता है, यदि कोई यह जानता है कि इसे कैसे प्रयोग किया जाता है तो वह सशक्त है। वास्तव में संसार में वस्तुओं को बनाने का यह प्रारंभिक मार्ग है। मेरा यह अनुभव है कि

३१. मातृवाणी, भाग-६, पृष्ठ ३८०
३२. मातृवाणी, भाग-३, पृष्ठ ५१६-५१७

यदि किसी के पास कल्पना का सामर्थ्य नहीं है वह कोई प्रगति नहीं कर पायेगा। तुम्हारी कल्पना तुम्हारे जीवन में सदैव अग्रदूत बनकर चलती है। जब तुम अपने बारे में सोचते हो, प्रायः तुम वही कल्पना करते हो जो तुम बनना चाहते हो, क्या तुम ऐसा नहीं करते? और यह सब आगे बढ़ता जाता है, तब तुम इसका अनुसरण करते हो, तब यह और आगे बढ़ता रहता है और तुम अनुसरण करते रहते हो। कल्पना तुम्हारे लिए सिद्धि का मार्ग खोल देती है। वे लोग जो कल्पनाशक्ति सम्पन्न नहीं हैं – उनको सक्रिय करना बहुत कठिन है; वे वही देखते हैं जो उनकी नाक के सामने होता है, वे केवल वही अनुभव करते हैं जो कुछ वे क्षण–प्रतिक्षण होते हैं और वे उससे हटकर आगे नहीं बढ़ सकते क्योंकि वे अपने सामने विषय वस्तु द्वारा जकड़ लिए गए होते हैं। यह सब बहुत कुछ उस पर निर्भर करता है जिसे 'कल्पना' कहा जाता है।"[३३]

कुछ सामान्य मानसिक कठिनाइयों के साथ निपटाना

अरुचि पर कैसे काबू पाएँ ? जब हमें अरुचि होती है तो क्या इसका मतलब यह है कि हम प्रगति नहीं कर रहे ?

"उस समय, हाँ। निस्संदेह, केवल इतना ही नहीं कि वह प्रगति नहीं करता, बल्कि वह प्रगति का एक अवसर खो देता है। परिस्थितियों का एक संयोग था जो तुम्हें नीरस, उबाऊ और मूर्खतापूर्ण लगा और तुम उसके बीच में थे। तो, यदि तुम उसमें ऊब उठो तो इसका अर्थ है कि स्वयं तुम भी उतने ही उबाऊ हो जितनी कि परिस्थितियाँ! और यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि तुम प्रगति की स्थिति में नहीं हो। इस अब की क्षणिक लहर से बढ़कर जीवन के हेतु का विरोधी और कोई नहीं है। उस समय तुम अपने अंदर जरा–सा प्रयत्न करो और अपने–आपसे कहो : "जरा ठहरो, मुझे कौन–सी चीज सीखनी चाहिए? यह सब कौन–सी नयी चीज को ला रहे हैं जिसे मुझे सीखना चाहिए? मुझे अपने ऊपर विजय पाने के लिए कौन–सी प्रगति करनी होगी? कौन–सी दुर्बलता है जिसे जीतना होगा? कौन–सी जड़ता है जिसे जीतना होगा?" अगर तुम अपने–आपसे यह कहो तो तुम देखोगे कि अगले ही मिनट तुम ऊबे हुए नहीं हो। तुम्हें तुरंत रुचि आने लगेगी और तुम प्रगति करोगे।"[३४]

---

३३. मातृवाणी, भाग-३, पृष्ठ ३५६-३५७

३४. मातृवाणी, भाग-४, पृष्ठ ७०

मुझे कुछ कक्षाओं में चीजें क्यों समझ नहीं आतीं ?

"तब कुछ कक्षाओं में तुम सीखना नहीं चाहते। तुम साधारण तौर पर कह सकते हो : "हाँ, हाँ, मैं सीखना चाहता हूँ," लेकिन अगर कोई सचमुच सीखना चाहे तो एक भी कक्षा ऐसी नहीं होती जहाँ तुम कुछ न सीख सको। निश्चय ही, चाहे कोई भी कक्षा क्यों न हो, वहाँ कोई–न–कोई चीज ऐसी जरूर होती है जिसे तुम नहीं जानते, तुम हमेशा सीख सकते हो। तुम चलते–फिरते विश्वकोश नहीं हो! अगर तुम एक ही पुस्तक को दोबारा पढ़ो (मेरा ख्याल है कि कुछ कक्षाओं में यह होता है) और तुम कहो : "ओह! मैं इस पुस्तक को पहले ही पढ़ चुका हूँ। यह उबाने वाली है," तो यह केवल इसलिए होता है क्योंकि तुम सीखना नहीं चाहते; क्योंकि सचमुच अगर तुम उसी पुस्तक को दोबारा पढ़ रहे हो तो इसका अर्थ है कि पहली बार तुमने उसे ध्यान से नहीं पढ़ा और तुमने जो चीज भली–भाँति नहीं पढ़ी उसे विशेष ध्यान से पढ़ना चाहिए। व्याकरण की पुस्तक भी। मैं यह नहीं कहती कि व्याकरण की पुस्तकें बहुत उत्तेजक होती हैं, लेकिन अगर तुम सीखना चाहो तो व्याकरण की पुस्तक भी मजेदार हो जाती है – व्याकरण के अधिक–से–अधिक दुर्बोध नियम भी! तुम कल्पना नहीं कर सकते कि जब तुम सचमुच सीखना चाहते हो, जब तुम समझना चाहते हो कि ऐसा क्यों है, सिर्फ यूँ ही रट लेने, मुखस्थ कर लेने की जगह अगर तुम समझना चाहो: ये शब्द क्या हैं जो यहाँ रखे गए हैं, किस विचार के लिए, किस सच्चे ज्ञान के लिए ये रखे गए हैं? ये क्या कहना चाहते हैं? – यह सब जानना चाहो तो चीज कितनी अधिक रुचिकर हो जाती है। . . .हर एक नियम, चाहे कोई–सा क्यों न हो, स्वयं अपने अंदर स्थित किसी चीज के लिए मनुष्य के मन का सूत्र होता है। किसी भी नियम को ले लो। वह यही बतलाता है कि कुछ मस्तिष्कों ने अपनी दृष्टि में अधिक–से–अधिक स्पष्ट, अधिक–से–अधिक सघन या संक्षिप्त रूप में कोई ऐसी चीज कहने की कोशिश की है जिसका अपना अस्तित्व है। अगर तुम शब्दों के पीछे जाकर इस चीज को ढूँढ़ने की कोशिश करो – जो चीज अपने–आप में अस्तित्व रखती है, जो शब्दों के पीछे विद्यमान है – तो चीज कितनी मज़ेदार हो जाती है। उससे फुरहरी आने लगती है! रोमांच हो उठता है! यह एक जंगल में से गुजरते हुए एक नए देश की खोज करने की तरह है, उत्तरी ध्रुव जाकर छानबीन करने जैसा है। अगर तुम व्याकरण के नियमों के साथ ऐसा

ही कर सको तो मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ, फिर तुम्हें कोई चीज न उबा सकेगी।

सीखने की जगह समझो।

मैं स्वीकार करती हूँ कि इसके लिए बहुत अधिक एकाग्रता की जरूरत है। यह ऐसी एकाग्रता की माँग करती है जो मन के आवरण को भेदकर, उसमें छेद करके उस पार निकल सके। और तब यह मेहनत सार्थक होती है. . .। तुम्हें किसी ठंडी, कठोर, सख्त, बिना लोच की चीज पर धक्का दिया जाता है। तुम एकाग्र होते हो, एकाग्र होते हो, एकाग्र होते हो, जब तक कि. . .अचानक तुम दूसरी ओर निकल जाते हो और तुम प्रकाश में जा निकलते हो और तब समझते हो : "आहा! यह तो अद्‌भुत है! अब मैं समझा।" एक नन्हीं–सी चीज तुम्हें बहुत हर्ष देती है।

तो देखो, विद्यालय में न उकताना संभव है।"[35]

क्या थकान अत्यधिक मानसिक कार्य से आती है?

"नहीं, यह *मानसिक तमस्* से आती है।"[36]

मुझे अत्यधिक काम होने का विचार क्यों आता है?

"मन की जड़ता का एक प्रकार ही तुम्हें यह विचार देता है कि तुम्हारे पास बहुत अधिक काम है। अगर तुम अपना निरीक्षण करो तो तुम देखोगे कि हमेशा तुम्हें एक चीज इस ओर खींचती है और दूसरी चीज उस ओर खींचती है, और फिर इस तरह की अस्पष्टता मानों तुम रुई के फाहों में रह रहे हो, बादलों में रह रहे हो, कुछ भी स्पष्ट नहीं है।

काम का उपयोग इसके सिवाय कुछ नहीं है : वह तुम्हारी मानसिक शक्तियों को निश्चित रूप देता है।"[37]

मन के आलस्य और जड़ता पर कैसे काबू पाएँ?

"चाहकर, अध्यवसाय और आग्रह से। हर रोज पढ़ने, व्यवस्था करने और विकास के मानसिक व्यायाम द्वारा।

---

३५. मातृवाणी, भाग-५, पृष्ठ १०५-०६ (साथ ही : एजूकेशन, भाग २, पृष्ठ १५४-५५)

३६. मातृवाणी, भाग-१२, पृष्ठ १३५

३७. मातृवाणी, भाग-५, पृष्ठ १२७ (साथ ही : एजूकेशन भाग २, पृष्ठ १६०)

दिन के दौरान कभी यह किया जाय और कभी एकाग्रता में मानसिक नीरवता का अभ्यास, बारी–बारी से बदलते रहें।"[१८]

"इसका इलाज मन को जगाने का प्रयास नहीं है। उसे अचल, नीरव अवस्था में ऊपर की ओर, अंतर्मासिक ज्योति के क्षेत्र की ओर स्थिर, शांत अभीप्सा में मोड़ो और नीरवता में प्रतीक्षा करो ताकि ज्योति नीचे उतरे और तुम्हारे मस्तिष्क में बाढ़ ला दे। इससे मस्तिष्क थोड़ा–थोड़ा करके इस प्रभाव की ओर खुलेगा और अंतर्भास को ग्रहण और प्रकट करने योग्य बनेगा।"[१९]

हम बातें भूल क्यों जाते हैं ?

"ओह! मेरे विचार में इसके कई कारण हैं। पहला, क्योंकि व्यक्ति याद रखने के लिये स्मरण शक्ति का प्रयोग करता है। स्मृति एक मानसिक उपकरण है और मस्तिष्क की रचना पर निर्भर है। तुम्हारा मस्तिष्क लगातार विकसित होता रहता है, जब तक कि उसका ह्रास ही न शुरू हो जाय, किन्तु तो भी उसका विकास बड़े लम्बे समय तक चलता रह सकता है, शरीर के विकास से कहीं अधिक लंबे समय तक। और इस विकास में, आवश्यक रूप से कुछ वस्तुएं दूसरी वस्तुओं का स्थान लेंगी। और जैसे–जैसे मानसिक यंत्र विकसित होता जायगा, वैसे–वैसे जिन वस्तुओं का काम या विकास की क्रिया में अस्थायी समय समाप्त हो गया है वे अपना स्थान इस सबके परिणाम को देकर मिट सकती हैं। इस प्रकार जो कुछ तुम जानते हो उस सबका परिणाम उसके अंदर, सजीव रूप में, रह जाता है किन्तु जिस मार्ग से उस तक पहुँचा गया है वह पूरी तरह से धुँधला पड़ जाता है। दूसरे शब्दों में, यदि स्मृति अच्छी तरह कार्य कर रही है तो इसका यह अर्थ होगा कि केवल परिणाम ही याद रहेगा ताकि वह आगे बढ़ने के लिये और नयी रचना के लिये आवश्यक तत्त्वों को सुरक्षित रख सके। यह बात मन में कठोर रूप से वस्तुओं को जमा रखने की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

अब, एक पक्ष इसका और भी है। मानसिक स्मृति दोषपूर्ण चीज है, उसके बाहर भी चेतना की अवस्थाएँ हैं। व्यक्ति चेतना की जिस किसी अवस्था में हो, वह अवस्था उस समय के देखे हुए विषयों को, वे चाहे जो क्यों न हों, अंकित कर लेती है। यदि तुम्हारी चेतना पारदर्शी, विशाल एवं सशक्त रहती है, तो तुम

---

१८. मातृवाणी, भाग-१२, पृष्ठ ४००

१९. मातृवाणी, भाग-१२, पृष्ठ ११६

किसी भी समय, एकाग्र होकर, उस सबको जो तुमने पहले कभी किया, सोचा, देखा, परखा है अपनी सक्रिय चेतना में ला सकते हो; अपने अंदर चेतना की उसी अवस्था को लाकर इन सबको याद कर सकते हो। और वह फिर कभी नहीं भूलता। हजारों वर्ष जीवित रहने पर भी तुम उन्हें याद रख सकते हो। अतएव, यदि तुम किसी वस्तु को भूलना नहीं चाहते, तो उसे तुम्हारी चेतना को याद रखना होगा, मानसिक स्मृति को नहीं। तुम्हारी मानसिक स्मृति तो मिट भी जायगी, धुंधली भी पड़ जायगी, और फिर नयी वस्तुएँ पुरानी वस्तुओं का स्थान ले लेंगी। किंतु तुम जिन वस्तुओं के प्रति सचेतन हो, उन्हें कभी नहीं भूलते। तुम्हें केवल चेतना की उसी अवस्था को वापिस लाना होगा। और इस प्रकार तुम हजारों वर्ष पहले की बातें भी याद रख सकते हो, पर केवल तब यदि तुम चेतना की उसी अवस्था को लाना जानो। इसी प्रकार व्यक्ति अपने पूर्व जन्मों को याद रख सकता है। वे कभी नहीं मिटतीं, जब कि जो कुछ तुमने अपने बचपन में भौतिक रूप में किया था वह याद मिट जाती है, तुम्हें ऐसी कई बातें बतायी जायंगी जो तुम्हें इस समय याद नहीं। वह सब तत्काल ही धुल–पुछ जाता है। कारण, मस्तिष्क लगातार बदलता रहता है और कुछ निर्बल कोषाणुओं के स्थान पर नये अधिक सशक्त कोषाणु आ जाते हैं, और अन्य संयोग एवं मस्तिष्क–संबंधी रचनाएँ आती हैं। इस प्रकार, जो पहले था वह मिट जाता है या विकृत हो जाता है।"[४०]

हम अप्रिय विचारों से कैसे मुक्ति पाएँ?

इसकी कई विधियाँ हैं। सामान्यतया – किन्तु यह व्यक्तियों पर निर्भर है– सबसे सरल विधि यह है कि व्यक्ति ऐसे समय किसी अन्य वस्तु के बारे में सोचने लगे। दूसरे शब्दों में, वह अपना ध्यान किसी ऐसी वस्तु पर एकाग्र कर ले जिसका उस विचार के साथ कोई संबंध या नाता न हो, जैसे पढ़ना या किसी और रचनात्मक कार्य में लग जाना। उदाहरणार्थ, जो लोग लिखते हैं वे लिखने का कार्य करने लगें, कारण, जब वे लिखते हैं (एक उपन्यासकार को ही लो), जब वह लिखता है, तो और समस्त विचार वहाँ से चले जाते हैं, क्योंकि वह अपने कार्य पर एकाग्र होता है। जब वह लिखना बंद कर देता है, और यदि उसे अपने ऊपर नियंत्रण न हो, तो वे विचार वापिस लौट आयेंगे। किन्तु ठीक उस

४०. मातृवाणी, भाग-६, पृष्ठ २०-२१ (साथ ही : चेतनीय शिक्षा पृष्ठ ५९-६०)

समय जब व्यक्ति पर ऐसे विचार का आक्रमण हो, वह कोई रचनात्मक कार्य करने का प्रयत्न कर सकता है; उदाहरणार्थ, वैज्ञानिक कोई शोध–कार्य कर सकता है किसी वस्तु की खोज के लिये विशेष प्रकार का अध्ययन कर सकता है – कुछ भी, जो उसे पूरी तरह व्यस्त रख सके; यही सबसे सरल विधि है। स्वभावतया, जिन लोगों ने अपने विचारों पर नियंत्रण करना आरंभ कर दिया है, वे परित्याग की क्रिया को अपना सकते हैं, विचार को ऐसे ही पीछे ढकेल दे सकते हैं जैसे किसी भौतिक वस्तु को ढकेला जाता है। किन्तु यह कार्य अधिक कठिन है और इसमें अपने ऊपर अधिक अधिकार की आवश्यकता पड़ती है। यदि व्यक्ति ऐसा कर सके, तो यह अधिक क्रियाशील विधि होगी, इस अर्थ में कि यदि तुम उस क्रिया को, उस विचार को नकार दोगे, यदि तुम उसे पूरी तरह और लगातार या प्रायः बार–बार भगाते रहोगे, तो वह अंत में आयेगा ही नहीं। किन्तु पहली विधि में, वह सदा लौट सकता है। ये दो विधियाँ हुईं।

एक तीसरी विधि भी है, और वह यह कि एक पर्याप्त महान् प्रकाश ऊपर से नीचे उतारा जाय जो गहनतर अर्थ में विचार को "अस्वीकृति" देगा; दूसरे शब्दों में, यदि आने वाला विचार कुछ–कुछ अंधकारमय हो (और विशेषकर तब जबकि वह अवचेतन या निश्चेतन में से आया हो और उसे सहज प्रेरणा से पोषण मिलता हो), यदि व्यक्ति ऊपर से सच्चे ज्ञान और उच्चतर शक्ति का प्रकाश नीचे उतार सके, और उसे अपने विचार पर डाल सके, तो वह या तो उसे समाप्त कर सकता है या उसे आलोकित अथवा रूपांतरित कर सकता है – यह सर्वोच्च विधि है, पर है और भी अधिक कठिन। किन्तु यह किया जा सकता है, और यदि कर लिया जाय, तो वह व्यक्ति छुटकारा पा जाता है – इतना ही नहीं कि विचार नहीं आता बल्कि उसका कारण ही दूर हो जाता है।

पहला पग है किसी अन्य वस्तु के बारे में सोचने लगना (किन्तु तुम जानते हो कि इस तरह तो यह करते ही रहना पड़ेगा); दूसरा है उससे संघर्ष करना; और तीसरा है उसका रूपांतर करना। जब व्यक्ति तीसरे पग तक पहुँच जाता है, तो वह छुटकारा ही नहीं पा लेता, बल्कि एक स्थायी प्रगति भी कर लेता है।"[५१]

---

५१. मातृवाणी, भाग-६, पृष्ठ २२, २३ (साथ ही: पंचविध शिक्षा, पृष्ठ ६१-६२)

मन के वाद–विवाद कैसे बन्द करें ?

"पहली शर्त है जितना हो सके उतना कम बोलो।

दूसरी शर्त है, केवल उसी चीज के बारे में सोचो जो तुम इस समय कर रहे हो, उसके बारे में मत सोचो जो तुम्हें करना है या जो तुम कर चुके हो।

जो हो चुका उसके लिये कभी न पछताओ और जो होने वाला है उसकी कल्पना न करो।

जहाँ तक बन पड़े अपने विचारों में निराशा को रोको और स्वेच्छापूर्वक आशावादी बनो।"[४२]

मन शान्त कैसे करें ?

"तुम मानसिक क्रिया–कलाप के द्वारा मन को स्थिर–शांत नहीं कर सकते, तुम्हें जिस सहायता की आवश्यकता है वह किसी उच्चतर या गहनतर स्तर से प्राप्त हो सकती है। और दोनों को नीरवता में ही पाया जा सकता है।"[४३]

विचार–विमर्श की क्या उपयोगिता है ?

सामान्यतया, जो लोग विवाद करना पसन्द करते हैं वे वही होते हैं जिन्हें अपने विचारों को सुस्पष्ट करने के लिए विरोध से उत्तेजना पाने की आवश्यकता होती है।

यह स्पष्ट ही एक प्रारंभिक बौद्धिक अवस्था का चिन्ह है।

किन्तु यदि तुम किसी विवाद में एक निष्पक्ष दर्शक के रूप में उपस्थित हो (तब भी जब तुम विवाद में हिस्सा ले रहे हो और कोई तुमसे ही विवाद कर रहा हो), तो तुम सदा ही उससे लाभ उठा सकते हो, अर्थात् तुम कई दृष्टिकोणों से किसी प्रश्न या समस्या को सोच सकते हो। विरोधी मतों में समन्वय लाने के प्रयत्न में तुम अपने विचारों को विस्तृत कर सकते हो तथा एक अधिक व्यापक समन्वय तक पहुँच सकते हो।"[४४]

जो हम सच महसूस करते हैं उसे अन्य व्यक्तियों को समझाने का सबसे अच्छा रास्ता क्या है ?

---

४२. मातृवाणी, भाग-१२, पृष्ठ १४१

४३. मातृवाणी, भाग-१२, पृष्ठ १४१

४४. मातृवाणी, भाग-१०, पृष्ठ ८७ (सब डी: एजूकेशन, भाग २, पृष्ठ २०८)

"जिसे व्यक्ति सत्य समझता है उसे दूसरों के आगे प्रमाणित करने का सबसे अच्छा तरीका है उसके अनुसार *आचरण करना* – और कोई दूसरा तरीका नहीं है।"[५५]

मानसिक क्षमताओं का विकास

स्वयं को विशाल कैसे बनाएँ ?

"कई प्रकार के विषयों का अध्ययन करना चाहिये। मैं समझती हूँ कि यही तरीका है। उदाहरणार्थ, यदि तुम स्कूल में हो, तो सभी संभव विषयों का अध्ययन करो। अगर तुम घर पर पढ़ते हो तो एक ही प्रकार की नहीं, नाना प्रकार की चीजें पढ़ो।"[५६]

"मेरे आगे यह बार–बार दुहराया जाता रहा है : यदि किसी वस्तु को ठीक ढंग से करना है, तो उसमें विशेषज्ञता प्राप्त करनी होगी। खेलों के साथ भी यही बात है। यह जीवन में सभी वस्तुओं के साथ है। ऐसा कहा जाता है और बार–बार दुहराया जाता है, और कुछ लोग इसे प्रमाणित भी करते हैं : किसी वस्तु को भली प्रकार करने के लिये व्यक्ति को उसमें विशेषज्ञ बनना होगा। उसे ऐसा बनना होगा और उसी पर एकाग्र होना होगा। यदि व्यक्ति अच्छा दार्शनिक बनना चाहता है, तो उसे केवल दर्शन–शास्त्र का ही अध्ययन करना होगा, यदि वह अच्छा रसायनशास्त्री बनना चाहता है, तो उसे केवल रसायन विद्या का ही अध्ययन करना होगा। और यदि कोई टेनिस का अच्छा खिलाड़ी बनना चाहता है, तो उसे केवल टेनिस खेलनी चाहिये। मैं केवल इतना ही कह सकती हूँ कि मैं ऐसा नहीं सोचती। मेरा अनुभव अलग तरह का है। मेरा मानना है कि कुछ सामान्य क्षमताएँ होती हैं और व्यक्ति के लिये उन्हें प्राप्त करना किसी एक में विशेषज्ञता प्राप्त करने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इस विषय में केवल एक दृष्टांत हो सकता है और वह तब जब व्यक्ति कोई खोज करना चाहे। तब, स्वभावतया, उसे अपना पूरा प्रयत्न उसमें लगा देना चाहिये। किन्तु तब भी जीवन–भर उसके लिये प्रयत्न करने की जरूरत नहीं – हाँ, कोई बहुत कठिन विषय चुना हो, जैसा कि क्यूरी दंपति ने चुना था, तो और

---

५५. मातृवाणी, भाग-१०, पृष्ठ ८७

५६. मातृवाणी, भाग-६, पृष्ठ १८ (साथ ही: पंचविध शिक्षा, पृष्ठ ५७)

बात है। और ऐसा समय भी आया जब उन्होंने अपनी खोज पूरी कर ली – वे इसके परे भी जा सकते थे।

फिर भी, सहज रूप में जो लोग अपना संतुलन रखना चाहते हैं वे आराम करने के लिये एक काम को छोड़कर दूसरा हाथ में ले लेते हैं। हमेशा बड़े–बड़े कार्यकर्ताओं अथवा महान् कलाकारों या वैज्ञानिकों के ऐसे उदाहरण दिये जाते हैं जिनमें किसी–न–किसी प्रकार की सनक, कोई मनबहलाव का ढंग होता है। तुमने शायद इंगरे की वायलिन के बारे में सुना होगा। वह वास्तव में एक चित्रकार था; उसमें प्रतिभा की कमी नहीं थी और जब कभी उसे खाली समय मिलता तो वह वायलिन बजाया करता था, वस्तुतः उसे चित्रकारी से कहीं अधिक वायलिन बजाने में रुचि थी। वह शायद वायलिन अच्छी तरह नहीं बजा सकता था किन्तु उसे उसी में अधिक रुचि थी, जब कि चित्रकारी में वह बहुत अच्छा था पर उसकी रुचि कम थी। किन्तु विचार में यह इसलिये था क्योंकि उसे एक प्रकार के संतुलन की आवश्यकता थी। मानव मन के लिये अपने सामान्य क्रियाकलाप में अपना लक्ष्य पाने के लिये एक ही वस्तु पर एकाग्र होना अति आवश्यक है, किन्तु वह किसी ऐसी अन्य कार्य–पद्धति को भी साधित कर सकता है जो अधिक पूर्ण एवं सूक्ष्म हो। स्वभावतया, शारीरिक रूप से मनुष्य की अपनी सीमाएँ होती हैं, क्योंकि भौतिक जीवन में वह बहुत हद तक काल और देश पर निर्भर रहता है, और साथ ही विशेष एकाग्रता के बिना महान कार्य साधित करना कठिन है। किन्तु यदि व्यक्ति एक उच्चतर और गहनतर जीवन बिताना चाहता है, तो मेरे विचार में वह प्रतिबंध और सीमा के बंधन की जगह शायद अन्य विधियों से अधिक बड़ी क्षमताएँ प्राप्त कर सकता है। अपनी सीमाओं से मुक्त होने में बहुत फायदा है, चाहे सक्रिय चरितार्थता के दृष्टिकोण से न भी हो, कम–से–कम आध्यात्मिक उपलब्धि के दृष्टिकोण से तो है ही।"[४७]

प्रेरणाएँ कहाँ से आती हैं ?

"एक सूक्ष्म जगत् है जहाँ तुम चित्रकारी, उपन्यास, सब प्रकार के नाटक और सिनेमा तक के लिए समस्त संभव विषय पा सकते हो।

अधिकतर लेखक वहीं से अपनी प्रेरणा पाते हैं।"[४८]

---

४७. मातृवाणी, भाग-६, पृष्ठ १८-२० (साथ ही: संकलित शिक्षा, पृष्ठ ५७-५९)

४८. मातृवाणी, भाग-१२, पृष्ठ १२६

प्रेरणाओं को हम कैसे ग्रहण कर सकते हैं ?

"ऊपर से प्रेरणा पाने के पहले मन को स्थिर—शांत और नीरव होना चाहिए।"[७९]

कोई काम अच्छी तरह से कैसे करें ?

"यदि तुम कोई कार्य सुचारु रूप से करना चाहते हो, वह कार्य चाहे जो भी क्यों न हो, किसी प्रकार का क्यों न हो, चाहे जितना छोटा हो, कोई खेल खेलना हो, कोई पुस्तक लिखने का कार्य हो, चित्रकारी या संगीत संबंधी कार्य हो, किसी दौड़ में भाग लेना हो, कोई भी चीज क्यों न हो, यदि तुम उसे अच्छे रूप में करना चाहते हो तो तुम्हें बस वही बन जाना होगा जो तुम कर रहे हो और एक तुच्छ व्यक्ति नहीं बने रहना होगा जो उसे करते हुए अपने—आपको देख रहा हो; क्योंकि यदि कोई अपने—आपको कार्य करते हुए देखता है तो वह . . . वह अभी भी अहंकार के साथ सहभागी होता है। यदि, अपने अंदर, वह वही चीज बन जाने में सफल होता है जिसे वह करता है तो यह एक महान् प्रगति है। कार्य के छोटे—से—छोटे ब्योरे में भी हमें ऐसा करना सीखना होगा। एक बहुत मजेदार उदाहरण लें : तुम किसी बोतल से कोई चीज दूसरी बोतल में भरना चाहते हो; तुम एकाग्र होते हो (तुम एक अनुशासन के रूप में, एक अभ्यास के रूप में इसे करने की चेष्टा कर सकते हो); हाँ तो, जब तक तुम भरी जाने वाली बोतल, जिससे तुम ढालते हो वह बोतल और ढालने की क्रिया बने रहते हो, जब तक तुम केवल वही सब बने रहते हो, सारा कार्य ठीक चलता है। परंतु दुर्भाग्यवश, यदि तुम किसी मुहूर्त्त यह सोचते हो : "आह! यह सब ठीक चल रहा है, मैं अच्छी तरह इसे कर रहा हूँ", दूसरे ही क्षण वह चीज बाहर ढरक जाती है! बस, यही बात प्रत्येक चीज के लिए, प्रत्येक चीज के लिए है। इसी कारण कर्म अनुशासन का एक अच्छा साधन है, क्योंकि यदि तुम उचित ढंग से कार्य करना चाहो तो तुम्हें कार्य करने वाला कोई व्यक्ति बने रहने की जगह स्वयं वह कार्य ही बन जाना होगा, अन्यथा तुम उसे कभी भली—भांति नहीं कर सकोगे। यदि तुम "काम करने वाला कोई व्यक्ति" बने रहो और उसके साथ ही, तुम्हारे विचार इधर—उधर भटकते रहें तो तुम निश्चित रूप से यह मान सकते हो कि यदि भंगुर वस्तुओं के साथ तुम व्यवहार करते हो तो वे अवश्य टूट जाएंगी, यदि तुम भोजन बना रहे हो तो तुम कोई चीज जला दोगे, अथवा यदि तुम कोई खेल खेल रहे हो तो

७९. मातृवाणी, भाग-१२, पृष्ठ १५०

सभी गेंदें तुम्हारे हाथ से निकल जाएंगी! बस, यहीं पर, इसी विषय में, कार्य एक बहुत बड़ा अनुशासन है। कारण, तुम यदि सचमुच उसे अच्छे ढंग से करना चाहते हो तो उसे करने का केवल यही तरीका है।

उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति को ले लो जो एक पुस्तक लिख रहा है! यदि वह पुस्तक लिखते समय अपनी ओर दृष्टि लगाए तो तुम अनुमान नहीं लगा सकते कि कितनी नीरस वह पुस्तक बन जाएगी; उसमें तुरत तुच्छ मानवीय व्यक्तित्व की गंध आती है जो उसमें होती है और उसके कारण वह पुस्तक अपना समस्त मूल्य खो देती है। जब किसी चित्रकार के व्यक्तित्व का एक प्रकार का प्रक्षेप आ जाएगा; वह चित्र जीवनहीन, शक्तिरहित, सौंदर्यविहीन होगा। परंतु यदि, अचानक, वह वही चीज बन जाए जिसे वह व्यक्त करना चाहता है, यदि वह ब्रश, चित्रांकन, कैन्वस, विषय, आकार, रंग, छायालोक, समस्त वस्तु बन जाए, पूर्णतः उसी के अंदर पैठ जाए और वही उस का जीवन बन जाए तो वह कोई उत्कृष्ट वस्तु तैयार कर लेगा।

अब अपनी बात लें। जब तुम स्कूल में पढ़ते हो, तुम्हें एक ऐसी एकाग्रता में डूब जाना होगा जो यह पकड़ने की चेष्टा करती है कि अध्यापक क्या कह रहे हैं, अथवा वह विचार बन जाना होगा जो तुम्हारे भीतर घुसता है अथवा वह ज्ञान बन जाना होगा जो तुम्हें दिया जा रहा है। बस, वही तुम्हें बन जाना होगा। तुम्हें अपने विषय में नहीं, बल्कि जो कुछ सीखना चाहते हो केवल उसके विषय में नहीं, बल्कि जो कुछ सीखना चाहते हो केवल उसके विषय में विचार करना चाहिए। और तुम देखोगे कि तुम्हारी क्षमताएँ तुरंत दुगुनी बढ़ गयी हैं।

जो चीज सबसे अधिक हीनता की, सीमितता की, तुच्छता की, निःशक्तता की भावना देती है वह बराबर यही चीज होती है – अपनी ओर अपने–आपको मोड़ लेना, अपने–आपको अतिसूक्ष्म अहं की सीमाओं में बंद कर लेना। तुम्हें अपने–आपको विस्तारित करना, दरवाजों को खोलना होगा। और सबसे उत्तम तरीका है स्वयं अपने ऊपर एकाग्र होने के बदले जो कुछ किया जाए उस पर एकाग्र होने में सक्षम होना।"[५०]

५०. मातृवाणी, खण्ड-४, पृष्ठ ३६३-६४ (सब सी : एजूकेशन भाग २, पृष्ठ १४९-५१)

अध्याय–९

चैत्य एवं : आध्यात्मिक शिक्षा

अब तक हमारा विषय वह शिक्षा रही है जो संसार में जन्म लेने वाले प्रत्येक बच्चे को दी जा सकती है और जो केवल मानवीय क्षमताओं से ही सम्बंध रखती है, परन्तु हमें अनिवार्य रूप में वहीं रुक जाने की आवश्यकता नहीं। सब मानव प्राणियों में अंदर छिपी हुई एक महत्तर चेतना की संभावना मौजूद है जो उनके सामान्य जीवन की सीमा से बड़ी है और जिसकी सहायता से वे एक उच्चतर और अधिक व्यापक जीवन में भाग लेने के अधिकारी बन सकते हैं। वास्तव में, यही चेतना सभी असाधारण व्यक्तियों में जीवन को शासित करती है तथा उनकी परिस्थितियों और साथ ही इन परिस्थितियों के प्रति उनकी वैयक्तिक प्रतिक्रिया को भी व्यवस्थित करती है। जो बात मनुष्य का मन नहीं जानता और नहीं कर सकता उसे वह चेतना जानती और करती है। यह उस प्रकाश के समान है जो व्यक्ति के केन्द्र में चमक रहा है। इसकी किरणें बाह्य चेतना के मोटे आवरणों से प्रसारित होती हैं। कुछ व्यक्तियों को इसकी उपस्थिति का एक अस्पष्ट–सा भान रहता है; बहुत–से बच्चे भी इसके प्रभाव के अधीन होते हैं जो कभी–कभी अत्यधिक स्पष्ट रूप से उनकी सहज–प्रेरित क्रियाओं, यहां तक कि उनके शब्दों में भी दृष्टिगोचर होता है। दुर्भाग्यवश, माता–पिता बहुधा इसका

अर्थ नहीं जानते और न ही यह यह समझते हैं कि उनके बच्चों के अंदर कौन-सी क्रिया चल रही है। इसलिए इन घटनाओं की ओर उनकी अपनी प्रतिक्रिया भी कोई अच्छी नहीं होती और उनकी सारी शिक्षा का अर्थ ही यह रह जाता है कि वह बच्चे को इस क्षेत्र में यथासंभव अचेतन बना दे, उसका सारा ध्यान बाह्य वस्तुओं पर केन्द्रित कर दे तथा उसमें इन्हीं को महत्त्वपूर्ण समझने का अभ्यास डाल दे। बाह्य वस्तुओं पर ध्यान केन्द्रित करना बहुत लाभदायक तो है, पर यह कार्य उचित ढंग से करना चाहिए। ये तीन प्रकार की शिक्षाएं-शारीरिक, प्राणिक तथा मानसिक- इसी से संबंधित हैं। हम कह सकते हैं कि ये शिक्षाएं व्यक्तित्व का निर्माण करने, मनुष्य को अस्पष्ट और अवचेतन जड़ता से उबारने तथा उसे एक सुनिश्चित और आत्म-चेतन सत्ता बनाने के साधन हैं। अंतरात्मा की शिक्षा के द्वारा हम जीवन के सच्चे आशय, पृथ्वी पर अपने अस्तित्व के कारण तथा जीवन की खोज के लक्ष्य और उसके परिणाम के प्रश्न पर आते है : अपनी नित्य सत्ता के प्रति व्यक्ति का आत्म-समर्पण। इस खोज का सम्बंध, साध ारणतया, एक गुह्य भाव तथा धार्मिक जीवन से है, क्योंकि विशेष रूप से धर्म-मत ही जीवन के इस पहलू में व्यस्त रहे हैं, पर ऐसा होना आवश्यक नहीं। ईश्वर-विषयक गुह्य विचार के स्थान पर सत्य का अधिक दार्शनिक विचार आ सकता है, पर फिर भी यह खोज सार-रूप में वही रहेगी, केवल उस तक पहुंचने का मार्ग ऐसा हो जायगा कि अत्यधिक आग्रहशील प्रत्यक्षवादी भी इसको अपना सकेगा; क्योंकि आंतरात्मिक जीवन की तैयारी के लिए मानसिक विचारों और धारणाओं का सबसे अधिक महत्त्व नहीं है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अनुभव को जीवन में लाया जाय, यह अनुभव अपने-आपमें यथार्थ शक्तिशाली होता है, यह उन सब सिद्धांतों से स्वतंत्र है जो इसके पहले, इसके साथ या इसके पीछे आते हैं, क्योंकि अधिकतर ये सिद्धांत व्याख्या-रूप ही होते हैं जिसके द्वारा मनुष्य को कुछ-कुछ ज्ञान प्राप्ति का भ्रम हो जाता है। जिस आदर्श या पूर्ण सत्ता को मनुष्य प्राप्त करना चाहता है उसे वह उस वातावरण के अनुसार, जिसमें वह उत्पन्न हुआ है और उस शिक्षा के अनुसार जो उसे प्राप्त हुई है, भिन्न भिन्न नाम दे देता है। अगर अनुभव सच्चा हो तो वह सार-रूप में समान ही रहता है। भेद केवल उन शब्दों और उक्तियों में है जिनमें उसका निरूपण होता है और यह होता है उस व्यक्ति के विश्वास और मानसिक शिक्षा के अनुसार जिसको यह अनुभव

प्राप्त हुआ है। यह निरूपण एक निकटवर्ती वर्णन मात्र है। जैसे–जैसे अनुभव अपने–आप में अधिकाधिक यथार्थ और सुसंबद्ध होता जाय, वैसे–वैसे इस निरूपण को भी, उत्तरोत्तर विकसित तथा यथार्थ होते जाना चाहिये। फिर भी, यदि हम आंतरात्मिक शिक्षा की एक सामान्य रूप–रेखा खींचना चाहें तो अंतरात्मा से हमारा अभिप्राय क्या है, इस विषय में हमें कुछ विचार अवश्य बना लेना चाहिए, चाहे वह विचार कितना ही सापेक्ष क्यों न हो। उदाहरणार्थ, यह कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति की रचना उन असंख्य संभावनाओं में से किसी एक के देश और काल में प्रक्षेपण के द्वारा होती है जो समस्त अभिव्यक्ति के सर्वोच्च उद्‌गम में गुप्त रूप से विद्यमान हैं। यह उद्‌गम एकमेव विश्वव्यापी चेतना के द्वारा व्यक्ति के नियम या सत्य में मूर्त्त रूप धारण कर लेता है और इस प्रकार उत्तरोत्तर विकास करते हुए उसकी आत्मा या चैत्य पुरुष बन जाता है।

मुझे इस बात पर जोर देना चाहिए कि जो कुछ संक्षेप में यहां कहा गया है उसे न तो अंतरात्मा की पूर्ण व्याख्या कहा जा सकता है और न ही पूरे–का–पूरा विषय उसमें आ जाता है– अभी बहुत कुछ बाकी है। यह एक अति संक्षिप्त निरूपणमात्र है और इसका उपयोग व्यवहार–रूप में हो सकता है। यह उस शिक्षा का आधार बन सकती है जिस पर अब हमें विचार करना है।

आंतरात्मिक उपस्थिति के द्वारा ही व्यक्ति का सच्चा अस्तित्व व्यक्ति तथा उसके जीवन की परिस्थितियों से संपर्क प्राप्त करता है। यह कहा जा सकता है कि अधिकांश व्यक्तियों में यह उपस्थिति अज्ञात और अपरिचित रूप में पर्दे के पीछे से कार्य करती है; पर कुछ में यह अनुभव–गोचर होती है तथा इसकी क्रिया को भी पहचाना जा सकता है; बहुत ही विरले लोगों में यह उपस्थिति प्रत्यक्ष रूप में प्रकट होती है और इन्हीं में इसकी क्रिया भी अधिक प्रभावशाली होती है। ऐसे लोग ही एक विशेष विश्वास और निश्चय के साथ जीवन में आगे बढ़ते हैं; ये ही अपने भाग्य के स्वामी होते हैं। इस स्वामित्व को प्राप्त करने तथा अंतरात्मा की उपस्थिति के प्रति सचेतन होने के लिए ही आंतरात्मिक शिक्षा के अनुशीलन की जरूरत है; पर इसके लिए एक विशेष साधन, अर्थात् व्यक्ति के निजी संकल्प का होना आवश्यक है। क्योंकि अभी तक अंतरात्मा की खोज, इसके साथ तदात्मता, शिक्षा के स्वीकृत विषयों का अंग नहीं बनी है। कई ऐसी विशेष पुस्तकें हैं जिनमें इस विषय को सीखने के लिए कुछ उपयोगी निर्देश मिल जाते हैं। किन्हीं विशेष

अवस्थाओं में कुछ भाग्यशाली लोगों की किसी ऐसे व्यक्ति से भेंट भी हो सकती है जो उन्हें मार्ग दिखाने में समर्थ होता है तथा इस पर चलने के लिए उन्हें आवश्यक सहायता पहुंचा सकता है, पर अधिकतर यह कार्य मनुष्य को अपनी ही मौलिक प्रेरणा द्वारा करना होता है। यह खोज उसका व्यक्तिगत कार्य है तथा लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए एक महान् संकल्प, दृढ़ निश्चय और अथक अ- यवसाय की विशेष आवश्यकता पड़ती है। ऐसा कहा जा सकता है कि प्रत्येक को अपनी कठिनाइयों में से अपना रास्ता आप निकालना होता है। कुछ हद तक तो इस लक्ष्य को लोग जानते हैं; क्योंकि जिन्होंने उसे प्राप्त कर लिया है उनमें से अधिकांश थोड़े–बहुत स्पष्ट रूप में इसका वर्णन कर चुके हैं। पर इस खोज का सर्वोच्च महत्त्व इसकी सहज–स्वाभाविकता और सच्चाई में है जो सामान्य मानसिक मर्यादाओं में नहीं होती। इसीलिए, जो कोई इस साहसपूर्ण कार्य का बीड़ा उठाना चाहता है वह पहले प्रायः, एक ऐसे व्यक्ति की खोज करता है जो इस कार्य को सफलतापूर्वक कर चुका होता है और साथ ही जो उसे सहारा देने और रास्ता दिखाने में समर्थ है। फिर भी, कई ऐसे एकाकी जिज्ञासु होते हैं जिनके लिए कुछ सामान्य निर्देश उपयोगी हो सकते हैं।

प्रारंभ में मनुष्य को अपने अंदर उस चीज की खोज करनी होगी जो शरीर और जीवन की परिस्थितियों से स्वतंत्र है, जिसका जन्म न तो उस मानसिक रचना से हुआ है जो उसे प्राप्त हुई है, न उस भाषा से जो वह बोलता है; न उस वातावरण के अभ्यासों तथा रीति–रिवाजों से जिसमें वह रहता है और न ही उस देश या युग से जिसमें वह उत्पन्न हुआ है तथा जिससे उसका सम्बंध है। उसे, अपनी सत्ता की गहराई में, उस वस्तु को ढूंढ़ना होता है जिसके अंदर व्यापकता, असीम विस्तार तथा नित्य स्थिरता का भाव है। तब वह अपने–आपको केंद्र से बाहर की ओर प्रसारित करता है, विशाल और व्यापक बनाता है; प्रत्येक वस्तु में तथा सब प्राणियों में निवास करने लगता है; व्यक्तियों– को एक–दूसरे से पृथक् करने वाली सीमाएं टूट जाती हैं। वह उनके विचारों में सोचता है, उनके संवेदनों से स्पंदित होता है, उनकी भावनाओं में अनुभव करता है, सबके जीवन में जीता है। जो जड़ प्रतीत होता था, वह एकाएक जीवन से पूर्ण हो जाता है, पत्थर स्पंदित हो उठते हैं, पौधे संवेदन, इच्छा तथा दुःख अनुभव करने लगते हैं, पशु एक मूक–सी, पर स्पष्ट और व्यंजक भाषा में बोलते हैं; सब वस्तुएं एक ऐसी

अद्भुत चेतना से सजीव हो उठती हैं जो देश और काल से परे है। यह आंतरात्मिक उपलब्धि का केवल एक पक्ष है; इसके अतिरिक्त और भी बहुत–से हैं। ये सब मिलकर तुम्हारे अहंभाव की सीमाओं तथा तुम्हारे बाह्य व्यक्तित्व की दीवारों से, तुम्हारी प्रतिक्रियाओं की असमर्थता और तुम्हारे संकल्प की दुर्बलता से तुम्हे बाहर निकाल लाते हैं।

पर, जैसा कि मैं पहले कह चुकी हूं, यहां तक पहुंचने का मार्ग लंबा और कठिन है, इसमें अनेक जाल बिछे हैं तथा कठिनाइयां हैं और इनका सामना करने के लिए एक ऐसे दृढ़ निश्चय की आवश्यकता है जो सब प्रकार की परीक्षाओं के सम्मुख टिक सके। यह एक अपरिचित प्रदेश की, एक महान् ध्येय की खोज के लिए अज्ञात वन में से एक अन्वेषक की यात्रा के समान है। अंतरात्मा की उपलब्धि भी एक महान् खोज है, इसके लिए उतनी ही निडरता और सहनशीलता की आवश्यकता है जितनी हमें नये महाद्वीपों की खोज में होती है। जिसने इस काम को हाथ में लेने का निश्चय कर लिया है उसके लिए कई निर्देश उपयोगी हो सकते हैं।

पहली और शायद अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मन आध्यात्मिक वस्तुओं के विषय में राय बनाने में असमर्थ है। जिन लोगों ने भी इस विषय पर लिखा है वे सब यही कहते हैं; पर बहुत कम लोग ऐसे हैं जो इस पर आचरण करते हैं। फिर भी इस मार्ग पर अग्रसर होने के लिये सब प्रकार की मानसिक धारणाओं और प्रतिक्रियाओं से बचना सर्वथा अनिवार्य है।

आराम, सुख–भोग या प्रसन्नता के लिए हर प्रकार की वैयक्तिक कामना का त्याग कर दो; बस, उन्नति के लिए एक प्रज्ज्वलित अग्निशिखा बन जाओ। जो कुछ तुम्हारे मार्ग में आये उसे अपने विकास के लिए मानो और तुरंत इस अपेक्षित विकास को साधित भी कर लो।

सब कार्य प्रसन्नता से करने का यत्न करो; परंतु प्रसन्नता कभी तुम्हारे कार्य का प्रेरक भाव न बनने पाये।

कभी उत्तेजित, उद्विग्न या विक्षुब्ध मत होओ। सब अवस्थाओं में पूर्ण रूप से शांत बने रहो। फिर भी सदा सजग रहो ताकि जो उन्नति तुम्हें करनी है उसे तुम जान सको तथा बिना समय नष्ट किये उसे प्राप्त कर सको।

भौतिक घटनाओं को उनके बाह्य रूपों के आधार पर अंगीकार मत करो। ये सदा ही किसी अन्य वस्तु की, जो सत्य वस्तु है, परंतु जो हमारी सतही बुद्धि की पकड़ में नहीं आती, अशुद्ध अभिव्यक्ति होती है।

किसी के व्यवहार के प्रति शिकायत मत करो, जब तक तुम्हारे अंदर उसके स्वभाव की उस चीज को बदलने की शक्ति ही न हो जो उसे वैसा करने को प्रेरित करती है; और अगर तुम्हारे पास वह शक्ति है तो शिकायत करने के स्थान पर उसे बदल दो।

तुम जो भी करो, अपने लक्ष्य को सदा स्मरण रखो। इस महान् उपलब्धि की खोज में कोई भी चीज बड़ी या छोटी नहीं है; सब समान रूप से महत्वपूर्ण हैं, ये इसकी सफलता में सहायता भी पहुंचा सकती हैं और बाधा भी डाल सकती हैं, जैसे भोजन से पहले तुम इस अभीप्सा पर कुछ क्षण अपना ध्यान एकाग्र करो कि जो खाना तुम खाने लगे हो वह तुम्हारे शरीर के लिए उस प्रयोजनीय तत्त्व को पैदा करे जो इस महान् उपलब्धि के लिये तुम्हारे प्रयत्न का ठोस आधार बनेगा तथा उसे इस प्रयत्न में सहनशीलता और अध्यवसाय की शक्ति प्रदान करेगा।

सोने से पहले, तुम कुछ क्षण के लिए एकाग्र होकर अभीप्सा करो कि यह निद्रा तुम्हारी थकी हुई नसों को पुनः शक्ति प्रदान करे, तुम्हारे मस्तिष्क में स्थिरता और शांति लाये, ताकि सोकर उठने के बाद तुम नये उत्साह के साथ इस महान् उपलब्धि की ओर अपनी यात्रा को फिर से आरंभ कर सको।

कुछ भी करने से पहले, इस इच्छा–शक्ति पर अपना ध्यान केन्द्रित करो कि तुम्हारा कार्य इस महान् उपलब्धि की ओर अग्रसर होने में तुम्हें सहायता पहुंचाये, कम–से–कम बाधक तो न बने।

जब तुम बोलो, तो मुख से शब्द निकालने से पहले कम–से–कम इतनी देर तो अपने–आपको एकाग्र कर लो ताकि तुम्हारा शब्दों पर नियंत्रण रहे और वही शब्द मुख से निकलें जो अनिवार्य रूप में आवश्यक हैं, केवल वही जो इस महान् उपलब्धि की ओर अग्रसर होने में किसी प्रकार भी बाधक नहीं हैं।

संक्षेप में, अपने जीवन के प्रयोजन और लक्ष्य को कभी मत भूलो। इस महान् उपलब्धि का तुम्हारा संकल्प सदा तुम्हारे ऊपर तथा जो कुछ तुम करते हो और जो कुछ तुम हो उस पर सजग रूप में विद्यमान रहे मानों यह प्रकाश का एक विशाल पक्षी है जो तुम्हारे अस्तित्व की सब गतिविधि को प्रभावित करता है।

तुम्हारे अथक और सतत् प्रयत्न के फलस्वरूप सहसा एक आंतरिक कपाट खुल जायगा और तुम एक ऐसी ज्वलंत ज्योति में प्रवेश करोगे जो तुम्हें अमरता का आश्वासन प्रदान करेगी तथा स्पष्ट अनुभव करायेगी कि तुम सदा ही जीवित रहे हो और सदा ही जीवित रहोगे; नाश बाह्य रूपों का ही होता है और अपनी वास्तविक सत्ता के संबंध से तुम्हें यह भी पता लगेगा कि ये रूप वस्त्रों के समान हैं जिन्हें पुराने पड़ जाने पर फेंक दिया जाता है। तब तुम सब बंधनों से मुक्त हो जाओगे और परिस्थितियों के जिस बोझ को प्रकृति ने तुम पर लादा है तथा जिसे वहन करते हुए तुम कष्ट भोग रहे हो, उसके नीचे कठिनाई से अग्रसर होने के स्थान पर तुम–यदि इसके नीचे कुचले जाना नहीं चाहते हो तो–अपनी भवितव्यता के प्रति सचेतन होकर तथा जीवन के स्वामी बनकर सीधे, दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ सकते हो।

पर इस स्थूल देह की समस्त दासता से छुटकारा और सब प्रकार के वैयक्तिक मोह से मुक्ति पाना ही सर्वोच्च सिद्धि नहीं है। शिखर पर पहुंचने से पहले और कई मंजिलों को पार करना होगा। इनके बाद कई और भी आ सकती हैं और आयेंगी ही जो भविष्य के द्वार खोल देंगी। ये अगली मंजिलें ही इस शिक्षा का विषय होंगी जिन्हें मैं आध्यात्मिक शिक्षा कहती हूं।

पर इस नये विषय पर आने तथा इस प्रश्न को विस्तारपूर्वक विचारने से पहले, एक बात का स्पष्टीकरण उपयोगी होगा। आंतरात्मिक शिक्षा, जिसके बारे में हम अभी कह चुके हैं, और आध्यात्मिक शिक्षा, जिसके बारे में हम अब कहेंगे, इन दोनों में भेद करना जरूरी क्यों है? दोनों साधारणतया "योग–साधना" का एक ही व्यापक नाम पाने के कारण, आपस में मिल–जुल गयी हैं, यद्यपि इनके लक्ष्य बहुत भिन्न हैं : एक का लक्ष्य है पृथ्वी पर उच्चतर सिद्धि की प्राप्ति, जब कि दूसरी समस्त पार्थिव अभिव्यक्ति से, यहां तक कि संपूर्ण संसार से पलायन करके अव्यक्त की ओर लौट जाना चाहती है।

अतएव यह कहा जा सकता है कि आंतरात्मिक जीवन एक ऐसा जीवन है जो अमर है, अनंत काल, अनंत स्थान, नित्य प्रगतिशील परिवर्तन है, और बाह्य रूपों के संसार में एक अविच्छिन्न धारा है। दूसरी ओर, आध्यात्मिक चेतना का अर्थ है नित्य और अनंत में निवास करना तथा देश–काल से, सृष्टि मात्र से बाहर स्थित हो जाना। अपनी अंतरात्मा को पूर्ण रूप से जानने और आंतरात्मिक जीवन बिताने के लिए मनुष्य को समस्त स्वार्थपरता का त्याग करना होगा; किंतु आध्यात्मिक जीवन के लिए अहंमात्र से मुक्त हो जाना होगा।

आध्यात्मिक शिक्षा में यहां भी, मनुष्य का स्वीकृत लक्ष्य, उसके वातावरण, विकास तथा स्वभाव की रुचियों के संबंध में, मानसिक निरूपण में, भिन्न–भिन्न नाम धारण कर लेगा। धार्मिक प्रवृत्ति वाले उसे ईश्वर कहेंगे और उनका आध्यात्मिक प्रयत्न फिर इस रूपातीत परात्पर ईश्वर के साथ तादात्म्य प्राप्त करने के लिए होगा, न कि उस ईश्वर के साथ जो वर्तमान सब रूपों में है। कुछ लोग इसे 'परब्रह्म' या 'सर्वोच्च आदिकारण' कहेंगे, और कुछ 'निर्वाण'; कुछ और, जो संसार को तथ्यहीन भ्रम समझते हैं, इसे 'एक अद्वितीयं सत्' का नाम देंगे; जो लोग अभिव्यक्ति मात्र को असत्य मानते हैं उनके लिए यह 'एकमात्र सत्य' होगा। लक्ष्य की ये सब परिभाषाएं अंशतः ठीक हैं, पर हैं सब अधूरी, ये केवल सद्वस्तु के एक–एक पक्ष को ही व्यक्त करती हैं। यहां भी मानसिक निरूपणों का कुछ महत्त्व नहीं; बीच की अवस्थाओं को एक बार पार कर जाने के बाद मनुष्य सदा एक ही अनुभव पर पहुंचता है। जो भी हो, शुरू करने के लिए सबसे अधिक सफल तथा शीघ्र पहुंचाने वाली चीज पूर्ण आत्म–समर्पण है। इसके साथ ही, जिस उच्च–से–उच्च सत्ता की मनुष्य कल्पना कर सकता है उसके प्रति पूर्ण आत्म–समर्पण के आनंद से अधिक पूर्ण आनंद और नहीं है; कुछ इसे ईश्वर का नाम देते हैं और कुछ 'पूर्णता' का। यदि यह समर्पण लगातार स्थिर भाव में तथा उत्साहपूर्वक किया जाय तो एक ऐसा समय आता है जब मनुष्य इस कल्पना से ऊपर उठकर एक ऐसे अनुभव को प्राप्त कर लेता है जिसका वर्णन तो नहीं हो सकता, परंतु जिसका फल व्यक्ति पर प्रायः सदा एक–समान होता है। जैसे–जैसे उसका आत्म–समर्पण अधिकाधिक पूर्ण और सर्वांगीण होता जायगा, उसके अन्दर उस सत्ता के साथ एक होने की तथा उसमें पूर्ण रूप से मिल जाने की अभीप्सा पैदा होती जायगी जिसे उसने समर्पण किया है और क्रमशः यह अभीप्सा

सब विषमताओं और बाधाओं को पार कर लेगी, विशेषकर उस अवस्था में जब इस अभीप्सा के साथ–साथ व्यक्ति में प्रगाढ़ और सहज प्रेम भी हो; क्योंकि तब कोई भी वस्तु उसकी विजयशील प्रगति के मार्ग में बाधक नहीं हो सकेगी।

इस तादात्म्य में तथा अंतरात्मा के साथ तादात्म्य में एक मौलिक भेद है। अंतरात्मा के साथ तादात्म्य को अधिकाधिक स्थायी बनाया जा सकता है और कुछ लोगों में यह स्थायी बन भी जाता है और जिसने इसे सिद्ध कर लिया है उसको यह कभी नहीं छोड़ता, उसके बाह्य कर्म चाहे जो भी हों। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि तादात्म्य ध्यान और तन्मयता में ही नहीं प्राप्त होता, बल्कि इसका प्रभाव मनुष्य के जीवन में प्रतिक्षण, निद्रा में और साथ ही जाग्रत् अवस्था में अनुभव किया जाता है।

इसके विपरीत, समस्त बाह्य रूपों से मुक्ति, रूपातीत सत्ता से तादात्म्यता अपने–आप में स्थिर नहीं रह सकती; क्योंकि यह स्वभावतः ही स्थूल रूप के नाश का कारण बन जायगी। कुछ परंपरागत गाथाएं कहती हैं कि यह नाश पूर्ण तादात्म्य स्थापित होने के बीस दिन के भीतर ही अवश्यमेव हो जाता है। तथापि ऐसा होना आवश्यक नहीं है, और यह अनुभव चाहे क्षणिक ही हो, चेतना में ऐसे परिणाम उत्पन्न कर देता है जो कभी नहीं मिटते और जो सत्ता के सब स्तरों, आंतरिक और बाह्य दोनों, पर प्रतिक्रियाएं पैदा करते हैं। और एक बार तादात्म्य स्थापित कर लेने के बाद इसे इच्छानुसार पुनः प्राप्त किया जा सकता है, पर एक शर्त पर कि व्यक्ति उन्हीं अवस्थाओं को फिर से लाना जानता हो।

निराकार में लीन हो जाना वह सर्वोच्च मुक्ति है जिसे प्राप्त करने की इच्छा केवल वही लोग करते हैं जो इस जीवन से छुटकारा पाना चाहते हैं, क्योंकि यह उन्हें अब और आकर्षित नहीं करता। वे संसार के वर्तमान रूप से संतुष्ट नहीं हैं, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पर यह एक ऐसी मुक्ति है जो संसार को जैसा वह है वैसा ही छोड़ देती है और दूसरों के सुख–दुःख में कोई सहायता नहीं पहुंचाती। यह उन लोगों को संतुष्ट नहीं कर सकती जो एक ऐसे सुख का उपभोग करना नहीं चाहते जिसके वे अकेले या प्रायः अकेले ही भोक्ता होते हैं। ये लोग तो एक ऐसे संसार का स्वप्न देखते हैं जो इसकी वर्तमान अव्यवस्था और सामान्य दुःख–दैन्य के पीछे छुपे हुए प्रकाशपूर्ण वैभव के

अधिक योग्य हो। वे चाहते हैं कि जिन आश्चर्यों को उन्होंने अपनी आंतरिक गवेषणा में उपलब्ध कर लिया है उनसे दूसरों को लाभ पहुंचाएँ। और यह वे कर भी सकते हैं, क्योंकि वे अब अपने आरोहण शिखर पर पहुंच गए हैं।

नाम और रूप की सीमाओं के परे से एक नयी शक्ति का आह्वान किया जा सकता है, चेतना की उस शक्ति का जिसकी अभिव्यक्ति अभी नहीं हुई है और जो, प्रकट होकर, वस्तुओं के क्रम को बदलने में समर्थ होगी तथा एक नये जगत् को जन्म देगी। क्योंकि दुःख, अज्ञान तथा मृत्यु की समस्या का हल इसमें नहीं है कि व्यक्ति सांसारिक दुःखों से बचने के लिए निर्वाण द्वारा अव्यक्त में मिल जाय, और न ही सृष्टि के पूर्ण तथा अंतिम रूप से स्रष्टा में लौट जाने से–जो संदिग्ध है–समष्टि का वैश्व दुःख से छुटकारा हो सकता है। यह तो विश्व का दुःख दूर करने के लिए विश्व को ही मिटा देना हुआ। इस समस्या का हल जड़–तत्त्व के रूपांतर, एक ऐसे पूर्ण रूपांतर में है जिसे साधित करने के लिए प्रकृति पूर्णता की ओर अपने विकास की युक्तियुक्त ऊर्ध्वमुखी यात्रा को जारी रखेगी जैसा कि उसने अब तक रखा है और इससे एक नयी जाति का जन्म होगा। इसमें और मनुष्य में वैसा ही आपेक्षिक संबंध होगा जैसा मनुष्य और पशु में है। वह जाति पृथ्वी पर एक नयी शक्ति, नयी चेतना तथा नये बल को अभिव्यक्त करेगी। और तभी एक नयी शिक्षा का आरंभ होगा जिसे हम अतिमानसिक शिक्षा कह सकते हैं; यह, अपनी सर्वसमर्थ क्रिया से, व्यक्तियों की चेतना को ही प्रभावित नहीं करेगी, वरन् उस तत्त्व को भी प्रभावित करेगी जिससे वे बने हैं तथा उस वातावरण को भी जिसमें वे रहते हैं।

जिन शिक्षाओं के बारे में हम पहले कह चुके हैं और जो सत्ता के विभिन्न अंगों की ऊर्ध्वमुखी गति के द्वारा नीचे से ऊपर की ओर विकसित होती हैं, उनके विपरीत अतिमानसिक शिक्षा की विकास–क्रिया ऊपर से नीचे की ओर चलेगी, इसका प्रभाव सत्ता की एक अवस्था से दूसरी में व्याप्त होता जायगा जब तक कि वह अंतिम, अर्थात्, भौतिक अवस्था तक न पहुंच जाय। भौतिक अवस्था का रूपांतर प्रत्यक्ष रूप में तभी दिखायी देगा जब सत्ता की आंतरिक अवस्थाएं काफी अच्छी तरह रूपांतरित हो चुकी होंगी। इसलिये अतिमानस की उपस्थिति को स्थूल रूपों द्वारा समझने का प्रयत्न सर्वथा अनुचित है, क्योंकि ये रूप तो सबसे

अंत में बदलते हैं जब कि अतिमानसिक शक्ति व्यक्ति में बहुत पहले से कार्य कर रही होती है। भौतिक जीवन में तो इसका प्रभाव बाद में ही दृष्टिगोचर होता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अतिमानसिक शिक्षा के फलस्वरूप केवल मानव प्रकृति का उत्तरोत्तर विकास ही नहीं होगा और न ही केवल उसकी सुप्त शक्तियां ही दिन–दिन बढ़ती जायेंगी, बल्कि प्रकृति का अपना और साथ–ही–साथ संपूर्ण सत्ता का भी रूपांतर हो जायगा। प्राणियों की एक योनि का नया आरोहण होगा, मानव से ऊपर अतिमानव की ओर जिससे अंत में पृथ्वी पर दिव्य जाति का आविर्भाव होगा।[1]

---

१ दि मदर, शिक्षा के विषय पर श्री अरविन्दो और श्रीमाँ (साथ ही: मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ ३० -३८)

अध्याय–१०

चैत्य का ज्ञान

एक दुनिया जो आमतौर पर अनजानी है, यदा–कदा ही बच्चे की शिक्षा का हिस्सा मानी गई है, फ़िर भी यही वह केन्द्रीय धुरी है जिसके इर्द–गिर्द सर्वांगीण शिक्षा घूमती है। मन से समझ पाना कठिन, यह वह क्षेत्र है जो अनुभव के द्वारा ही समझा जा सकता है। अधिक जानकारी के लिए भाग ४ देखें। निम्नलिखित अंश चैत्य शिक्षा का एवं, इसका बच्चे के विकास पर क्या प्रभाव पड़ सकता है – इसका कुछ भाव दे सकते हैं।

स्वतंत्र प्रगति क्या है ?

एक ऐसी प्रगति जिसका निर्देशन अन्तरात्मा करती हो, आदतें, परिपाटियां या पूर्वकल्पित विचार नहीं।[1]

क्या बच्चों में चैत्य सदैव सामने रहता है ?

सदा नहीं। अन्तरात्मा उस समय से पहले, जब वे बड़े हो जाते हैं और उनका मन विकसित हो जाता है अवश्य अधिक "आगे" रहती है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि सभी बच्चों में अंतरात्मा को अनुभव किया जा सकता है।[2]

बच्चों में चैत्य कैसे कार्य करता है ?

भौतिक और आंतरात्मिक सत्ता में तथा मानसिक और प्राणिक सत्ता में एक

---

१ मातृवाणी भाग १२ पृष्ठ १३२

२ मातृवाणी भाग ६ पृष्ठ ४-५ (साथ ही : पंचविध शिक्षा, पृष्ठ ४३-४४)

प्रकार का सम्बंध होता है। मानसिक सत्ता अधिकत्तर प्राण–प्रधान होती है। आंतरात्मिक सत्ता अधिकतर देह–प्रधान होती है। क्योंकि बच्चों की आंतरात्मिक सत्ता आगे की ओर होती है, ठीक इसीलिए वे पूरी तरह अपने शरीर में रहते हैं। किन्तु ज्यों ही मन विकसित होने लगता है, उनकी इस सम्बंध की ओर रुचि भी बढ़ने लगती है और उसके साथ विकृतियां भी। जो लोग पुरुष और स्त्री में बड़ा कड़ा विभेद करते हैं (मुझे पता नहीं क्यों, दोनों समान रूप से अच्छे हैं), वे कहते हैं कि पुरुष मानसिक और प्राणिक सत्ता है, जब कि स्त्री भौतिक और आंतरात्मिक। इसमें कुछ सत्य का अंश अवश्य है। किन्तु स्वभावतया इसमें सब प्रकार के संभव अपवाद और जटिलताएं भी हैं। ये सब मनमाने सरलीकरण हैं। वस्तुतः भौतिक सत्ता में एक प्रकार की सरलता होती है और सद्भावना भी (जो सदा बहुत ज्ञानपूर्ण नहीं होती, बिलकुल नहीं), किन्तु ऐसी सरलता और सद्भावना होती है जो इसे प्राण के आवेगों या मन की छलनाओं की अपेक्षा अंतरात्मा के अधिक निकट सम्बंध में ले आती है। और शायद इसीलिए ही बच्चों में उनकी आंतरात्मिक सत्ता अधिक शांति से रह सकती है, क्योंकि वहां मानसिक और प्राणिक विरोध उसे सब समय झकझोरते नहीं रहते।[३]

क्या चैत्य में देखने की शक्ति होती है?

इससे भी अधिक! उसमें वस्तुओं की ओर सीधा देख सकने की शक्ति भी होती है। वह एक दर्पण के समान होती है जिसमें सब वस्तुओं की परछाई पड़ती है, वे चाहे जो भी हों। और यह बात बड़े स्पष्ट रूप से अधिकतर बच्चों में होती है–यदि वे विकृत न हों तो – उदाहरणार्थ, जो कोई उनके पास आता है उसके वायुमंडल के प्रति उनमें संवेदनशीलता होती है। ऐसे बच्चे होते हैं जो, बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के, एक व्यक्ति की ओर ललक कर जाते हैं और दूसरे से डरकर भागते हैं। तुम्हारे लिए दोनों समान रूप से अच्छे हैं, या अच्छे नहीं हैं, तुम उनमें विभेद नहीं करते। किन्तु बच्चा एक अवस्था में किसी व्यक्ति के प्रति तत्काल ही आकर्षित हो जाता है, और दूसरी में, चाहे तुम जितनी कोशिश क्यों न करो, वह रोने लगेगा, चिल्लायेगा अथवा भाग जायेगा, पर उस आदमी के पास नहीं फटकेगा; और यह सब चाहे अनजाने में करता है, पर क्योंकि उसे व्यक्ति के आंतरात्मिक गुण का प्रत्यक्ष रूप से आभास मिल जाता है यह उसकी चेतना में एक आंतरात्मिक तथ्य का अनूदित रूप धारण कर लेता है।[४]

---

३ मातृवाणी भाग ६ पृष्ठ ५-६ (साथ ही : संकलित शिक्षा, पृष्ठ ४५)

४ मातृवाणी भाग ६ पृष्ठ ८-६ (साथ ही : संकलित शिक्षा, पृष्ठ ४७-४८)

बच्चों को यह विश्वास कैसे करायें कि सत्य की विजय होगी एवं उनके अन्दर अच्छे और बुरे का विवेक कैसे डालें?

साधारण तौर पर यह विश्वास किया जाता है कि प्रकृति में सभी वस्तुएं सर्व्दा बुरे रूप में समाप्त होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति उन लोगों की कहानी जानता है जिनमें असाधारण क्षमताएं थीं और जिन्होंने अंत में उन्हें खो दिया; उस राष्ट्र की कहानी जानता है जो दीर्घकाल तक एक अद्‌भुत सभ्यता का उदाहरण था– सभ्यता लुप्त हो जाती है और राष्ट्र एक ऐसी शोचनीय वस्तु में बदल जाता है कि कोई याद भी नहीं कर पाता कि वह पहले क्या था। ऐसा लगता है कि पृथ्वी का इतिहास ऐसी जीतों की कहानी है जिनके बाद हारें आती हैं, ऐसी हारों की कहानी नहीं जिनके बाद जीतें आती हैं।

परंतु वास्तव में जब कभी वैश्व और दिव्य वस्तुओं का प्रश्न उठता है विराट दर्शन–शक्ति तथा दिव्य ज्ञानशक्ति की आवश्यकता होती है जिसमें यह जाना जा सके कि सत्य किस प्रकार अभिव्यक्त होता है। संसार में एक प्रकार की सामान्य निराशावादी दृष्टि है जो कहती है कि वस्तुएं अच्छे रूप में भले शुरू हों पर समाप्त बुरे रूप में ही होती है; वास्तव में दुर्बलता, धूर्त्तता, मिथ्याचार और दुष्टता ही वे चीजें हैं जो सर्वदा प्राधान्य प्राप्त करती प्रतीत होती हैं। यही कारण है कि जिन लोगों ने संसार को अपने निजी व्यक्तिगत आयाम के अंदर देखा है उन्होंने कहा है कि संसार बुरा है और जितनी जल्दी संभव हो हमें उसे समाप्त कर देना चाहिए और उससे बाहर निकल जाना चाहिए। गुरुओं ने यह शिक्षा तो दी है, परन्तु उनकी शिक्षा केवल यही सिद्ध करती है कि उनकी दृष्टि अत्यंत संकीर्ण है तथा उनके मानवीय व्यक्तित्व के आयाम से सीमित है।

वास्तव में, प्रकृति की गतियां ज्वार–भाटे की तरह होती हैं : वे आगे बढ़तीं हैं, फिर पीछे हटती हैं, आगे बढ़ती और पीछे हटती हैं; इसका अर्थ होता है, वैश्व जीवन में और पार्थिव जीवन में, उत्तरोत्तर प्रगति, यद्यपि ऊपर से देखने में यह प्रगति पीछे के हटाव से कट जाती है। परंतु ये पीछे के हटाव केवल बाहरी रूप हैं, ठीक जैसे आदमी आगे कूदने के लिए पीछे हटता है। तुम पीछे हटते हुए प्रतीत होते हो पर वह केवल और आगे जा सकने के लिए होता है।

परन्तु तुम मुझसे कहोगे कि यह सब तो बहुत ठीक है, पर एक बच्चे को यह विश्वास कैसे दिलाया जाय कि सत्य की विजय होगी? कारण, जब वह इतिहास पढ़ेगा, जब वह प्रकृति का अवलोकन करेगा तो वह देखेगा कि वस्तुएं सर्वदा अच्छे रूप में समाप्त नहीं होतीं।

बच्चों को जगत् में भागवत अभिव्यक्ति को देखना सिखाना चाहिए न कि उस पक्ष को जो बुरे तौर पर समाप्त होता है।

नहीं; यदि बच्चा यह समझे कि भगवान जगत से भिन्न हैं तो उसकी यह भावना कि प्रत्येक वस्तु बुरे रूप में समाप्त होती है, बिल्कुल उचित होगी। परंतु उस विषय के बारे में हम कुछ नहीं जानते, क्योंकि अभी जगत जैसा है उसमें यह न्याय अभिव्यक्त नहीं होता।

फिर भी, यदि कोई जरा–सी गहराई के साथ वस्तुओं का निरीक्षण करे तो वह देखता है कि प्रगति हो रही है, वस्तुएं अधिक अच्छी, और अच्छी–से–अच्छी होती जा रही हैं, यद्यपि ऊपर से देखने में उनमें कोई सुधार नहीं होता। और कुछ ऊंचाई पर बैठी हुई चेतना के लिए यह बिलकुल स्पष्ट होता है कि समस्त अशुभ– कम–से–कम हम जिसे अशुभ कहते हैं– समस्त मिथ्यात्व, जो कुछ 'सत्य' के विपरीत है वह सब, समस्त दुःख–कष्ट, समस्त बाधा–विरोध एक प्रकार के असंतुलन का परिणाम है।

मैं समझती हूं कि जो व्यक्ति इस उच्चतर स्तर से वस्तुओं को देखने का अभ्यासी है वह तुरंत देखता है कि बात ऐसी ही है। परिणामतः, विश्व किसी असंतुलन पर स्थापित नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो वह बहुत समय पहले ही विलीन हो गया होता। हम अनुभव करते हैं कि विश्व के मूल में कोई परमोच्च 'संतुलन की स्थिति' अवश्य रही होगी, और संभवतः, जैसा कि हमने उस दिन कहा था, एक उत्तरोत्तर बढ़ते हुए संतुलन की अवस्था रही होगी, संतुलन की ऐसी अवस्था जो उस सबके ठीक विपरीत होगी जिसे हमें "अशुभ" कहना सिखाया गया है। और जिसे हम यह नाम देने के अभ्यस्त हो गये हैं। कोई शुद्ध "अशुभ" नहीं है, बल्कि एक प्रकार का "अशुभ" है, कम या अधिक आंशिक असंतुलन है।

यह बात बहुत सरल ढंग से बच्चों को सिखायी जा सकती है। यह बात भौतिक वस्तुओं की सहायता से दिखायी जा सकती है कि कोई वस्तु संतुलित

अवस्था में न होने पर गिर सकती है, जो वस्तुएं संतुलन की स्थिति में होती हैं केवल वे ही अपने स्थान और कालावधि को बनाये रख सकती हैं।

एक दूसरा भी गुण है जिसे बहुत छोटी उम्र से ही बच्चों में पैदा करना चाहिये : वह है व्याकुलता को, नैतिक अशांति को अनुभव करने का अभ्यास जिसे वह उस समय अनुभव करता है जब वह कोई काम कर डालता है, इसलिये नहीं कि उससे उसे न करने के लिये कहा गया था, इसलिये नहीं कि वह दंड से डरता है, बल्कि सहज—स्वाभाविक भाव से अनुभव करता है। उदाहरणार्थ, एक बच्चा दुष्टतावश अपने एक साथी को चोट पहुंचाता है; अब, यदि वह अपनी सामान्य, स्वाभाविक स्थिति में है तो बेचैनी अनुभव करेगा, सत्ता की गहराई में दुःख अनुभव करेगा, क्योंकि उसने जो कुछ किया है वह उसके आंतरिक सत्य के विपरीत है।

कारण, समस्त शिक्षाओं के बावजूद, विचार—बुद्धि जिन सब चीजों को सोच—समझ सकती है उन सबके बावजूद, उसकी सत्ता की गहराई में कोई ऐसी चीज है जिसमें एक पूर्णता का, महानता का, सत्य का बोध है और इस सत्य का विरोध करने वाली समस्त गतिविधियों द्वारा उसका दुःखद रूप से खंडन किया गया है। यदि बच्चा अपनी परिस्थितियों द्वारा, अपने चारों ओर के शोचनीय उदाहरणों के द्वारा नष्ट नहीं हुआ है अर्थात् यदि वह अपनी सामान्य अवस्था में है तो वह अपनी सत्ता के सत्य के विपरीत कोई बात करने पर, सहज भाव से, किसी के कुछ कहे बिना, एक प्रकार की बेचैनी अनुभव करेगा। और ठीक यही चीज है जिस पर आगे चलकर उसकी प्रगति का प्रयास होना चाहिये।

कारण, यदि तुम अपनी प्रगति का आधार बनाने के लिये किसी एक शिक्षा या किसी सिद्धांत को ढूंढ़ना चाहो तो तुम ऐसी कोई चीज कभी नहीं पाओगे—अथवा, अधिक यथार्थ रूप में कहा जाए तो, तुम कोई और ही वस्तु पाओगे, क्योंकि वातावरण, युग, सभ्यता के अनुसार दी हुई शिक्षाएं एक—दूसरे से एकदम विपरीत होती हैं। जब एक आदमी कहता है : "यह अच्छा है", तो दूसरा उसी युक्ति तर्क तथा उसी प्रभावशाली शक्ति के साथ कहता है : "नहीं, यह बुरा है", परिणामतः इस चीज के ऊपर निर्माण नहीं किया जा सकता। धर्म ने सर्वदा, एक सिद्धांत स्थापित करने का प्रयास किया है। वह तुमसे कहेगा कि यदि तुम इस सिद्धांत

का अनुसरण करो तो तुम सत्य में रहोगे और यदि न करो तो मिथ्यात्व में जा गिरोगे। परंतु ऐसी चीजें किसी परिणाम पर नहीं पहुंचातीं। उन्होंने केवल गड़बड़झाला ही उत्पन्न किया है।

बस एक ही सच्चा मार्गदर्शक है और वह है आंतरिक पथप्रदर्शक जो मानसिक चेतना के भीतर से नहीं गुजरता।

स्वभावतः ही, जब कोई बच्चा सर्वनाशी शिक्षा प्राप्त करता है तो वह अपने अंदर की इस नन्ही–सी सच्ची सत्ता को बुझा देने का अधिकाधिक प्रयास करता है, और कभी–कभी तो वह इतना सफल हो जाता है कि उसके साथ अपना समस्त संपर्क खो देता है और साथ–ही–साथ भले–बुरे को पहचानने की शक्ति भी खो देता है। यही कारण है कि मैं इस चीज पर अधिक जोर देती हूं और यह कहती हूं कि अत्यंत छोटी अवस्था से ही बच्चों को यह सिखाना चाहिए कि उनके अंदर, पृथ्वी के अंदर, विश्व के अंदर एक आंतर सत्य विद्यमान है, और इस सत्य की क्रिया के फलस्वरूप ही वे, यह पृथ्वी और यह विश्व अपना जीवन धारण करते हैं; यदि वह सत्य न होता तो बच्चा कभी न जीवित रहता, थोड़े समय तक जो वह जीता है उतना भी न जी पाता, और प्रत्येक चीज जैसे ही अस्तित्व में आती वैसे ही विलीन हो जाती। और चूंकि यही विश्व का सच्चा आधार है, इसलिये स्वभावतः इसी की विजय होगी; और जो कोई इसका विरोध करता है वह उतने दिन तक नहीं बना रह सकता जितने दिन यह बना रहता है, क्योंकि यह 'तत्' है, शाश्वत वस्तु है जो कि विश्व के मूल में विद्यमान है।

निस्संदेह, प्रश्न यह नही है कि बच्चे को दार्शनिक व्याख्याएं बतायी जायें, पर उसे भली–भांति यह अनुभूति दी जा सकती है कि जो अपने अंदर की इस नन्ही, बहुत नीरव वस्तु का अनुसरण करने से इस प्रकार के आंतरिक सुख–संतोष और कभी–कभी तीव्र हर्ष का अनुभव कराती है, वही चीज उसे अपने विपरीत कोई कार्य करने से रोकेगी। इसी प्रकार के अनुभव पर शिक्षा आधारित हो सकती है। बच्चे के अंदर यह धारणा बैठा देनी चाहिए कि जब तक वह अपने अंदर यह सच्चा संतोष नहीं प्राप्त कर लेता जो एकमात्र स्थायी वस्तु है तब तक कोई चीज स्थायी नहीं हो सकती।'[१]

---

१ मातृवाणी भाग ४ पृष्ठ २२-२४ (साथ ही : दि साइंस आफ लिविंग, पृष्ठ ५९-६२)

क्या एक बच्चा इस आन्तरिक सत्य के प्रति बड़ों की ही तरह सचेत हो सकता है?

"बच्चों के लिए यह बिलकुल स्पष्ट है, क्योंकि यह शब्द या विचार की किसी जटिलता से रहित एक प्रकार का बोध है– बस, वहां वह चीज होती है जो उसे चैन देती है और वह चीज होती है जो उसे बेचैन बनाती है। (यह आवश्यक रूप से हर्ष या शोक नहीं है जो केवल तभी आते हैं जब बात बहुत तीव्र होती है)। और यह सब एक वयस्क की अपेक्षा बच्चे में बहुत अधिक सुस्पष्ट होता है, क्योंकि वयस्क में सर्वदा ही मन होता है जो कार्य करता है और उसके सत्य–बोधको मेघाच्छन्न कर देता है।

बच्चे को सिद्धांत बतलाना एकदम निरर्थक है, क्योंकि ज्यों ही उसका मन जागृत होगा वह तुम्हारे सिद्धांतों को काटने के लिये हजारों युक्तियां खोज लेगा, और इस विषय में वह ठीक ही होगा।

बच्चे के अंदर यह छोटी–सी सत्य वस्तु उसके चैत्य पुरुष में विराजमान भागवत उपस्थिति है– यह पौधों और जानवरों में भी होती है। पौधों में यह सचेतन नहीं होती, जानवरों में चेतन होना आरंभ करती है और बच्चों में बहुत सचेतन होती है। मैं ऐसे बच्चों से मिली हूं जो पांच वर्ष की अवस्था में अपने चैत्य पुरुष के विषय में अपनी १४ वर्ष की अवस्था की अपेक्षा बहुत अधिक सचेतन थे, और १४ वर्ष में पच्चीस वर्ष की अपेक्षा अधिक सचेतन थे; और अधिकतर, जिस क्षण से बच्चे स्कूल जाते हैं जहां वे उस ढंग का तीव्र मानसिक प्रशिक्षण पाते हैं जो उनका ध्यान उनकी सत्ता के बौद्धिक अंश की ओर खींच ले जाता है, वे लगभग सर्वदा और लगभग पूर्ण रूप में अपने चैत्य पुरुष के साथ का यह सम्पर्क खो देते हैं।

यदि तुम केवल एक अनुभवी निरीक्षक होते, यदि तुम आंखों में ताककर बता सकते कि व्यक्ति के अंदर क्या हो रहा है! ... ऐसा कहा जाता है कि आंखें अंतरात्मा का दर्पण हैं; यह एक बोलने का प्रचलित ढंग है, यदि आंखें तुम्हारे सामने चैत्य पुरुष को प्रकट नहीं करतीं तो इसका कारण यह है कि वह बहुत दूर पीछे की ओर है, बहुत–सी चीजों से ढका हुआ है। सावधानी के साथ छोटे

बच्चों की आंखों में ताको और तुम एक प्रकार की ज्योति देखोगे—कुछ लोग उसे स्पष्टता या सरलता कहते हैं— पर इतनी सच, इतनी सच! वह संसार को आश्चर्य के साथ ताकता है। हां, आश्चर्य का यह भाव, चैत्य पुरुष का आश्चर्य है जो सत्य को देखता है पर संसार के विषय में बहुत नहीं समझता, क्योंकि वह इस संसार से बहुत दूर है। बच्चों में यह चीज होती है पर जैसे—जैसे वे अधिक सीखते हैं, अधिक बुद्धिमान बनते हैं, अधिक शिक्षित होते हैं, यह चीज लुप्त हो जाती है, और तुम उनकी आंखों में सभी प्रकार की चीजें देखते हो : विचार, कामनाएं, आवेग, दुष्टताएं आदि, – परंतु इस प्रकार की नन्हीं लौ, जो इतनी पवित्र होती है, अब वहां नहीं होती। और तुम निश्चित रूप से यह जान सकते हो कि वहां मन घुस आया है और चैत्य पुरुष बहुत दूर पीछे चला गया है।

जिस बच्चे में अभी समझ सकने योग्य पर्याप्त विकसित मस्तिष्क नहीं है उसकी ओर यदि तुम संरक्षण या स्नेह या उत्सुकता या संवेदना की एक तरंग भेजो तो तुम देखोगे कि वह भी प्रत्युत्तर देता है। परंतु तुम यदि, उदाहरणार्थ, एक चौदह वर्ष के लड़के को जो कालेज में पढ़ता है, जिसके माता—पिता सामान्य लोग हैं और जिसके साथ बुरा व्यवहार होता रहा है, तो उसका मन बहुत अधिक सामने की ओर होगा; उसमें कोई कठोर चीज होती है, चैत्य पुरुष पीछे की ओर चला जाता है। ऐसे लड़के तरंग का प्रत्युत्तर नहीं देते। हम कहेंगे कि वे काठ या पत्थर से बने हैं।[६]

---

६ मातृवाणी भाग ४ पृष्ठ २६-२७ (साथ ही : दि साइंस आफ लिविंग, पृष्ठ ६३-६४)

भाग–४

बच्चों की परख और ज्ञान

यह भाग विद्यार्थियों पर केन्द्रित है– उनकी जरूरतों को समझना, उन कठिनाइयों एवं बातों को जो बच्चों के साथ काम करने से सामने आती हैं, विषय–ज्ञान के साथ विद्यार्थी की विकास की आवश्यकता का जोड़, एवं : मूल्यांकन के प्रति एक भिन्न दृष्टिकोण अपनाना आदि।

इस भाग के ये अध्याय हैं :

१. ● बच्चे की आवश्यकताएँ

२. ● विद्यार्थियों के साथ व्यवहार (*व्यवहारिक मार्गदर्शन*)

- विद्यार्थियों को पढ़ाना
- बच्चों की प्रगति एवं उपलब्धि में वृद्धि
- विद्यार्थी का आचरण

३. ● विषय शिक्षा (*व्यावहारिक मार्गदर्शन*)

- शिक्षा की समस्या
- भाषा एवं : लेखन (साहित्य)
- अन्य विषय
- कलाएं

४. ● मूल्यांकन (*व्यावहारिक मार्गदर्शन*)

५. ● यह तुम्हारे हाथ में है (*एक कथा*)

अध्याय–१

बच्चे की आवश्यकताएँ

पवित्र (पी.वी. सेंट हिलैरी)[1]

बच्चे को किसी वस्तु में रुचि तभी होती है, जब वह उस वस्तु में अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि की क्षमता देखता है अतः यह अति आवश्यक है कि हम बच्चों की आवश्यकताओं को जानें।

विकसनशील सत्ता होने के कारण बच्चे की कुछ विशेष आवश्यकतायें होती हैं। उनमें से बहुत सी भिन्न–भिन्न प्रकार की हैं जैसे कि भौतिक, प्राणिक, मनोवैज्ञानिक, बौद्धिक– और इनमें से तो कुछ इतनी मूलगत और महत्त्वपूर्ण होती हैं कि इन्हें "चैत्य आवश्यकताओं" के नाम से जाना जा सकता है, ये ऐसी आवश्यकतायें हैं जो क्रम विकास में भाग लेने वाली आत्मा से सम्बंधित हैं।

यदि माता–पिता और अध्यापक इन आवश्यकताओं को जान लें और आवश्यकताओं की सन्तुष्टि में मदद करें तो बच्चा सामान्य रूप से विकसित होगा और प्रसन्न रहेगा। अगर उसकी आवश्यकताओं की उपेक्षा कर दी गई तो दो प्रकार के परिणाम हो सकते हैं। इनमें से कुछ उपेक्षित आवश्यकतायें अप्रत्यक्ष ढंग से सन्तुष्ट होने का प्रयास कर सकती हैं और बच्चे के आचरण में विचलन या चरित्र में विकृति पैदा कर सकती हैं। परिणामस्वरूप बच्चा अस्थिर, चिड़चिड़ा

---

१ पवित्र : एजूकेशन एण्ड दि एम ऑफ ह्यूमैन लाइफ, श्रीअरविन्द इंटरनेशनल एजूकेशन, श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १९९२

एवं दुष्ट प्रवृत्ति का हो सकता है। अन्य आवश्यकताओं की उपेक्षा, विशेषकर महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं की उपेक्षा, अधिक निश्चित व स्थायी हानि पहुंचा सकती है: परिणामतः बच्चे के विकास में ठहराव, बौनापन अथवा क्षीणता आ जाती है। इसलिए बच्चे की प्रसन्नता को उसकी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के चिन्ह के रूप में देखा जा सकता है। विलोमतः प्रसन्नता को बच्चे की सर्वप्रथम जरूरत माना जा सकता है क्योंकि निश्चित रूप से इसकी उपस्थिति स्वयं बताती है कि बच्चे की किसी महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की उपेक्षा नहीं की गई है लेकिन इसे और सकारात्मक रूप से भी व्यक्त किया जा सकता है क्योंकि प्रसन्नता बच्चे के अन्दर से आने वाले चैत्य प्रभाव के पूरी सत्ता में व्याप्त हो जाने का निश्चित चिन्ह है जो उसकी भावनात्मक सत्ता को ओत–प्रोत करते हुये बाह्य व्यक्तित्व में अभिव्यक्त होती है।

प्रसन्नता हँसने, शोर मचाने, ताली बजाने और इधर–उधर दौड़ने को नहीं कहते। सर्वप्रथम प्रसन्नता का अर्थ एक पूर्ण विश्राम की स्थिति है। हर तरह के तनावों से मुक्ति एवं सत्ता का निश्चल नीरवता और शान्ति में विस्तार। उसके बाद आता है मौन–आनन्द, मुस्कुराहट, अन्तरतम् मधुर उपस्थिति की प्रदीप्ति, संसार की ओर एक मित्रवत् दृष्टि।

इस तरह की आवश्यकताओं को जिनमें अन्तरात्मा का प्रकटीकरण या उन्मीलन होता है उन्हें सही अर्थों में "चैत्य आवश्यकतायें" कहा जा सकता है। सुन्दरता, कुलीनता, सत्य, स्वतंत्रता प्रेम एवं आदर सही कर्म और उदार–न्याय आदि गुण अन्तरात्मा की मूलगत प्रवृत्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। केवल ऐसे वातावरण में जहां ये गुण दिखाई देते हैं वहां आत्मा बाह्य परत को भेद कर सतह पर आ जाती है। और जहां ये गुण अनुपस्थित हो जाते हैं वहाँ उनके विपरीत अभद्रता, निकृष्टता, दुष्टता एवं घृणा जैसे अवगुण, गुणों का स्थान ले लेते हैं। वहां आत्मा रूपी फूल नहीं खिल सकता। वहां रक्षात्मक प्रतिक्रियायें स्थान ले लेंगी और कठोरता, छद्म, दोष दृष्टि, विद्रोह व विध्वंसकारी आवेग उनके अन्दर विकृति पैदा कर देंगे जिससे बच्चे के चरित्र की हानि हो जायेगी। बच्चे के चरित्र में इस तरह के अवगुणों की उपस्थिति इस बात का निश्चित चिन्ह है कि बच्चा चारों ओर के उच्छृंखल वातावरण से घिरा है और इससे उसके अन्दर की

सौन्दर्य, सत्य और श्रेय की स्वाभाविक अभीप्सा पर भ्रम, अवज्ञा व घृणा अथवा उपहास का वर्चस्व हो गया है। इन चैत्य आवश्यकताओं में से एक आवश्यकता यह है कि अन्तरात्मा पूर्ण स्वतंत्रता में अपने अंतरतम् सत्ता की तात्विक प्रकृति एवं प्रत्येक व्यक्ति के भावगत *धर्म* के साथ मेल खाते हुये उपर्युक्त गुणों को जीवन में अभिव्यक्त करे। श्रीअरविन्द अपने द्वितीय सिद्धान्त में अत्यन्त दृढ़ शब्दों में इसकी व्याख्या करते हैं कि "प्रकृति को अपना स्वाभाविक *धर्म* त्यागने को मजबूर करना, उसको स्थायी हानि पहुंचाना है, – उसके विकास में अवरोध डालना और पूर्णता को, विकृत करना है।

तो क्या इसका तात्पर्य यह है कि शिक्षक बच्चों की सभी मांगों, मानसिक आवेगों के अनुसार उनकी दिखावटी जरूरतों का चुपचाप अनुसरण करें?

हम देखते हैं कि आवश्यकतायें कई प्रकार की होती हैं उदाहरणार्थ– प्राकृतिक, कृत्रिम, व्यक्तिगत, वास्तविक, काल्पनिक एवं सामान्य। लेकिन इनको अलग–अलग करना आसान नहीं है, यह इतना कठिन है कि इसके लिये धैर्यशील निरीक्षण और लम्बे अनुभव की जरूरत होती है और अध्यापक हमेशा इसकी पहचान करते समय उलझन में पड़ जाते हैं।

हालांकि इसका भी हल है और कठिनाई से बाहर आने का एक रास्ता भी है और वह यह है कि स्वयं बच्चों से यानी उनकी अन्तरात्मा से इन्हें अलग अलग पहचानने को कहा जाये और जो अनावश्यक और अनुपयोगी है छोड़ने को प्रेरित किया जाये।

सर्वप्रथम हम इसका अध्ययन करें कि *स्वाभाविक आवश्यकताओं* के विपरीत *कृत्रिम आवश्यकतायें* क्या हैं? कृत्रिम आवश्यकता वह है जो बच्चे के जीवन में प्रौढ़ व्यक्ति अथवा सम्पूर्ण समाज के हस्तक्षेप से प्रवेश करती है। ऐसी आवश्यकता जो बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के अभिव्यक्त होती है, एक स्वाभाविक आवश्यकता है। यहां पर हम तुरंत स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हमें यह नहीं सोच लेना चाहिये कि सभी कृत्रिम जरूरतों को हटाना ही है। इनमें से कुछ तो सामाजिक जीवन के लिये आवश्यक होती हैं, लेकिन उनमें से अधिकतर मानसिकता से सम्बंध रखती हैं। उनकी आवश्यकता तभी महसूस होनी चाहिए

जब बच्चा आवश्यक परिपक्वता की स्थिति में पहुंच जाये। बच्चे की संवेदनशील प्रकृति में समय से बहुत पहले इनका प्रवेश नहीं होना चाहिये।

बच्चे के जीवन में प्रौढ़ता के हस्तक्षेप के द्वारा निर्मित बहुत सी आवश्यकताओं को मनोवैज्ञानिकों ने पहचान लिया है। इस विषय में यहां अधिक नहीं कहा जा सकता;[२] मैं केवल इन आवश्यकताओं में से कुछ का उल्लेख कर रही हूं : जैसे दूसरों के ध्यान खींचने की आवश्यकता, अपने आप को सामने लाना, अनावश्यक एवं असमय खेल खेलना आदि– ये बच्चे के माता–पिता द्वारा दी जाने वाली सुविधाओं से आती हैं जो बच्चे को दिखाना चाहते हैं और मित्रों एवं आगंतुकों द्वारा की गई बच्चे की प्रशंसा में आमोद प्रमोद करना चाहते हैं।

एक छोटा बच्चा, जो अपने हाथ खाली नहीं रख सकता, घर पर उन बहुत साधारण वस्तुओं से वंचित कर दिया जाता है जिसको प्रत्येक बच्चा छूना चाहता है, उनका संचालन करना चाहता है, उनसे काम करना चाहता है और खेलना चाहता है।

कुछ बच्चे किसी भी कार्य में टिक नहीं पाते जो भी काम वह हाथ में लेते हैं, वे तुरन्त उसे छोड़ देते हैं और दूसरे नये कार्य की ओर मुड़ जाते हैं। यह आचरण उस साधारण बच्चे के लिये असामान्य है जो एक बार यदि अपनी रुचि की विषय वस्तु पा जाये। उससे वह कार्य में तल्लीन हो जाता है और किसी प्रकार का हस्तक्षेप पसन्द नहीं करता। इस प्रकार की अस्थिरता उन माता–पिता के कार्यकलापों द्वारा बच्चे में आ जाती है जो बच्चों की इस आवश्यकता की उपेक्षा करते हैं और जब वह काम में अथवा खेलने में संलग्न होता है तब बराबर उसे टोकते रहते हैं।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक, युवकों की तोड़–फोड़ की प्रवृत्ति को उनकी रचनात्मक प्रवृत्ति का दमन होने व विचलित होने से उत्पन्न हुई मानते हैं। इसी तरह युवक का हिंसक, उद्दण्ड व कोलाहलपूर्ण व्यवहार, उसका लम्बे समय तक कक्षा में जबरदस्ती बैठा रहने व उस दौरान उसकी पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न भौतिक ऊर्जा का उपयोग न हो पाने का परिणाम मानते हैं।

---

२ कृपया देखें – आर कॉसिनेट : एल एजुकेशन चैप्टर ६। मैं इस पुस्तक की सिफारिश उन लोगों के लिए करूंगी जो कि यह जानने में दिलचस्पी रखते हैं कि पश्चिमी शिक्षाविद (उनमें से कुछ) श्री अरविन्दो द्वारा बताए मार्ग पर किस तरह स्वतंत्रतापूर्वक आगे बढ़ सके हैं।

प्रौढ़ व्यक्ति के हस्तक्षेप का प्रभाव सकारात्मक या नकारात्मक हो सकता है। प्रौढ़ व्यक्ति कोई कार्य ऐसे समय कर सकता है जबकि उसकी आवश्यकता नहीं होती या उसका यह कार्य हानिकारक होता है। जब उसके कार्य की आवश्यकता हो, उस समय वह हस्तक्षेप करने में असफल भी हो सकता है। (उदाहरण के लिए उचित वातावरण उपलब्ध कराने में)

यदि कृत्रिम आवश्यकता का निग्रह अथवा हतोत्साहित करना आवश्यक हो तो सबसे पहले उसके मूल कारण का पता लगायें और उस हस्तक्षेप को बन्द करें जो उसके मूल में विद्यमान है। जब यह कर दिया जाता है तो भी इसकी आवश्यकता कुछ और समय तक रह सकती है। परन्तु उसका दबाव घटने लगता है और अन्त में यह शिथिल होकर विलीन हो जाएगी, विशेषतया जब कि आवश्यकताओं की विवेचनात्मक पद्धति, जिसकी हम यहां चर्चा करेंगे, उपयोग में लाई जाती है।

जब हम वास्तविक आवश्यकताओं और काल्पनिक आवश्यकताओं के बीच के भेद का परीक्षण करते हैं तब स्थिति और भी कठिन हो जाती है। एक बार जब हम प्रत्येक व्यक्ति की तात्विक भिन्नता स्वीकार कर लेते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की प्रमुख आवश्यकताओं में भिन्नता पाई जाती है तब वस्तुतः कोई ऐसा मापदण्ड नहीं है जिसके द्वारा शिक्षक निर्णय कर सके कि यह आवश्यकता वास्तविक है या काल्पनिक। जो एक बच्चे के लिये काल्पनिक है, वही दूसरे बच्चे के विकास के लिये उचित हो सकती है। इसका समाधान यही है, जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, कि बच्चे को अपनी शिक्षा का उत्तरदायित्व अपने हाथों में लेने के लिए तैयार किया जाये। यह शिक्षक से बच्चे को उत्तरदायित्व सौंपने की पद्धति हमारी नयी शिक्षा का मूल आधार है जिसकी चर्चा हम बाद में करेंगे। यहां यह कहना पर्याप्त है कि जब बच्चा अपने लिये सभी तरह के निर्णय लेने की आवश्यकता का सामना करता है जो कि अब तक उसके माता पिता व शिक्षक लिया करते थे और बच्चे पर थोप दिए जाते थे तब वह स्वतः अनायास ही अपने आपको एकाग्र करता और अन्दर की ओर मुड़ता है। वह 'उत्तरदायी' हो जाता है और आंतरिक निर्देश की खोज प्रारंभ कर देता है। बच्चों में आत्मा बहुत दूर नहीं होती है, यह अभी तक जीवन की कठोर वास्तविकताओं से निर्मित एक कठोर परत द्वारा ढकी नहीं होती है। इसीलिये उसके लिये अपनी आत्मा के साथ

सम्पर्क स्थापित करना अधिक आसान होता है जबकि बच्चा शान्त होकर अपने अन्दर झांकना प्रारम्भ करता है। और एक बार जब वह सम्पर्क स्थापित हो जाता है तो सच्चे नीर–क्षीर विवेचन का अन्तर्भास उसे होने लगता है और उसे स्वयं काल्पनिक आवश्यकताओं, चाहे वे हानिकर हों या व्यर्थ, को दूर करने लगता है।

"सामान्य आवश्यकताएं" एक निश्चित आयु तक के समस्त अथवा व्यावहारिक रूप से समस्त बच्चों की एक तरह की होती हैं। वे सभी वास्तविक आवश्यकताएं हैं। *"व्यक्तिगत आवश्यकताएं"* एक बच्चे से सम्बंधित होती हैं अथवा उसकी वृद्धि की कालावधि से सम्बंधित होती हैं। वे भी वास्तविक आवश्यकताएं हो सकती हैं और पूरी होनी चाहिये। उनका महत्त्व विचारणीय है क्योंकि उनका उद्देश्य सन्तुलन को फिर से स्थापित करना या बच्चे के विकास में आयी रिक्तता या पिछड़ेपन को दूर करना होता है।

यह कहा जा सकता है कि हमारी नयी शिक्षा पद्धति में कृत्रिम या मनमौजी दिखने वाली आवश्यकताओं के अतिरिक्त प्रत्येक आवश्यकता जो कि बच्चा शांत होकर एवं आत्मविश्वास के साथ व्यक्त करता है जहां तक सम्भव हो अवश्य पूरी करनी चाहिये। प्रारंभ में यह नीति खतरनाक व विवेकहीन प्रतीत हो सकती है। लेकिन शीघ्र ही जब बच्चा अपने उत्तरदायित्व के मार्ग में अपने निर्णय के परिणामों का सामना करता है या अपनी पसन्द या नापसंद व्यक्त करता है तब यह स्पष्ट हो जाता है कि बच्चे को अपने स्वयं के प्रयोगों को सम्पन्न करने का अवसर देना ही विवेकशील नीति है। अंततोगत्वा प्रत्येक मानवसत्ता अपने स्वयं के अनुभवों द्वारा सीखती है। दूसरे व्यक्ति का अनुभव केवल या तो चेतावनी या पुष्टि करने में उपयोगी हो सकता है और प्रयोग की अवधि को कम कर सकता है न कि उसे समाप्त कर सकता है और जब बच्चा जिम्मेदारी की इस अवस्था में पहुंच जाता है तब वह सचमुच जल्दी सीखता है, अधिकांशतया प्रौढ़ व्यक्तियों की तुलना में अधिक जल्दी।

उपर्युक्त उदाहरणों से हम देख सकते हैं कि कैसे बच्चे की आवश्यकता जिसे सामान्य व तर्कसंगत ढंग से पूरा नहीं किया जाता किसी भी तरह सन्तुष्ट होने का प्रयास करती है और इस प्रकार बच्चे में असाधारण प्रवृत्ति पैदा करती है। इसके अतिरिक्त असंतोष, निराशा और कुंठा की भावना बच्चे की अवचेतना

में बैठ जाती है और बहुत सारे मनोरोगिक कष्टों, साधारण चिड़चिड़ेपन से लेकर वास्तविक स्नायु रोग तक का स्रोत बन जाती है। बच्चे के स्नायु रोग के कष्ट अनियमित व असंतुलित व्यवहार, जो बहुतेरे माता पिता को घबराते और दुःखी करते हैं, का कोई अन्य स्रोत नहीं है। इस प्रकार के कष्टों से निपटना अत्यन्त कठिन होता है क्योंकि उनका वास्तविक कारण समझ में नहीं आता।

जब मैं कहती हूं कि बच्चे की स्वाभाविक आवश्यकताओं की संतुष्टि होनी चाहिये, मेरा तात्पर्य यह नहीं होता कि शिक्षक को उन्हें संतुष्ट करना है। वास्तव में बच्चा अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि स्वयं करता है, शिक्षक को चाहिए कि वह बच्चे को ऐसी परिस्थिति में रख दे जहां उसकी संतुष्टि सम्भव हो। यह भौतिक आवश्यकतओं से लेकर भावनात्मक और बौद्धिक आवश्यकताओं तक में सत्य है। बाह्य वस्तुओं द्वारा उत्पन्न प्रेरणा की प्रतिक्रियास्वरूप अपनी स्वयं की आवश्यकताओं की सक्रिय सन्तुष्टि के द्वारा बच्चा ज्ञान और क्रिया के विभिन्न उपकरण, कौशल, दृढ़ता, अपनी इन्द्रियों के उपयोग, निर्णय, स्मृति, बौद्धिक क्षमता आदि का विकास करता है। शिक्षक को हमेशा याद रखना चाहिये कि वह बच्चे पर कार्य करने का प्रयास न करे न ही उसकी आवश्यकताओं पर, वह मात्र बच्चे के वातावरण पर कार्य करे।

अब हम इस स्थिति में पहुंच चुके हैं कि बच्चे की सबसे महत्वपूर्ण सामान्य आवश्यकताओं का संक्षेप में पुनरावलोकन कर सकें।

मैं शारीरिक आवश्यकताओं की बात नहीं करूंगी चाहे वे पौष्टिकता से सम्बंधित हों, स्वास्थ्य से अथवा भौतिक विकास से। वे इस कथनावली के परिदृश्य के अंतर्गत नहीं आतीं। इसके अतिरिक्त ये मनोवैज्ञानिक आवश्यकतायें, जिनकी यहां विशेष रूप से चर्चा करने जा रहे हैं–किसी प्रकार अधिक ज्ञात हैं। मैंने कहा 'किसी प्रकार' क्योंकि इन आवश्यकताओं के प्रति हमारा ज्ञान व मनोवृत्ति अब भी संशोधन हेतु बहुत अधिक खुले हैं जैसाकि यह छोटी सी कहानी दर्शायेगी जो मैं अब तुम्हें बताऊंगी। यह वाशबर्न द्वारा वर्णित बहुत छोटे बच्चों के साथ एक प्रयोग की सच्ची कहानी है।

पन्द्रह दुधमुहे (जिनका दूध हाल ही में छुटा था) बच्चों पर चार–साढ़े चार वर्ष की आयु तक सतत् वैज्ञानिक निरीक्षण किया गया। भोजन के समय विभिन्न

प्रकार के खाद्य पदार्थों से सजी एक थाली प्रत्येक बच्चे के सामने रखी गई : सादे भोजन की १२ से १५ थालियां, जो किसी सुस्वाद रस से सुगंधित नहीं की गई थीं, न ही किसी अन्य खाद्य सामग्री से मिश्रित की गई थीं। शुद्ध दूध या दही, एक पूरी तरह उबला अण्डा, अन्यान्य तरकारियां, कटा हुआ कच्चा मांस, तला हुआ गोमांस आदि। सबसे छोटे बच्चे (९ या १० महीने) ने सबसे पहले हाथ से कुछ अनिश्चित क्रिया (हरकत) की और संयोग से एक थाली की ओर संकेत किया। पर्यवेक्षक ने, तुरन्त, जो कुछ थाली में था उसका चम्मच भरकर उसे दे दिया। बच्चा शीघ्र यह समझ गया कि जब भी वह एक थाली की ओर संकेत करता है उस थाली का पदार्थ उसे दे दिया जाता है। वह यह भी अतिशीघ्र समझ गया कि थाली में क्या रखा हुआ है। एक खाने के बाद दूसरे समय के खाने के लिए थालियां बदल दी गईं, वहां कुल २० से २५ प्रकार की थालियां थीं, लेकिन प्रत्येक खाने के समय एक दर्जन से अधिक नहीं परोसी गईं। और प्रत्येक बार उन नन्हों के लिए थालियों का स्थान बदल दिया गया, कारण, बच्चा थाली को उसके विशेष स्थान के कारण न चुने वरन् किसी प्रकार के भोजन को खाने की इच्छा से चुने। बच्चा अपनी पसंद के अनुसार, निम्न या अधिक जैसा वह चाहता था, खा सका। जब थाली खाली हो जाती उसे पुनः भर दिया जाता। बच्चा अपना पूरा पेट बिना कोई असहमति प्रदर्शित किए केवल एक ही थाली से भर सका। परिणाम आश्चर्यजनक थे। सब बच्चे इतने सुन्दर व स्वस्थ समूह में विकसित हुए जितना अनुमान किया जा सकता था। कुछ जो अस्वस्थ व क्षीण थे शीघ्र ही ठीक हो गये। बच्चे बीमार नहीं होते थे, किन्तु जब उनको सर्दी–जुकाम होता वह अपना भोजन स्वयं नियंत्रित कर लेते। वे प्रत्येक भोजन में संतुलन नहीं करते किन्तु एक निश्चित कालावधि में प्रत्येक बच्चा भोजन की आवश्यक वस्तु पा लेता और इस प्रकार अपने विकास के लिए आवश्यक संतुलन कर लेता।[1]

अब हम मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की ओर लौटें। उनमें से सर्वप्रथम 'प्रसन्नता की आवश्यकता है' जिसे मैं पहले पर्याप्त रूप से बता चुकी हूं।

एक दूसरी आवश्यकता जो आत्मा से सम्बंधित है और जो सत्ता के सभी भागों को प्रभावित करती है वह है 'विकास करने की आवश्यकता'। मूलतः बच्चा एक विकसनशील सत्ता है; विकास उसके जीवन का उद्देश्य है, आधार

---

१ आर. कौंसिनेट इन एस. एजूकेशन नोवेस पृष्ठ १२६–१२८ से उद्धृत।

है, उसके अस्तित्व का मूल सिद्धान्त है। और अपने विकास की इस प्रक्रिया में वह जड़वत् निष्क्रिय नहीं है, जो गाड़ी के टायर की भांति क्रिया से फुलाने पर आकार में विकसित हो जाता। बच्चे के लिये, विकास करना कर्म करना है, कुछ करना है, और उस कर्म से, उस क्रिया से उसका शरीर प्राप्त करता है बल, नमनीयता, स्वास्थ्य। उसका मन हो जाता है तीक्ष्ण, सतर्क, तर्कसम्पन्न, पारखी एवं निर्णय सम्पन्न। ज्ञान में विकसित होता है और उसका विकास होता है उस ज्ञान का उपयोग करने की क्षमता में भी। विकास एक ऐसी क्रिया है जिसमें पूर्ण सत्ता की रुचि होती है।

शरीर विकसित होता है उचित भोजन के स्वांगीकरण द्वारा तथा व्यायाम, अभ्यास व प्रशिक्षण के द्वारा। भावात्मक व प्राणिक सत्ता जीवन व सौन्दर्य के अन्य रूपों के सम्पर्क में आने से विकसित होती है, संस्पर्शों एवं भावनाओं के आदान–प्रदान तथा उचित सामंजस्यपूर्ण वातावरण के स्वाभाविक प्रसार द्वारा विकसित होती है। मन वस्तुओं और परिस्थितियों से व्यवहार करने से विकसित होता है, अभ्यास, व्यायाम और प्रशिक्षण द्वारा; निरीक्षण, प्रयोग, आविष्कार व खोज द्वारा; स्वेच्छा से पाए गए उचित मानसिक योजन द्वारा तथा विचारों और अनुभवों के आदान–प्रदान द्वारा मन विकसित होता है।

इसी कारण से यह कहा जाता है कि सक्रियता बालपन का चिन्ह है। और सक्रियता वांछित परिणाम तभी ला सकती है जब वह स्वतंत्र सक्रिय हो। जो बाह्य व्यक्तियों और वस्तुओं के साथ सम्पर्क में आते ही स्वतः ही अन्दर की गहराई से सतह पर आकर व्यक्त हो जाये। कोई भी थोपा गया कार्य या क्रिया आत्मा के उद्‌देश्य के लिये बहुत थोड़ी मूल्यवान या बिल्कुल मूल्यहीन होती है क्योंकि इस तरह की क्रिया में आत्मा अनुपस्थित होती है।

सामान्य बच्चे में जिसे अनुकूल वातावरण में रखा जाता है, क्रिया सदा उद्देश्यपूर्ण होती है भले ही यह एक खेल या क्रीड़ा हो, निष्क्रिय व व्यर्थ हो। यह तभी होती है जब बुरी आदतें पड़ जाती हैं, या तो वातावरण में उचित व रुचिकर वस्तुओं के अभाव से या थोपे हुये कार्य के फीकेपन व क्रिया में स्वतंत्रता के अभाव के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप।

जब बच्चा जो भी काम करता है उसमें रुचि लेता है तब इसका तात्पर्य है कि क्रिया उद्देश्यपूर्ण है अर्थात् यह आत्मा के विकास में योगदान देती है। इस प्रकार बच्चे की रुचि उसकी आत्मा की भागीदारी का चिन्ह है –एक आच्छादित और दूरस्थ भागीदारी जिसकी पुष्टि करनी है किन्तु अभी यह दिशा संकेत भर है जिस ओर शिक्षक को बढ़ना है।

और जब बच्चा रुचि लेता है तो एकाग्रता स्वतःस्फूर्त होती है और कोई चीज जो उस एकाग्रता में बाधा डालती है बच्चे को रुष्ट कर देती है। वह खाना, सोना व बाकी सभी चीजें भूल जाता है जब तक वह यह न समझ जाये कि उसका उद्देश्य पूरा हो गया है। प्रौढ़ सामान्यतः उसकी इस आवश्यकता को नहीं पहचान पाते और इसका महत्त्व नहीं समझते और अपनी पूर्वनिर्धारित धारणा या योजना को स्वीकार करने का दबाव डालकर, और उसे व्याकुल करके बच्चे के कष्टों और विकृतियों के लिये जिम्मेदार होते हैं। इससे स्वाभाविक चंचलता, उपेक्षा और अस्थिरता आ जाती है।

बच्चा स्वाभाविक रूप से अपने काम को पूरा करना चाहता है। वह इस कार्यपूर्ति में सन्तुष्टि अनुभव करता है और यही उपलब्धि का एहसास उसका वह पारितोषिक है जिसकी वह अपेक्षा करता है। यदि वह इससे प्रौढ़ों के संकुचित दृष्टिकोण के कारण वंचित रह जाता है तब वह तुरंत ही कार्य में रुचि तथा पूर्णता की प्रवृत्ति का अधिकांश भाग खो देता है। जब कोई स्वस्थ बच्चा अपना कार्य अधूरा छोड़ देता है, अन्धाधुंध तथा अस्त व्यस्त, तो यह एक प्रकार की विकृति है जो प्रौढ़ों की उसके कार्यों में आदतन हस्तक्षेप के कारण उत्पन्न होती है। यह बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिये।

मैं शिक्षक को कहना चाहूंगी कि 'प्रत्येक बच्चे को अपना कार्य अपनी अधिकतम योग्यता से तब तक करने दें जब तक वह पूर्ण सन्तुष्ट न हो जाय और अपना कार्य आपके पास न लाये। उसको विवश न करें लेकिन उसे आवश्यक समय व परिस्थितियाँ अवश्य दें। तब उसके कार्य के मूल्य का सहानुभूतिपूर्वक परीक्षण उसके साथ करें, किन्तु बिना किसी अनावश्यक प्रशंसा किये हुये। इसे तुरन्त करें, यदि सम्भव हो अथवा अपनी सुविधानुसार जितना जल्दी हो सके क्योंकि बच्चा एक अपेक्षा की स्थिति में होता है। यदि आपका

परामर्श अथवा संशोधन एक हफ्ते बाद आता है तब तक बच्चे में लेश मात्र भी रुचि नहीं रहेगी। जितना हम सोचते हैं बच्चा उससे कहीं अधिक तेज गति से आगे बढ़ जाता है।

कार्य में यह एकाग्रता जब तक इसका उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता पूर्णता की ओर एक महानतर एवं गहनतर आवेगपूर्ण प्रेरणा का एक हिस्सा है। ऐसे बच्चे का निरीक्षण करना जिसको पूर्ण स्वतंत्रता दी गई है, बहुत रुचिपूर्ण होता है। जब वह किसी कार्य को करना पसंद कर लेता है तो उस कार्य को अधिकतम पूर्णता के साथ करने की उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इसकी पूर्णता के लिए वह पर्याप्त समय देगा और स्पष्टतया इस विस्तार में वह कुछ पाता है तथा गहन आंतरिक आवेगपूर्ण प्रेरणा का पालन करता है।

यह हमको 'सौन्दर्य की आवश्यकता' तक पहुँचाता है। सौन्दर्य की परख जो कि कला के कार्यक्षेत्र की मानी जाती है लगभग सभी मामलों में बाल्यावस्था से सम्बंधित नहीं होती। लेकिन बच्चे को अपने कार्य में सामंजस्य व सौंदर्य की ओर झुकाव अवश्य होता है। बच्चा जिस विषयवस्तु में रुचि रखता है वह उसका अपना 'स्वविकास' अथवा 'आत्मविकास', और अपने आपको अभिव्यक्त करना चाहता है, अर्थात् 'आत्माभिव्यक्ति' आत्मविकास का एक भाग है।

सौन्दर्य का वह रूप जिसके प्रति बच्चे सर्वाधिक संवेदनशील होते हैं वह है 'चैत्य–सौन्दर्य', ऐसा सौन्दर्य जिसका उद्भव अन्तरात्मा के सामंजस्य से हो अथवा अंतरात्मा की अल्पपारदर्शिता से हुआ हो। प्रसिद्ध भौतिक सौंदर्य की अपेक्षा व्यक्ति के नैतिक सौन्दर्य के प्रति बच्चा अधिक जागरूक होता है। चैत्य सामंजस्य और विस्तार बच्चे की प्रकृति से मेल खाता है और ऐसे वातावरण में वह प्रसन्न, विश्रान्त तथा विश्वस्त अनुभव करता है। उदारता, धृति, भक्ति, प्रेम, निःस्वार्थ एवं वीरोचित कृत्य उसमें सदैव प्रतिध्वनित होते हैं। वे उसकी भावनाओं को बहुत ऊंचे स्पंदनों तक जगा देते हैं। भद्दापन, तुच्छता और दुष्टता से बढ़कर कोई विषयवस्तु बच्चे की अंतरात्मा को प्रतिकर्षित नहीं करती। दुर्भाग्य से आत्मा का प्रभाव ही केवल नहीं होता जिस प्रभाव के प्रति बच्चा खुल सके। यदि बच्चा बाल्यकाल में आरंभ से ही चैत्यस्पर्शमय वातावरण में नहीं रहा हो तो उसकी अपनी अंतरात्मा का प्रभाव ढका जा सकता है अथवा बाधित हो सकता

है। तब वह अपने बड़ों और सहपाठियों से आने वाले सब प्रकार के प्राणिक प्रभावों के संक्रमण के लिए खुल जाता है; विशेषकर यदि वह स्वयं उस तरह की विकृतियों एवं विचलनों से ग्रसित रह चुका हो जैसा कि हम वर्णन कर चुके हैं। इस तरह की विकृति एक पराधीनता के समान है जिसका उपचार बहुत कठिन है। इसके लिए अंतरात्मा की जागृति आवश्यक है; अधिकांशतः बहुत बड़े और दर्दनाक झटके और बहुत बड़े कष्ट के द्वारा, अंतरात्मा अपनी उपस्थिति पुनर्स्थापित करे–जिसे कहते हैं "सम्परिवर्तन"। अन्यथा इस प्रकार की अवस्था सम्पूर्ण जीवन भर बनी रह सकती है।

बच्चों में "आत्मनिर्भरता व स्वतंत्रता की आवश्यकता" सर्वविदित है। जो अल्पविदित है वह यह है कि यह आवश्यकता अंतरात्मा के अग्रणी बनने के संकल्प से उठती है। कोई नियम जो उन्मुक्तता से स्वीकारा नहीं जाता, कोई बाह्य विवशता बच्चे द्वारा लंबी अवधि तक सहन नहीं की जा सकती, और बच्चा जितना ही सचेतन होता जाता है उतना ही अपनी स्वतंत्रता पर किसी अतिक्रमण के प्रति संवेदनशील होता जाता है। अतः हमारी शिक्षा में इसका अत्यधिक ध्यान रखा जाये कि बच्चे पर माता पिता अथवा शिक्षकों द्वारा भौतिक अथवा नैतिक विवशता अथवा दबाव न डाला जाय। ऐसा करने से वह लक्ष्य जो हमारे दृष्टिकोण में है पराजित हो जायगा या बाधित हो जायेगा।

काफी आश्चर्यमय है, स्वतंत्रता की आवश्यकता का एक परिपूरक रूप भी, वह है "सुरक्षा की आवश्यकता"। इन शब्दों का यह अर्थ नहीं है कि बच्चा एक सुविधापूर्ण, एकाकी और फीके रोमांच और साहसिक कार्य से विहीन जीवन में रुचि लेता है। बच्चों की जोखिम उठाने और खतरा उठाने की पसंद भी सर्वविदित है। (क्योंकि, जोखिम और खतरा उनको विशाल अनुभव और महान् निपुणता की संभावना देते हैं।) मेरा अभिप्राय बच्चे के आश्वस्त होने की आवश्यकता से है कि उसका विकास बाधित नहीं होगा अथवा रुकेगा नहीं। उसमें सम्भवतः एक संवेदन होता है कि वह सब परिस्थितियों का सामना करने के लिये सक्षम नहीं है। कठिन परिस्थितियाँ उस पर तब तक न लादी जायें जब तक वह यह नहीं समझता कि वह इनका सामना करने में सक्षम है। हम यह कह सकते हैं कि वह जोखिम पसंद करता है किन्तु आश्वस्त होना चाहिए कि वह उस

जोखिम को वहन करने व उसमें सफल होने में सक्षम है। सीधे जोखिम की अपेक्षा वह निश्चित रूप से सफलता में अधिक रुचि रखता है, इसलिए उसे प्रयोग करने अथवा इसे मना करने के लिए स्वतंत्र होना चाहिए। कार्य करने के लिए या उससे हट जाने के लिए उसे कोई बाध्य करे यह वह पसंद नहीं करता। बच्चा यह आश्वासन भी चाहता है कि कठिनाई के प्रकरण में उसे सहायता से वंचित न रखा जायेगा। ऐसा नहीं है कि वह यत्न करना नहीं चाहता और सचमुच सहायता ले ही लेगा, किन्तु आगे बढ़ने से पहले वह सुनिश्चित करना चाहता है कि आवश्यकता पड़ने पर सहायक हाथ उपलब्ध होगा। यह बड़ी भारी भूल होगी कि सहायता की वास्तविक आवश्यकता होने अथवा मांगे जाने के पूर्व ही तैयार हाथ सहायता दे दे।

यदि शिक्षक का प्रथम कर्त्तव्य उचित वातावरण उपलब्ध कराना है तो दूसरा कर्तव्य बच्चे की पहुंच में निरन्तर और पूर्ण रूप से उपस्थित रहना है। बच्चे को यह पता होना चाहिये कि जब भी उसको किसी स्पष्टीकरण, सूचना, मार्गदर्शक संकेत, नैतिक सहायता, बाह्य हस्तक्षेप की आवश्यकता होगी उसके लिये शिक्षक उपलब्ध होगा। किन्तु परामर्श सहायता, मार्गदर्शक संकेत, तब तक नहीं देने चाहिए जब तक उनकी वास्तविक आवश्यकता न हो अथवा उनकी माँग न की गई हो। अन्यथा उनसे बच्चे के कार्य का सम्पूर्ण मूल्य बिगड़ जायगा। यह स्मरण रहे कि बच्चे के लिए प्रत्येक कार्य एक प्रयोग है; (उसमें अवांछित हस्तक्षेप करके) उसे अपने प्रयोग के फल से वंचित न करें।

बच्चों में आत्मविश्वास व सुरक्षा की भावना प्रेरित करने के लिए शिक्षक को स्थिर व अडोल होना चाहिये। बच्चे को शिक्षक के बदलते व्यवहार से अधिक व्यग्र कोई विषय वस्तु नहीं करती। बच्चा अपने शिक्षक को जानता है, वास्तव में वह उसको बहुत अच्छी तरह जानता है, वह उसकी कमियों को जानता है और उसकी पूर्णता की अपेक्षा नहीं करता, किन्तु आशा करता है कि वह समरूप व विश्वसनीय हो। बच्चा अपेक्षा करता है कि उसका शिक्षक जैसा कल था वैसा कल भी रहे। यदि शिक्षक अप्रत्याशित व्यवहार करता है, यदि वह कुछ दिन के लिए कठोर है तथा किसी विषय वस्तु को मना करता है और अन्य दिन बिना किसी कारण तथा बिना किसी स्पष्टीकरण के वह मृदुल हो जाता है और उसी विषयवस्तु की अनुमति दे देता है तो बच्चे की सुरक्षा की आवश्यकता प्रभावित

होती है। यदि शिक्षक कठोर है तो वह सब दिन व सब के लिए कठोर ही रहे किन्तु वह संदिग्ध बातसूचक, अप्रत्याशित तथा अविश्वसनीय न हो।

शिक्षक भीतर और बाहर से एक होना चाहिये। जब बच्चों को पता लगता है कि शिक्षक असार्वजनिक स्थान पर भिन्न प्रकार से व्यवहार करता है और उनके सम्मुख भिन्न प्रकार से, जब वे पाते हैं कि उसके गुण मात्र दिखावा हैं, तब उन्हें झटका लगता है और वे ऐसे व्यक्ति को अपना विश्वास कभी वापस नहीं लौटायेंगे जिसने उनसे विश्वासघात किया है।

वास्तव में स्वतंत्रता और सुरक्षा एक–दूसरे के विरोधी नहीं हैं। बच्चा स्वतंत्र होना चाहिए; उसे बोध होना चाहिए कि वह स्वतंत्रता के लिए आश्वस्त है। किन्तु इस स्वतंत्रता के लिए आश्वस्त करना शिक्षक की अनुपस्थिति, उसका दुराव अथवा उसकी ओर से समर्पण नहीं है। बच्चा जानता है कि शिक्षक उसे विकास के लिए आवश्यक प्रयोग करने से नहीं रोकेगा, किन्तु उसे यह भी विश्वास है कि जब भी उसके परामर्श, उसकी सहायता, उसके सहारे की आवश्यकता होगी शिक्षक प्रभावकारी एवं कार्यकुशल ढंग से सर्वदा उपस्थित होगा। स्वतंत्रता और सहायता दो परिपूरक उपहार हैं जिनकी बच्चा शिक्षक से अपेक्षा करता है।

सुरक्षा से जुड़ी है "बच्चे की प्रयोग में सफलता की आवश्यकता"। वह द्रुत और जाज्ज्वलित उत्साह के सुयोग्य है किन्तु निराशा और उदासी के भी अध्‍ीन हो जाता है यदि उसकी अपेक्षायें पूर्ण नहीं होती हैं। अतएव हमें सावधान रहना चाहिए कि बच्चे को उसकी क्षमता से अधिक कार्य न दिया जाये। असफलता बच्चे के लिए हानिकारक है; यह उसको कार्य के लिए स्पन्दित नहीं करती, जैसे एक प्रौढ़ को करती है, यह उसको हतोत्साहित करती है। प्रश्न एवं अभ्यास उसके सामर्थ्य के अनुकूल होने चाहिए, न अधिक सरल न अधिक कठिन। यदि वह असफल होता है, तो उससे ऐसा नहीं कहो : "देखो, तुम इसे नहीं कर सकते"; और सर्वोपरि यह है कि यह दिखाने के लिए कि तुम कर सकते हो उसका काम स्वयं न करो। छोटा सा संकेत, परामर्श देकर उसका निरीक्षण करें, अथवा उसी प्रकार का किन्तु अपेक्षाकृत सुगम प्रश्न करने के लिए उससे कहें; उसकी अप्रत्यक्ष रूप से सहायता करें जिससे वह अनुसंधान व सफलता का मार्ग ढूंढ़ सके।

घुड़सवारी सीखते हुए, ऐसा होता है कि व्यक्ति को घोड़े से फेंक दिया जाता है। यदि कोई अंग–भंग नहीं हुआ है तो इस तरह की घटना में शिक्षक को चाहिए कि वह नौसिखिये शिष्य को तुरंत पुनः घोड़े पर सवार होने के लिए अनुरोध करे। असफलता को लेकर पड़े नहीं रहना चाहिए।

उपलब्धि की प्रसन्नता, कठिनाई पर विजय पाना कार्य के मुख्य प्रेरकों में से एक है, बच्चे के लिए यह विकास का चिन्ह है। हमारी नई शिक्षा में संभवतः केवल यही एक प्रेरक है, क्योंकि बाकी सब छोड़ दिए गए हैं। बच्चे को समझने देना चाहिए कि यह सच्चा और एकमात्र पारितोषिक है जो उसके योग्य है। निश्चय ही उसको आनन्द के स्रोत के लिए अपने भीतर झांकने हेतु कहना चाहिए, उस आनन्द के स्रोत जो उसे अनुसंधान में, उपलब्धि में, प्रगति में अनुभव होता है। उसको यह भी देखने के लिए कहना चाहिए कि यह आनन्द कैसे और कहां से आता है, वह इसकी गहराई में पैठे। यह उसको अपनी अंतरात्मा के संस्पर्श का अनुभव करने में और उसके प्रभाव में विकास करने में सहायक हो सकता है।

वर्तमान मान्यता के विपरीत, बच्चा व्यवस्था (क्रमबद्धता) पसंद करता है; यह उसकी सुरक्षा की आवश्यकता का एक भाग है। किन्तु बच्चे की व्यवस्था विरले ही माता–पिता की व्यवस्था होती है। बच्चा चाहता है कि उसकी वस्तुएं उसको वहीं मिलें जहां उसने उनको छोड़ा था। किन्तु उनकी मां की व्यवस्था की सोच भिन्न है। वे वस्तुओं को कुछ निश्चित नियमों के अनुसार रखना चाहती हैं जो उन्होंने तर्क संगत और उचित मान रखा है, और बच्चे को डांटती हैं जब वह अपना खिलौना कुर्सी पर छोड़ देता है अथवा अपनी कॉपियां सिलाई–मशीन पर रख देता है। इसलिए यह अच्छा है कि घर में, एवं कक्षा में भी, एक जगह छांट लेना जो बच्चे की सम्पत्ति हो, जहाँ उसकी अबाध पहुँच हो, जहां वह अपनी पुस्तकें, कॉपियां, पेन्सिलें और कुछ अन्य वस्तु रख सके और संवार सके जो बच्चे के लिए इतनी मूल्यवान हैं क्योंकि वे बच्चे के भावुक जीवन से सम्बंधित हैं।

भोजन में "समयबद्धता", शयन समय, विद्यालय आने और जाने का समय भी बच्चे के लिए एक महत्त्व रखता है और साधारणतः वह इसका आसानी से

पालन करता है। नियम भंग होने की स्थिति अधिकांशतः घरेलू समस्याओं से ही आती है।

हम ध्यान रखेंगे कि हमारी पद्धति में समय–सारिणी लचीली हो, चाहे कुछ समयबद्धताएं हों जैसे स्कूल आना व जाना। ऐसा इसलिए किया गया है कि बच्चा अपना कार्य स्वतंत्रता से व्यवस्थित करे। बहुत से मामलों में वह अपनी समय–सारिणी तैयार करने की आवश्यकता स्वयं अनुभव करेगा। शिक्षक उसे दिशानिर्देश दे सकता है कि समय–सारिणी को लिख लेना एक बात है और उसको कार्यान्वित करना बिल्कुल दूसरी, और उसका कार्यान्वयन करना ही कर्त्तव्य है किन्तु यह एक कठिन उपलब्धि होगी। शिक्षक को बच्चे को उत्साहित करना चाहिए और उसको सौम्यता से और धैर्य से मार्गदर्शन करना चाहिए। यह जो भी रूप ले महत्वपूर्ण यह है कि बच्चा उत्तरदायित्व स्वीकारे, ऐसा उत्तरदायित्व जो स्वतंत्रता का फल है।

कुछ आवश्यकताएं ऐसी हैं जो बच्चे के भावुक एवं मार्मिक जीवन से सम्बंधित हैं, आपने देखा होगा कि बच्चे की सभी आवश्यकतायें भावुकता से रँगी हुई होती हैं! सबसे महत्वपूर्ण है 'सहानुभूति, सद्‌भाव व प्रेम की आवश्यकता'। और स्वभावतः क्योंकि बच्चे के लिए शिक्षक ही पाठशाला के जीवन का केन्द्र है, इसलिए वह शिक्षक में ही (माता–पिता के बाद) इनको पाने की अपेक्षा करता है। प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है, किन्तु मैं आग्रह करती हूं कि सहानुभूति व प्रेम सच्चे बोध पर आधारित होना चाहिए जो शिक्षक के दृष्टिकोण को प्रभावित न करे। न तो दुलार और न ही जान–पहचान को प्रोत्साहन देना चाहिए। शिक्षक और शिष्य का सम्बंध विश्वास व सम्मान पर आधारित होना चाहिए। अपने बच्चों पर विश्वास रखो और उनके विश्वास के पात्र बनो। उनका सम्मान करो और वे तुम्हारा सम्मान करें! जहां तक सम्भव हो, उनके और तुम्हारे बीच का सम्बंध अंतरात्मा और अंतरात्मा का सम्पर्क होना चाहिए, अपना मनोयोग, समय व देखभाल अर्पित करने के लिए सर्वदा उद्यत रहें, और उनके साथ अपनी उपस्थिति प्रयोजन मन में स्मरण करते रहें : सहायक होना, पथप्रदर्शक होना जो उनके आत्मानुसंधान और आत्मसंयम के मार्ग पर उनके साथ–साथ चले।

हमने शिक्षक व शिष्य के सम्बंध की बात की। पाठशाला में माता–पिता व बच्चे का सम्बंध अधिकतर इसी प्रकार का होना चाहिए। अत्यधिक भौतिक

निर्भरता का युग समाप्त हो गया है, किन्तु माता–पिता को अपने बच्चे की स्वतंत्रता की आवश्यकता को समझने में प्रायः कठिनाई होती है जिसे वे अभिमान व स्वाग्रह समझते, उस पर अप्रसन्न होते हैं। वे प्रत्युत्तररहित अनुपालन चाहते हैं, क्योंकि वे आश्वस्त हैं कि बच्चे के लिए क्या अच्छा है और क्या बुरा है, वह बच्चे से अधिक अच्छी तरह जानते हैं। यह है उनके बीच मधुर सम्बंधों की सबसे बड़ी बाधा। मैं और अधिक नहीं कहूंगी क्योंकि मैं माता–पिता को सम्बोधित नहीं कर रही हूं।

अब हम आते हैं बच्चों के आपसी सम्बंधों पर। ८–६ वर्ष की आयु में "एक आवश्यकता" प्रकट होनी शुरू हो जाती है जो १२–१३ वर्ष की आयु में चरम रूप ले लेती है। बच्चा दूसरे बच्चों की सहायता से कार्य करना, स्वनिर्माण करना, प्रयोग करना शुरू कर देता है; वह अपनी खोजों, अनुसंधानों को अपने मित्रों में बांटने की आवश्यकता अनुभव करता है, या तो उनकी अनुमति प्राप्त करने के लिए, अथवा अपने विचारों को उनके अनुसार संशोधित करने के लिए! उसे संयुक्त कार्यक्रमों में भाग लेना अच्छा लगने लगता है, उन सम्बंधों को बहुत दूर तक लांघ जाने के लिए जो छोटी आयु में उनके साथ बने थे। यह वह समय है जब बच्चे सहज ही अपने आपको टोलियों, वर्गों अथवा समूहों में सँजो लेते हैं, आपस में ही कार्य और उत्तरदायित्व बांट लेते हैं चाहे यह खेलों के लिए हो अथवा वन विहार, बालचर वर्ग, खोज हो अथवा अन्य कार्य हो। रुचि की एक नई विषय वस्तु है जो बच्चा अपने परिवेश में खोज लेता है। वह उसके साथ प्रयोग करना आरम्भ कर देता है जैसे वह अन्य विषय–वस्तुओं के साथ करता है। वह प्रतिक्रियाओं को आमंत्रित करता है और अपनी प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करता है, और इन विनिमयों से अपने साथियों को जान लेता है तथा सामाजिक जीवन की अपनी तैयारी करता है। इस प्रकार का साथ स्वीकारना होता है तथा सहअस्तित्व व सहादर के सत्व में विकसित होने के लिए इसका प्रोत्साहन करना होता है। यह बहुत लाभकारी हो सकता है और हमारी शिक्षा प्रणाली में टोली–कार्य अथवा वर्ग–कार्य के रूप में इसका प्रावधान अवश्य होना चाहिए। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि बच्चे को अपने साथियों के चुनने की स्वतंत्रता बच्चे पर ही छोड़ दी जाये, यद्यपि कुछ विशेष संगों के प्रभाव के बारे में कभी–कभी संकेत किया जा सकता है। वर्ग–कार्य तभी लाभकारी हो सकता है जब वर्ग

स्वतः बने और स्वतः टूट जाये। और यदि बच्चा अकेला ही कार्य करना चाहता है तो उसे करने देना चाहिए।

बच्चे के लिए शिक्षक बहुत सीमा तक वैसी ही रुचि की विषय–वस्तु हो जाता है जैसे उसके सहपाठी। बच्चा अपने शिक्षक का सारा दिन अध्ययन करता है, समस्त संभव अवस्थाओं में उसकी प्रतिक्रियाएं आमंत्रित करता है और उसका अवलोकन करता है, उसकी संवेदनशीलता की जांच करता है, उसका धैर्य, उसकी सहनशीलता, और अपने व्यवहार को अपनी उपलब्धियों द्वारा नियंत्रित करता है। जान बूझकर परीक्षित किये जाने का भाव शिक्षकों द्वारा प्रायः प्रकट किया गया है।

बचपन की समाप्ति व किशोरावस्था के आरम्भ के साथ–साथ बच्चे की रुचि की एक नई विषय–वस्तु प्रकट होती है "यह है उसकी अपनी आंतरिक सत्ता"। किशोर भीतर लौटता है, एक आंतरिक खोज हेतु। बच्चा अपने संवेदनों, अपनी भावनाओं अपने आवेगों को समझने का यत्न करता है तथा विश्व व जन समूहों के साथ अपने सम्बंधों को स्थिर करने का यत्न करता है, वह अपने जीवन का और विश्व के प्रयोजन को जानना चाहता है। यह यदा–कदा गंभीर रूप से अनुभव की गई संकटावस्था है। शिक्षक को चाहिए कि इस आयु की समस्याओं का सच्चाई से सामना करने व पार करने के लिए बच्चे या बच्ची की सहायता करे। यहां पर भी मौन सहानुभूति तथा प्रोत्साहन के थोड़े शब्द एक शक्तिशाली सहायता है। पुस्तकें पढ़ने के लिए परामर्श देना चाहिए–साधारणतः कहानी की पुस्तकों को पढ़ने का उन्माद होता है– एक भली प्रकार चुनी गई पुस्तक उलझी हुई गांठ को सुलझाने में सहायता कर सकती है।"

बचपन की आवश्यकताओं के इस अध्याय को समाप्त करने के लिए मैं इस तथ्य पर अवश्य प्रभावकारी ढंग से कहना चाहूँगी कि आवश्यकताएं सदा के लिए निर्धारित नहीं हैं; इनमें परिवर्तन हो सकता है, न केवल भिन्न–भिन्न बच्चों के साथ बल्कि आयु के साथ एक बच्चे में भी, विकास की अवस्था तथा उसकी विद्यालय में और उसके बाहर की भौतिक, भावनात्मक और बौद्धिक जीवन की वास्तविक परिस्थितियों के अनुसार भी आवश्यकताओं में परिवर्तन हो सकता है।

---

४. दि प्राबलम आफ लव एण्ड सेक्सुअल लाइफ का विवरण श्रीअरविन्द और मा 'आन लव' में दिया गया है।

वैयक्तिक आवश्यकताओं में विविधता अत्यधिक है और उनका पता लगाना तथा उनको अपनी शिक्षा पद्धति में स्थान देना हमारे कर्त्तव्यों में से एक है।

वास्तव में बचपन प्रौढ़ावस्था की तैयारी है। किन्तु यह एक साधारण संक्रमण नहीं है जैसे पदचापों का चलन अथवा कुछ जुड़े कमरों का घर नहीं है जिसको पार करके बच्चे को अपने लक्ष्य तक पहुंच जाना हो। पदचाप अथवा कमरा निर्जीव है और बच्चे की सत्ता के बाहर रहते हैं जबकि विकास की प्रत्येक अवस्था केवल अन्तरात्मा का अनुभव प्राप्त करने व विकसित होने का माध्यम ही नहीं बल्कि बच्चे का सृजन है और उसकी सत्ता का एक अंग है; वास्तव में उस समय यह उसकी सत्ता का पूर्ण सत्य होता है।

यह बिल्कुल सच है कि बचपन पूरे मानव विकास की पुनरावृत्ति करता है। प्रत्येक शिक्षक जानता है कैसे विभिन्न अवस्थाओं में, अन्यान्य कथाओं द्वारा, जंगल में जीवन की अथवा सुदूर पश्चिम में जीवन की कथाओं, जंगली जानवरों को पालतू बनाने की, जोखिमभरे और वीरोचित कार्यों की वैज्ञानिक खोजों की, भावुक विनिमयों की, सांस्कृतिक संगठनों आदि की कथाओं से बच्चा आकर्षित हो जाता है। प्रत्येक अवस्था आगामी अवस्था में प्रवेश से पहले भली प्रकार गुणसम्पन्न होनी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक अवस्था को व्यक्ति की सत्ता की पूर्णता हेतु कुछ न कुछ अंशदान करना है। बच्चे को इन अवस्थाओं में से जल्दी–जल्दी पार कराने से, जैसे कि अंतिम अवस्था ही एकमात्र ध्यान देने योग्य हो, कोई लाभ नहीं है।

सत्य है, विकास आजीवन चलते रहना चाहिए, और ऐसे ही शिक्षा भी। यह एक संगीत–रचना के समान है, एक गान, एक स्वर–सहवादन के समान; प्रत्येक स्वर अथवा स्वर संघात केवल अन्य स्वरों की अपेक्षा अपना महत्त्व रखता है। स्वर–रचना का एक मुश्त पूरी–की–पूरी का ही महत्त्व है न कि इसके किसी अकेले स्वर अथवा स्वर संघात का। ठीक इसी तरह जीवन के साथ भी है।

निरीक्षणात्मक कार्य पत्र

एक बच्चे को और उसके संसार को देखने के लिये कुछ आत्मनिरीक्षण सम्बन्धी प्रश्न– यानी एक बच्चे की आन्तरिक कथा।

कुछ अवकाश के क्षण निकालकर इन प्रश्नों का उत्तर दीजिये अपने बच्चे के विषय में (या कोई बच्चा जिसे आप अच्छी तरह जानते हैं और जिससे अक्सर मिलते हैं)– ध्यान उसकी आन्तरिक स्थिति पर रखें...

- **जब आप इस बच्चे को देखते हैं तब सबसे पहले उसकी क्या छवि आपके अन्दर उभरती है?**
- **यह छवि आपको उसके बारे में क्या कहती है?**
- **उस बच्चे में सबसे अद्‌भुत गुण क्या है?**
- **उसका स्वप्न क्या है– किस प्रकार की बातें, लोग, कथाएं उसे आकर्षित करती हैं, उसका ध्यान पकड़ती हैं– मात्र कुछ क्षणों के लिये नहीं बल्कि बार–बार और देर तक।**
- **जब तुम उसकी बातों या संवादों पर ध्यान देते हो तो सबसे ज्यादा वह क्या बात करना पसन्द करता है?**
- **जब वह अपने आप अकेला होता है तो क्या करना पसन्द करता है?**
- **दिनभर में उसका सबसे प्रिय समय क्या है?**
- **तुम्हें बच्चे के साथ सबसे ज्यादा क्या अच्छा लगता है?**
- **किन बातों के लिये बच्चा तुम्हारी ओर मुड़ता है?**
- **किस प्रकार की बातों के लिये तुम बच्चे को मदद करने के लिये प्रस्तुत होते हो (बिना पूछे ही)?**
- **बच्चा किन बातों में समझौता करने से इन्कार करता है? कोई बात जो तुम जानते हो वह तुम्हारे बहुत प्रयासों के बावजूद नहीं करेगा, या यूं कहें उसके लिए सबसे अधिक कीमती बात क्या है?**

- क्या कुछ ऐसी गतिविधियां हैं, जो तुम पहले बच्चे के साथ करना पसन्द करते थे पर अब नहीं करते? वे क्या हैं? वे क्यों रुक गई हैं?
- उसकी सबसे अधिक मूल्यवान यादें क्या हैं? वह सबसे अधिक प्रिय क्या समझता है?
- इस समय उसके जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण लोग कौन हैं (उसकी दृष्टि में) एवं क्यों?
- वह सबसे अधिक किस बात से परेशान, निरुत्साहित होता है। क्यों?
- इस समय तुम्हारे अनुसार इस बच्चे के जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण चीज क्या है (उसकी दृष्टि में) और वह उस दिशा में किस तरह जा रहा है? तुम्हें क्या लगता है कि यह उसके लिये इतनी महत्त्वपूर्ण क्यों है?
- पिछले एक वर्ष में तुमने उसके अन्दर क्या परिवर्तन देखा/देखे है?
- उसके साथ तुम्हारे सम्बंध में कोई परिवर्तन हुआ है क्या?
- तुम्हारे अनुसार उसकी और प्रगति के लिये क्या आवश्यकता महसूस होती है?
- कौनसे वे मुख्य मुद्दे हैं जिन्हें ध्यान देने की जरूरत है या तुम्हारे बच्चे के साथ सम्बंध में सुधारने की आवश्यकता है।
- तुम इनसे कैसे पेश आते हो?
- तुम्हारे व्यक्तिगत विकास में बच्चे ने क्या सहायता की है?

अब स्वयं से पूछो तुम किस हद तक बच्चे की जरूरतों को ध्यान में लेते हो? इन परिस्थितियों में और अधिक क्या कर सकते हो?

अपनी कक्षा के बच्चों को लेकर तुम इसी तरह के और भी प्रश्न कर सकते हो। यह आत्मनिरीक्षण तुम्हें बच्चों की आवश्यकताओं को जानने एवं उन्हें पूरा करने में सहायक होगा, साथ ही तुम उन्हें अच्छी तरह समझ सकोगे और आवश्यकतानुसार अपना ध्यान उन पर केन्द्रित कर सकोगे।

---

५. नौस्टिक सेंटर द्वारा विकसित

अध्याय-२

विद्यार्थियों के साथ व्यवहार

व्यावहारिक मार्गदर्शन

यह अध्याय अपने विषय के अन्तर्गत तीन महत्त्वपूर्ण पक्षों को लेता है :-

- **विद्यार्थियों का प्रशिक्षण**
- **विद्यार्थियों की प्रगति एवं उपलब्धि में वृद्धि**
- **विद्यार्थियों का आचरण**

विद्यार्थियों का प्रशिक्षण

विद्यालयों की क्या उपयोगिता है?

'विद्यालय विद्यार्थियों को सोचने, अध्ययन करने, प्रगति करने और हो सके तो बुद्धिमान बनने की तैयारी करने के लिए हैं– यह सब केवल विद्यालय में ही नहीं, सारे जीवन में चलता रहना चाहिए।'[1]

विद्यार्थियों को क्या सिखाया जाय?

वस्तुतः, तुम्हें बहुत कम बातें सिखायी जाती हैं– तुम्हें सोना भी तो नहीं

---

१. मातृवाणी भाग–१२ पृ. ७७९

सिखाया जाता। लोग सोचते हैं कि बस, बिस्तर पर पड़े रहो और तुम सो जाओगे। किंतु यह सत्य नहीं है! व्यक्ति को सोना उसी प्रकार सीखना चाहिये जिस प्रकार वह खाना या कोई और कार्य करना सीखता है। यदि वह नहीं सीखता तो स्वभावतया वह इसे बुरी तरह करेगा। या उसे सीखने में वर्षों लगेंगे, और उन सब वर्षों में, जब वह उसे ठीक ढंग से नहीं करता, उसके साथ बहुत–सी अप्रिय घटनाएं घट सकती हैं। तब बहुत कष्ट सहने के बाद, बहुत गलतियां करने के बाद, बहुत–सी मूर्खतायें करने के बाद, जब व्यक्ति बूढ़ा भी हो जाता है और बाल सफेद हो जाते हैं, तभी वह धीरे–धीरे जानना शुरू करता है कि कोई चीज कैसे की जाय। किन्तु जब तुम काफी छोटे थे, तब यदि तुम्हारे माता–पिता या संरक्षक तुम्हें यह सिखाने का कष्ट करते कि तुम जो करो उसे कैसे करना चाहिए, उसे करने का ठीक और उचित ढंग क्या है तो तुम उन सब गलतियों से बच जाते जो तुमने इन सब वर्षों में की हैं। यही नहीं कि तुम गलतियां करते हो, कोई तुमसे यह भी नहीं कहता कि ये गलतियां हैं! तुम यह जानते ही नहीं कि जो तुम करना चाहते हो, उसे कैसे किया जाय, तुम्हें कभी शिक्षा ही नहीं मिली। कई बच्चों को कुछ भी नहीं सिखाया जाता, और इसलिए उन्हें अति साधारण बातों, प्रारंभिक बात को भी सीखने में, उदाहरण के लिए, साफ रहना सीखने में कई वर्ष लग जाते हैं।

यह सत्य है कि अधिकतर तो माता–पिता यह सब नहीं सिखाते क्योंकि वह स्वयं इसे नहीं जानते! कारण, उन्हें भी यह सब सिखाने वाला कोई न था। अतएव वे भी कुछ नहीं जानते...। यह जानने के लिए कि जीवन को कैसे जीना चाहिए, वे स्वयं ही उम्र–भर अँधेरे में टटोलते रहते हैं। इसलिए स्वभावतया वे तुम्हें जीना सिखाने में असमर्थ हैं, क्योंकि वे स्वयं ही नहीं जानते। पर यदि तुम्हें यह स्वयं सीखना पड़े तो वर्षों के अनुभव से ही तुम अति साधारण सीख सकोगे, और तभी तुम्हें उस विषय पर सोचना होगा। यदि न सोचो तो कभी न सीख सकोगे।

ठीक ढंग से जीना एक कठिन कला है, और यदि व्यक्ति बहुत छोटी उम्र से ही सीखना और प्रयत्न करना शुरू नहीं करता तो वह उसे भली प्रकार कभी नहीं सीख सकता। अपने शरीर को स्वस्थ और मन को शांत रखने और हृदय में सद्भावना संजोने की कला संतोषजनक ढंग से जीने के लिए अति आवश्यक

है। (मैं आराम से या किसी विशेष ढंग से जीने की बात नहीं कर रही, मैं केवल संतोषजनक ढंग से जीने की बात कर रही हूं) हां, तो, मेरे विचार में, ऐसे व्यक्ति बहुत नहीं हैं जो बच्चों को यह बात सिखाने की परवाह करते हैं।[२]

"बच्चों को तो सभी कुछ सीखना है। यही उनका मुख्य काम होना चाहिये ताकि वे अपने–आपको उपयोगी और सृजनशील जीवन के लिए तैयार करें।

साथ–ही–साथ, जैसे–जैसे वे बड़े होते जायें, उन्हें अपने अंदर खोज करनी चाहिये कि वह चीज या चीजें कौन–सी हैं जिनमें वे सबसे ज्यादा रुचि लेते हैं और जिन्हें वे अच्छे ढंग से कर सकते हैं। सुप्त क्षमताएं होती हैं जिन्हें विकसित करना चाहिए। ऐसी क्षमताएं भी होती हैं जिन्हें खोजा जा सकता है।

बच्चों में कठिनाइयों पर विजय पाने की चाह जगानी चाहिए और यह भी कि यह (विजय) जीवन को विशेष मूल्य देती है; जब व्यक्ति ऐसा करना जान ले तो वह सदा के लिए अवसाद का नाश कर देता है और जीवन में नयी रुचि पैदा कर देता है।

हम प्रगति करने के लिए धरती पर हैं और हमें सब कुछ सीखना है।[३]

हम हर क्षण कैसे सीख सकते हैं?

अगर तुम अपने–आपसे कहो : "हम संसार में भागवत संकल्प–को प्रकट करने के लिए यथासंभव पूर्ण यंत्र बनना चाहते हैं," तो इस यंत्र को पूर्ण बनाने के लिए इसका परिष्कार करना होगा; शिक्षा और प्रशिक्षण देना होगा। इसे एक अनगढ़े पत्थर के टुकड़े की तरह नहीं छोड़ा जा सकता। जब तुम पत्थर से कुछ बनाना चाहो तो उस पर छैनी चलानी पड़ती है, जब तुम एक रूपहीन ढेले में से सुन्दर हीरा बनाना चाहो तो उसे तराशना पड़ता है। हां, तो यहां भी वही बात है। जब तुम अपने शरीर और मस्तिष्क से भगवान् के लिए एक सुन्दर यंत्र बनाना चाहते हो तो उसका परिष्कार करना होगा, उसे सूक्ष्म बनाना होगा, जो कमी है उसे पूरा करना और जो है उसे पूर्ण बनाना होगा।

उदाहरण के लिए, तुम अपनी कक्षा में जाते हो। अगर तुम बहुत अच्छी मनोवृत्ति में नहीं हो तो तुम कहते हो : "आह, कितनी नीरस होगी कक्षा!" मान

---

२. मातृवाणी भाग ९. पृ. १५१–१५२ (साथ ही : एजूकेशन भाग २, पृष्ठ १६५–६६)

३ मातृवाणी भाग–१२, पृ ३३६

लो कि कोई ऐसा अध्यापक है जो तुम्हें रिझाना नहीं जानता (हो सकता है कि कोई बहुत अच्छा अध्यापक हो पर तुम्हें बहलाना न जानता हो, यह हमेशा आसान नहीं होता। ऐसे दिन होते हैं जब विनोद करने की इच्छा नहीं होती), तुम विद्यालय में नहीं, कहीं और रहना चाहोगे।..... फिर भी तुम विद्यालय जाते हो, तुम इस तरह जाते हो क्योंकि तुम्हें जाना चाहिये, अगर तुम अपनी सनक के अनुसार चलो तो तुम्हें कभी अपने ऊपर अधिकार न होगा। तुम्हारी सनकें ही तुम्हारे ऊपर अधिकार रखेंगी। तुम अपने–आपको वश में न रखोगे। तुम अपनी कक्षा में जाते हो लेकिन यह कहने की जगह : "हाय, कैसी ऊब आयेगी, कक्षा जरा भी मजेदार न होगी," आदि–आदि, तुम कहो : "अगर जीवन में एक भी क्षण ऐसा नहीं है, एक भी परिस्थिति ऐसी नहीं है जो प्रगति का अवसर न देती हो तो आज मैं कौन–सी प्रगति करने वाला हूं ?– मैं अपने छोटे–से व्यक्तित्व को पूरी तरह भगवान् के अर्पण करता हूं। मैं चाहता हूं कि यह उनका यंत्र बन सके जिसके द्वारा वे अपने–आपको अभिव्यक्त कर सकें, कि एक दिन मैं रूपांतर के लिए तैयार हो जाऊं। आज मैं क्या करने वाला हूं? मैं कक्षा में जा रहा हूं। यह ऐसा विषय है जिसके लिए मुझे उत्साह नहीं है, लेकिन अगर मैं इस काम में रस लेना नहीं जानता तो शायद इसलिए कि मेरे अंदर कुछ कमी है, क्योंकि मेरे दिमाग में कहीं पर कुछ कोषाणुओं की कमी है। अगर ऐसी बात है तो मैं पता लगाने की कोशिश करूंगा। मैं अच्छी तरह सुनूंगा। अच्छी तरह ध्यान दूंगा और उससे भी बढ़कर, अपने अंदर से इस तरह के छिछोरेपन को निकाल बाहर करूंगा। इस बाहरी हल्केपन को निकाल दूंगा जो, जब मैं किसी बात को पकड़ नहीं पाता तो, मुझे उबा देता है। मैं क्यों ऊब जाता हूं ? – क्योंकि मैं प्रगति नहीं करता।" जब तुम प्रगति नहीं करते तो ऊब जाते हो– बूढ़े और जवान सभी– क्योंकि हम यहां, धरती पर प्रगति करने के लिए आये हैं। अगर हम हर मिनट अच्छी तरह प्रगति नहीं करते तो यह सचमुच उबाने वाली बात है, नीरस है, यह हमेशा सुखकर नहीं होती, यह अच्छी तो बिलकुल नहीं है। "तो आज मैं यह पता लगा लूंगा कि मैं इस कक्षा में क्या प्रगति कर सकता हूं, कोई ऐसी चीज है जिसे मैं नहीं जानता, जो मैं सीख सकता हूं।"

अगर तुम सीखना चाहो तो हर क्षण सीख सकते हो। मैंने तो छोटे बच्चों की बकबक से भी कुछ सीखा है। हर क्षण कुछ हो सकता है, कोई तुमसे कोई

ऐसा शब्द कह सकता है, कोई बेवकूफ भी ऐसी बात कह सकता है जो तुम्हें किसी ऐसी चीज की ओर खोल दे जो तुमसे प्रगति करवाये। और तब, यदि तुम जान सको, जीवन कितना मजेदार हो उठता है! अब तुम उकताते नहीं हो, हर चीज मजेदार हो उठती है। हर चीज अद्‌भुत होती है– क्योंकि तुम हर क्षण सीखते हो, हर कदम पर तुम प्रगति करते हो। उदाहरण के लिए, तुम रास्ते पर हो। वहां यूं ही होने की जगह, यह जाने बिना कि तुम क्या कर रहे हो, अगर तुम इधर–उधर देखो और निरीक्षण करो...। मुझे याद है जब मुझे इस तरह कुछ खरीदने के लिये, किसी से मिलने के लिये, कुछ सौदा–सुलुफ करने के लिए सड़क पर जाना पड़ता था– क्यों जाना पड़ता था इसका कोई महत्त्व नहीं है; सचमुच, सड़क पर जाना हमेशा मजेदार नहीं होता लेकिन अगर तुम निरीक्षण करना शुरू करो कि यह आदमी कैसे चलता है, वह कैसे गति करता है, यह प्रकाश उस चीज पर कैसा रंग लाता है, यह छोटा–सा पेड़ वहां के भू–दृश्य को कैसे सुंदर बना देता है, सैकड़ों चीजें कैसे चमकती हैं... तो तुम हर क्षण कुछ सीख सकते हो। तुम केवल सीख ही नहीं सकते...। मुझे याद है, एक बार सड़क पर चलते–चलते मुझे एक प्रकार का प्रबोध मिला था क्योंकि मेरे सामने एक स्त्री चल रही थी और वह सचमुच चलना जानती थी। वह कैसी सुन्दर चाल थी, उसकी गति भव्य थी! मैंने उसे देखा और देखते ही अचानक मैंने यूनानी संस्कृति का पूरा प्रारंभ देख लिया, किस तरह यह सारे रूप सौंदर्य को अभिव्यक्त करने के लिए धरती पर उतरते हैं– केवल इसी कारण कि एक स्त्री चलना जानती थी! समझे, इस तरह सभी चीजें मजेदार बन सकती हैं। तो इस तरह कक्षा में जाकर मूर्खता–भरी चीजें करने की जगह (मैं आशा करती हूं, तुममें से कोई ऐसा न करता होगा, मुझे विश्वास है कि वे सब जो यहां मेरी कक्षा के लिए आते हैं वे कभी विद्यालय में जाकर मूर्खता–भरी चीजें न करेंगे; अपवाद ही नियम का प्रमाण देते हैं : फिर भी मैं जानती हूं कि दुर्भाग्यवश बहुत–से वहां जाकर खोज–खोजकर हर संभव मूर्खता–भरी चीज करते हैं)। हां, तो उसकी जगह, यदि तुम कक्षा में प्रगति करने के लिए, हर रोज एक नयी प्रगति करने के लिए जा सको – भले वह यह जानने के लिए ही हो कि तुम्हें अपने अध्यापक क्यों उबा देते हैं– तो यह अद्‌भुत बात होगी, क्योंकि अचानक वह तुम्हें उबाने वाले न रह जायेंगे। अचानक तुम देखोगे कि वे बहुत मजेदार हैं! बात ऐसी ही है।

अगर तुम जीवन को इस तरह देखो तो जीवन एक बहुत अद्भुत चीज बन जाता है। उसे मजेदार बनाने का यही तरीका है। धरती पर जीवन प्रगति के क्षेत्र के रूप में बनाया गया है और यदि हम अधिक–से–अधिक प्रगति करें तो धरती के जीवन से अधिक–से अधिक लाभ उठा सकेंगे। और तब तुम प्रसन्न होते हो। जब आदमी जो कर सकता है उसमें अच्छे–से–अच्छा करे तो वह प्रसन्न होता है।[४]

हम पढ़ाई क्यों करें?

पढ़ाई मन को मजबूत बनाती है और उसकी एकाग्रता को प्राण के आवेगों और कामनाओं से हटाती है। मन और प्राण पर काबू पाने के तरीकों में से पढ़ाई–लिखाई पर एकाग्र होना एक बहुत शक्तिशाली तरीका है; इसीलिए पढ़ना–लिखना इतना जरूरी है।[५]

नियमित और सुव्यवस्थित ढंग से पढ़कर अपने मस्तिष्क से काम करवाओ; तब उन घंटों में जब तुम पढ़ न रहे होगे, तुम्हारा मस्तिष्क काफी काम कर चुकने के कारण आराम कर सकेगा और तुम्हारे लिये यह संभव होगा कि अपने हृदय की गहराई में एकाग्र हो सको और वहां चैत्य स्रोत को पा सको; वहां तुम कृतज्ञता और सच्चे सुख, दोनों के बारे में सचेतन हो सकोगे।[६]

जब तक तुम्हें अपने–आपको गठित करने की जरूरत है, अपने मस्तिष्क का निर्माण करने की जरूरत है तब तक तुम्हें अध्ययन के लिए इस आवेग का अनुभव होता रहेगा; लेकिन जब मस्तिष्क भली–भांति बन चुकेगा तो धीरे–धीरे अध्ययन के लिए रुचि भी कम हो जायेगी।[७]

यदि अंततोगत्वा, प्रगति सीखी हुई बातों को भूलने में है, तब फिर सीखने की क्या उपयोगिता है?

यह वही बात है जो विशेष व्यायामों (जिम्नास्टिक्स) की है। तुम अपने शरीर को गढ़ने और बलवान् बनाने के लिए नाना प्रकार की क्रियाएं करते हो, पर इसका अर्थ यह नहीं होता कि तुम अपना सारा जीवन भारोत्तोलन और

---

४. मातृवाणी भाग–६. पृ. ४७–51 (साथ ही एजूकेशन भाग २. पृष्ठ ५५१–५५३.

५. मातृवाणी भाग–12. पृ. 133

६. मातृवाणी भाग–12. पृ. 134

७. मातृवाणी भाग–12. पृष्ठ 138

'पैरेलेल बार' की कसरतों में ही बिता दोगे। तुम एक मन–बहलाव के रूप में, एक पेशे के रूप में, उसे करना जारी रख सकते हो, परंतु निश्चय ही वह तुम्हारा परम लक्ष्य नहीं है। मन के साथ भी यही बात है। प्रगति करने की क्षमता रखने वाला, नवीन जीवन– के साथ अपना मेल बैठा लेने वाला, उच्चतर शक्तियों की ओर उद्घाटित होने वाला मन प्राप्त करने के लिए उसे सब प्रकार की कसरतें करानी चाहिये। यही कारण है कि बच्चों को स्कूल भेजा जाता है, इसलिए नहीं भेजा जाता कि वे जो कुछ सीखेंगे, वह सब याद रखेंगे–सीखी हुई बातें किसे याद रहती हैं? जब वे बाद में दूसरों को पढ़ाने के लिए बाध्य होते हैं, उन्हें उन सब चीजों को फिर से सीखना पड़ता है, वे प्रत्येक चीज भूल चुके होते हैं। वे चीजें शीघ्र ही आ जाती हैं, परन्तु वे उन्हें भूल चुके होते हैं। परंतु वे यदि पाठशाला कभी न गये होते, यदि उन्होंने कभी न सीखा होता और प्रत्येक चीज उन्हें आरंभ करनी होती... जब तुम पैंतालीस वर्ष की उम्र में 'पैरेलेल बार' करना आरंभ करते हो तो उससे कष्ट होता है, होता है न? बस, मस्तिष्क के विषय में भी यही बात है, उसमें नमनीयता की कमी आ जाती है। क्या तुम जानते हो कि सबसे उत्तम व्यायाम कौन–सा है ? वह है, नित्य किसी तत्त्वदर्शी के साथ बातचीत करना क्योंकि वहां ठोस कोई वस्तु नहीं है, तुम किसी ऐसी वस्तु पर एकाग्र नहीं हो सकते जिसका कोई आकार हो, कोई बाह्य सत्य हो; निस्संदेह, वहां प्रत्येक बात कल्पना के राज्य में ऐकांतिक रूप से शब्दों के द्वारा चलती है, यह शुद्ध रूप में मानसिक व्यायाम है। और तुम यदि किसी तत्त्व दर्शी की मानसिक रचना के अंदर प्रवेश कर सको और उसकी बात समझ सको और उसे उत्तर दे सको तो यह पूर्ण व्यायाम है ![८]

कर्म में आनन्द का क्या रहस्य है?

"अगर तुम्हें काम नापसन्द है तो तुम जीवन में हमेशा दुःखी रहोगे।

जीवन में सचमुच सुखी होने के लिए काम पसन्द करना चाहिए ![९]"

बच्चों को स्वतंत्रता के सदुपयोग के लिए कैसे तैयार करें?

"बच्चों को तो सभी कुछ सीखना है। यही उनका मुख्य काम होना चाहिये ताकि वे अपने–आपको उपयोगी और सृजनशील जीवन के लिए तैयार करें।

---

८ मातृवाणी–४, पृ. २०३–२०४ (साथ ही : एजूकेशन भाग २, पृष्ठ १४८–१४९)

९ मातृवाणी भाग–१२, पृ ३३९

साथ–ही–साथ, जैसे–जैसे वे बड़े होते जायें, उन्हें अपने अन्दर खोज करनी चाहिये कि वह चीज या चीजें कौन–सी हैं जिनमें वे सबसे ज्यादा रुचि लेते हैं और जिन्हें वे अच्छे ढंग से कर सकते हैं। सुप्त क्षमताएं होती हैं जिन्हें विकसित करना चाहिये। ऐसी क्षमताएं भी होती हैं जिन्हें खोजा जा सकता है।

बच्चे में कठिनाइयों पर विजय पाने की चाह जगानी चाहिये और यह भी कि यह (विजय) जीवन को विशेष मूल्य देती है; जब व्यक्ति ऐसा करना जान ले तो वह सदा के लिए अवसाद का नाश कर देता है और जीवन में नयी रुचि पैदा कर देता है।

हम प्रगति करने के लिए धरती पर हैं और हमें सब कुछ सीखना है।"[10]

क्या केवल असाधारण बच्चों को स्वतंत्रता देनी चाहिए?

मैंने चुनाव की स्वतंत्रता असाधारण छात्रों को देने की बात इसलिए कही है कि यदि सचमुच तुम पूर्णतः विकसित होने में उनकी मदद करना चाहो तो उनके लिए यह नितांत अपरिहार्य है।

निस्संदेह, तुम सभी बच्चों को चुनाव की स्वतंत्रता दे सकते हो और यह उनके यथार्थ स्वभाव को जानने का एक अच्छा साधन है; पर उनमें से अधिकतर आलसी और पढ़ाई में कम रुचि रखने वाले होंगे। लेकिन, दूसरी ओर, हो सकता है कि वे हाथ के काम में दक्ष हों और स्वेच्छा से उन वस्तुओं को बनाना सीखें। इसे भी प्रोत्साहन मिलना चाहिये। इस तरह बच्चे समाज में अपना ठीक–ठीक स्थान खोज पायेंगे और जब बड़े होंगे तो उस स्थान को भरने के लिए तैयार होंगे।

सभी को यह सिखाना चाहिये कि वे जो कुछ करें अच्छी तरह करने के आनंद से करें, चाहे वह बौद्धिक काम हो या कलात्मक या शारीरिक, और विशेषकर यह सिखाना चाहिये कि काम कैसा भी क्यों न हो, यदि उसे यत्न और कुशलता से किया जाये तो उसकी अपनी गरिमा है।"[11]

---

१०. मातृवाणी भाग–१२– पृ–[illegible]

११. मातृवाणी भाग–१२, पृ–[illegible]

"मैं जिस स्वतंत्रता की बात करती हूं वह है आत्मा के संकल्प का अनुसरण करने की स्वतंत्रता, मानसिक और प्राणिक सनकों और कल्पनाओं पर चलने की स्वतंत्रता नहीं।

मैं जिस स्वतंत्रता की बात करती हूं वह है आडंबरहीन सत्य जो निम्नतर, अज्ञानमय सत्ता की सभी दुर्बलताओं और इच्छाओं पर विजय प्राप्त करने की प्रवृत्ति रखता है।

मैं जिस स्वतंत्रता की बात करती हूं वह है व्यक्ति की अपनी उच्चतम श्रेष्ठतम और द्वित्यतम अभीप्सा के प्रति पूर्ण और निःशेष भाव में निवेदित करने की स्वतंत्रता।

तुम में से कौन इस मार्ग का सच्चे दिल से अनुसरण करता है? मत बना लेना तो सरल है, किंतु बात को समझना अधिक कठिन है और चरितार्थ करना तो इससे भी कहीं अधिक कठिन है।"[१२]

---

१२. मातृवाणी भाग–१२ पृ.–३६२–३६३

विद्यार्थियों की प्रगति एवं उनकी उपलब्धि में वृद्धि

विद्यार्थियों का कक्षा में क्या भाव होना चाहिए?

मेरे प्रिय बच्चो, मैंने तुम्हारी चिट्ठी पढ़ी और मैं इस बात से सहमत हूं कि साल के अंत में तुम यह सब चीजें खूब अच्छी तरह जानो जो तुमने यहां लिखी हैं (भाषाएं, गणित आदि)।

लेकिन एक बात पर मैं तुम्हारा ध्यान खींचना चाहती हूं, क्योंकि यह केंद्रीय और सबसे महत्त्वपूर्ण बात है: वह है कक्षा में तुम्हारी वृत्ति और वह मनोदशा जिसमें तुम स्कूल जाते हो।

कक्षा में अपनी दैनिक उपस्थिति का लाभ उठाने के लिए, तुम्हें वहां सीखने, सतर्क और एकाग्र होने, अध्यापक जो कहते हैं उन पर कान देने और गंभीरता तथा शांति के साथ काम करने की सच्ची इच्छा लेकर जाना चाहिये।

अगर तुम अपना समय चिल्लाने में, विक्षुब्ध होने में और निश्चेतन तथा असभ्य बच्चों की तरह सब कुछ उलट–पुलट देने में बिताते हो, तो तुम अपना समय बरबाद करते हो, अध्यापक का समय नष्ट करते हो और कुछ भी नहीं सीखते। साल के अंत में तुमसे यह कहने के लिए बाधित होऊंगी कि तुम खराब विद्यार्थी हो और तुम एक कक्षा से दूसरी में जाने के योग्य नहीं हो।

तुम्हें कक्षा में सीखने की इच्छा के साथ आना चाहिये, अन्यथा यह समय नष्ट करना है, क्योंकि अगर तुममें एक भी असभ्य हो तो वह बाकी सबको परेशान करने के लिए पर्याप्त है। मैं चाहती हूं कि तुम यह निश्चय करो : तुम अच्छे, शांत, सतर्क बच्चे बनोगे, और अच्छी तरह काम करोगे।[१३]

मैं विद्यार्थियों को सीखने में किस तरह सहायता कर सकता हूं?

सारा प्रश्न यह है कि क्या विद्यार्थी अपना ज्ञान बढ़ाने और अच्छी तरह रहने के लिये, जो जानना जरूरी है उसे सीखने के लिए विद्यालय जाते हैं– या वे दिखावा करने के लिए और अच्छे अंक लेने के लिए विद्यालय जाते हैं ताकि वे इस बारे में घमंड छांट सकें।[१४]

---

१३. मातृवाणी भाग–१२, पृष्ठ –३७०.
१४. मातृवाणी भाग–१२, पृ–१२६

"सच्ची बुद्धिमत्ता है किसी भी स्रोत से आने वाले ज्ञान को सीखने के लिए तैयार रहना।

हम फूल से, पशु से, एक बच्चे से चीजें सीख सकते हैं बशर्ते कि हम हमेशा अधिक जानने के लिए उत्सुक हों क्योंकि संसार में केवल एक ही 'शिक्षक' है—परम प्रभु—और वे हर चीज में से अभिव्यक्त होते हैं।"[१५]

क्या काम का कम बोझ विद्यार्थियों के लिए अच्छा रहेगा?

"इसे सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता, उनमें से बहुतों के लिये यह विशेष उपयोगी न होगा। वे उस स्थिति तक नहीं पहुंचे हैं कि पढ़ने के विषय कम हों तो अमुक विषयों पर ज्यादा एकाग्र हो सकें। परिणाम यही होगा कि उनमें ढीले पड़ने की वृत्ति बढ़ेगी— और यह एकाग्र होने से एकदम उल्टा है! — और इससे समय बरबाद होगा।

समाधान इसमें नहीं है। तुम्हें करना यह चाहिये कि विद्यार्थी जो भी कर रहे हों उसमें रस लेना सिखाओ— यह विद्यार्थियों की रुचिकर चीज करने के समान नहीं है! तुम्हें उनके अन्दर ज्ञान और प्रगति के लिए इच्छा जगानी चाहिए। तुम किसी भी काम में, उदाहरण के लिये, कमरे में झाड़ू लगाने में—रस ले सकते हो, बशर्ते कि तुम एकाग्रता के साथ करो, अनुभव प्राप्त करने के लिये, प्रगति करने और अधिक सचेतन होने के लिये करो। मैं प्रायः यह बात उन विद्यार्थियों से कहा करती हूं जो यह शिकायत करते हैं कि उनका अध्यापक अच्छा नहीं है। भले उन्हें अध्यापक पसंद न हो, भले वह बेकार बातें किया करता हो, भले वह ठीक स्तर का न हो, फिर भी, वे अपनी कक्षा में कुछ लाभ उठा सकते हैं : कोई बहुत मजेदार चीज सीख सकते हैं और चेतना में प्रगति कर सकते हैं।

अधिकतर अध्यापक *अच्छे विद्यार्थी* पाना चाहते हैं, ऐसे विद्यार्थी चाहते हैं जो अध्ययनशील, ध्यान देने वाले हों, बात समझते हों : बहुत सारी चीजें जानते हों और अच्छे उत्तर दे सकते हों— यानी, अच्छे विद्यार्थी हों। इससे सब कुछ बिगड़ जाता है। विद्यार्थी पढ़ने और सीखने के लिए किताबें देखना शुरू करते हैं और केवल दूसरों की कही और पुस्तकों में पढ़ी चीजों पर ही निर्भर रहते हैं,

---

१५. मातृवाणी भाग–१२, पृ.–१२९

और उस अतिचेतन भाग से संपर्क खो बैठते हैं जो अंतर्भास के द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। प्रायः छोटे बच्चों में यह संपर्क रहता है, परंतु पढ़ाई की प्रक्रिया में खो जाता है।

विद्यार्थी इस तरह की ठीक दिशा में प्रगति कर सकें इसके लिए स्पष्ट है कि अध्यापक इस बात को समझें और देखने तथा पढ़ाने के अपने पुराने तरीके बदलें। उसके बिना, मेरा काम अटका हुआ है।[१६]

मैं विद्यार्थियों की क्षमताओं को उत्तम कैसे बनाऊं?

"अच्छी क्षमता वाले विद्यार्थियों के लिए, अपने विषय का अच्छा जानकार, एक अध्यापक काफी है– बल्कि एक अच्छी पाठ्य–पुस्तक जिसके साथ विश्व–कोश तथा अन्य कोश हों, काफी है। लेकिन जैसे–जैसे तुम नीचे उतरते हो और विद्यार्थियों की क्षमता कम होती जाती है, वैसे–वैसे अध्यापक की क्षमता अधिकाधिक होनी चाहिये : अनुशासन, आत्म–संयम, समर्पण–भाव, मनोवैज्ञानिक समझ, संक्रामक उत्साह, विद्यार्थियों में सोये हुए भाग–जानने की इच्छा, प्रगति की आवश्यकता, आत्मसंयम आदि–को जगाने की क्षमता।

जैसे हम विद्यालय की व्यवस्था इस तरह करते हैं कि विशिष्ट छात्रों की खोज कर सकें और उनकी सहायता कर सकें, उसी तरह, कक्षाओं की जिम्मेदारी विशिष्ट अध्यापकों को देनी चाहिये।

अतः मैं हर अध्यापक से मांग करती हूं कि वह अपने विद्यालय के काम को अपनी योग–साधना का सर्वोत्तम द्रुततम मार्ग समझे। और फिर, प्रत्येक कठिनाई और प्रत्येक कठिन विद्यार्थी उसके लिए समस्या का दिव्य समाधान पाने का अवसर हो।"[१७]

मध्यम श्रेणी के कार्य का क्या कारण है?

साधारण औसत दर्जे के कार्य का कारण न तो विविधता है, न ही कार्यों की अधिकता, कारण है एकाग्रता की शक्ति का अभाव।

व्यक्ति को एकाग्र होना सीखना चाहिये और उसे सभी कार्य पूर्ण एकाग्रता के साथ करने चाहिये।[१८]

---

१६. मातृवाणी भाग–१२, पृ–१७१
१७ मातृवाणी भाग–१२, पृ–१७३–१७४
१८. मातृवाणी भाग–१२, पृ–२८१

हम पढ़ाई के प्रति अनियमित हैं तो क्या करें ?

अपने 'तमस' को थोड़ा हटा दो, अन्यथा तुम मूर्ख–के–मूर्ख रह जाओगे।[१९]

क्या विद्यार्थियों को गृहकार्य देना चाहिए?

मैं इससे सहमत नहीं हूं कि बच्चों को घर पर काम करना चाहिए। उन्हें घर पर जो इच्छा हो वह करने के लिए स्वतंत्र होना चाहिए।[२०]

यह निश्चय बच्चों और उनके मां–बाप से इस प्रकार की बहुत–सी शिकायतें पाने के बाद किया गया है कि गृहकार्य के कारण बच्चे बहुत देर में सोते हैं और काफी न सो पाने के कारण बच्चे थके–थके रहते हैं।

मैं जानती हूं कि इन सब शिकायतों में अतिशयोक्ति है, लेकिन वे इस बात की सूचक भी हैं कि इस रूढ़ि में कुछ प्रगति करना जरूरी है।

इस योजना को समस्त ब्योरों में लोच और नमनीयता के साथ हल करने की जरूरत है।

मैं सभी बच्चों को एक ही तरह हांकने के पक्ष में नहीं हूं; इससे एक तरह का एकरूप स्तर बन जाता है जो पिछड़े हुए विद्यार्थियों के लिए तो लाभदायक होता है पर उनके लिए हानिकर होता है जो सामान्य ऊंचाई से ऊपर उठ सकते हैं।

जो सीखना और काम करना चाहते हैं उन्हें प्रोत्साहन देना चाहिए। लेकिन जो पढ़ना–लिखना नहीं चाहते उनकी शक्ति किसी और दिशा में मोड़नी चाहिये।[२१]

विद्यार्थियों को गृह–कार्य कैसे दिया जाये?

वे सभी अध्यापक जो विद्यार्थियों के एक दल को पढ़ाते हों, आपस में एकमत होकर कार्य दें ताकि विद्यार्थियों पर काम का भार अधिक न हो जाये और वे आराम तथा विश्रांति पा सकें जो अनिवार्य है।

---

१९. मातृवाणी भाग–१२, पृ–३९७
२०. मातृवाणी भाग–१२, पृ–२००
२१. मातृवाणी भाग–१२, पृ–२००

रही बात विषयों की, तो ऐसे विषय चुनना अनिवार्य है जो उनकी निजी अनुभूतियों से मेल खाते हों और इस तरह आत्मावलोकन, निरीक्षण और व्यक्तिगत प्रभावों के विश्लेषण को प्रोत्साहित करें।[२२]

विद्यार्थियों को छुट्टियों में क्या करना चाहिए?

"यह कोई रोचक काम करने का, कुछ नया सीखने का या अपने स्वभाव या पढ़ाई में किसी कमी को सुधारने-सँवारने का बहुत अच्छा अवसर है।

यह किसी काम का स्वतंत्र चुनाव करने का और इस तरह अपनी सत्ता की सच्ची क्षमताओं को खोजने का बहुत अच्छा मौका है।[२३]

विद्यार्थियों में रुचि कैसे पैदा की जाय?

विद्यार्थियों का उत्साह अध्यापक की सच्ची योग्यता के अनुपात में ही होता है।[२४]

अध्यापकों को आवश्यक चेतना में विकसित होना चाहिये, काम के वास्तविक अनुभव पर जोर होना चाहिये और बच्चे के मन में खेल और काम के बीच कोई फर्क न होना चाहिये– सब कुछ रुचिमय हो रस से भरपूर। अध्यापक का काम है ऐसी रुचि उत्पन्न करना।

अगर रुचि है तो काम ठीक होगा ही।[२५]

तुम पढ़ाई में काफी समय नहीं लगाते, इसलिए तुम्हें मजा नहीं आता। आदमी सावधानी के साथ जो भी करे वह निश्चय ही मजेदार हो जाता है।[२६]

क्या पढ़ाई में रुचि पैदा करने के लिए पुरस्कार देना चाहिए?

"यह तो स्पष्ट है कि बच्चों के लिए यह श्रेयस्कर होगा कि वे अपनी चेतना के विकास के लिए अध्ययन करें और उन विषयों के बारे में सीखें जिन्हें वे नहीं जानते; लेकिन उन्हें पुरस्कार देने में कोई हर्ज नहीं जो विशेष रूप से अध्ययनशील, अनुशासन में रहने वाले और काम में एकाग्र रहे हों।[२७]

---

२२. मातृवाणी भाग–१२, पृ.–३८९
२३. मातृवाणी भाग–१२, पृ.–३५८
२४. मातृवाणी भाग–१२ पृ. ३८९
२५. मातृवाणी भाग–१२, पृ.–९८६
२६. मातृवाणी भाग–१२, पृ–१३३
२७. मातृवाणी भाग–१२, पृ.–३६६

सीखने की कठिनाइयों के साथ कैसे पेश आएं?

छोटे बच्चों के साथ बहुत धीरज होना चाहिए और एक ही बात बार–बार दोहराते जाओ, तरह–तरह से समझाते जाओ। धीरे–धीरे वह उनके मन में प्रवेश करेगी।[२८]

क्या विद्यार्थियों को पढ़ाई के अलावा कुछ और भी करना चाहिए?

कोई और काम? यह तुम्हारे ऊपर निर्भर है। यह प्रत्येक व्यक्ति पर निर्भर करता है और इस पर कि वह क्या चाहता है। यदि तुम साधना करना चाहते हो, तो स्पष्ट ही तुम्हें कम–से–कम, आंशिक रूप में ही सही, कोई ऐसा काम करना चाहिये जिसमें तुम्हारा स्वार्थ न हो, दूसरे शब्दों में, जो केवल अपने लिए ही न किया गया हो। अध्ययन करना तो बहुत ठीक है, यह अत्यन्त आवश्यक है, बल्कि अनिवार्य है, किंतु यह उस शिक्षा का केवल एक अंग है जिसके विषय में मैं अभी कुछ देर पहले तुम्हें बता रही थी तथा जिसे तुम्हें अपनी छोटी अवस्था से ही पाना चाहिये। कारण, जब तुम बड़े हो जाते हो तो यह सब सीखना कहीं अधिक कठिन हो जाता है– किंतु एक ऐसी आयु होती है जब कि वह आवश्यक अध्ययन कर सकता है जो उसके अंदर नींव का काम करता है, साथ ही, यदि व्यक्ति साधना करना चाहता है तो उसे कोई ऐसा काम भी करना चाहिये, जिसमें उसका केवल निजी हेतु ही न हो। कुछ निःस्वार्थ काम भी करना चाहिये, क्योंकि यदि वह पूर्णतया अपने में ही व्यस्त रहेगा तो वह कछुए के समान एक प्रकार से अपने ही खोल में बंद रहेगा और वैश्व शक्तियों के प्रति नहीं खुलेगा। एक छोटी–सी निःस्वार्थ क्रिया, एक छोटा–सा कार्य जिसमें व्यक्ति का अपना कोई अहंभावयुक्त हेतु नहीं होता, एक ऐसी वस्तु के लिए द्वार खोल देता है जो उसके अपने क्षुद्र और छोटे–से व्यक्तित्व से एकदम अलग है।

व्यक्ति साधारणतया अपने घोंघे में ही बन्द रहता है, और वह दूसरे घोंघों के बारे में तभी जानता है जब उसे कोई आघात लगे या संघर्ष हो।[२९]

भारतीय मनोविज्ञान के मूल तत्त्व तीन हैं :– तम रज और सत्व। तम् का

२८. मातृवाणी भाग–१२ पृ.–१३५
२९. मातृवाणी भाग–६. पृ.– १५१–१५२

सार तत्त्व है जड़ता व अज्ञान, रज का आवेग, इच्छायें और ऊर्जा जबकि सत्व गुण का सार तत्व है प्रकाश एवं समत्व।[30]

अनुपात का बहुत महत्त्व है, तीन गुणों का यह अनुपात (तुम इन तीन गुणों को जानते हो?) प्रकृति में तीन गुणों का अनुपात। और व्यक्ति को इसकी जानकारी होनी चाहिये कि उसके अपने अंदर का यथार्थ अनुपात क्या है और किस तरह एक गुण का दूसरे के विरोध करने में उपयोग करना चाहिये, इत्यादि। लेकिन एक ऐसा क्षण होता है जब व्यक्ति को अमुक संतुलन पर पहुंच जाना चाहिए, और फिर उसे थोड़ी स्थिरता से अपने अंदर स्थापित करने में और छेदों में गिरे बिना या भयंकर चीजों के साथ लड़े बिना जीवन का सामना करने में समर्थ होना चाहिए। उस क्षण से सब कुछ ठीक चलता है।[31]

एक विद्यार्थी किसी विषय में श्रेष्ठता कब पा सकता है?

किसी विषय के विस्तृत और गहरे अध्ययन की उचित उम्र बच्चे पर और उसकी सीखने की क्षमता पर निर्भर है।

जल्दी ही बड़े हो जाने वाले बारह वर्ष की उम्र में आरंभ कर सकते हैं। अधिकतर बच्चे शायद पन्द्रह वर्ष की उम्र में आरंभ करें, सत्रह या अठारह में भी हो सकता है।

और जब कोई एक विषय पर प्रभुत्व पाना चाहता है, विशेषकर वैज्ञानिक या दार्शनिक विषय में, तो उसे जीवन-भर सीखने के लिए तैयार रहना चाहिये; अध्ययन कभी बंद नहीं होना चाहिये।[32]

विद्यार्थियों का आचरण

अनुशासन का कितना महत्व है?

"मनुष्य होने के लिए अनुशासन अनिवार्य है। अनुशासन के बिना तुम जानवर के सिवा कुछ नहीं हो। मैं तुम्हें दो सप्ताह देती हूं ताकि तुम यह दिखा सको कि तुम सचमुच बदलना चाहते हो और नियंत्रण में रहना चाहते हो। अगर

---

३०. भारतीय मनोविज्ञान के तीन सिद्धान्त तमस, रजस और सत्व। तमस जड़ता और अस्पष्टता का रजस मनोवेग, कामना और गतिशीलता का तथा सत्व प्रकाश और सन्तुलन का सिद्धान्त है।

३१. मातृवाणी, भाग-६, पृ.- ४१४-१५ (साथ ही पंचविध शिक्षा, पृष्ठ ३५-३६)

३२. मातृवाणी भाग-१२, पृ.-३७४

तुम नियंत्रित और आज्ञाकारी बनना चाहते हो तो मैं तुम्हें एक और अवसर देने के लिए तैयार हूं। लेकिन धोखेबाजी की कोशिश मत करो...। कपट का जरा–सा भी चिह्न दिखायी दिया तो मुझे तुम्हें भेज देना पड़ेगा।

व्यक्ति आदमी बनना तभी शुरू करता है जब वह उच्चतर और सत्यतर जीवन के लिये अभीप्सा करना शुरू करता है और रूपांतर का अनुशासन स्वीकार करता है।

इसके लिये तुम्हें अपनी निम्नतर प्रकृति और अपनी कामनाओं को वश में करने से प्रारंभ करना चाहिये।"[१३]

"अगर कोई नियंत्रण में रहने की क्षमता नहीं रखता हो तो वह जीवन में कोई भी चिरस्थायी मूल्य की चीज करने में असमर्थ होता है"।[१४]

"छात्रों को अनियमितता, अशिष्टता या लापरवाही से रोकना अनिवार्य है; दुर्भावनापूर्ण और अहितकर शरारतें भी सहन नहीं की जा सकतीं।

पर एक आम और सामान्य अपवाद रहित नियम यह है कि शिक्षकों को, विशेषकर शारीरिक शिक्षा देने वाले प्रशिक्षकों को सदा उन गुणों का जीवंत उदाहरण बनना चाहिये जिनकी वे छात्रों से मांग करते हैं; अनुशासन, नियमितता, शिष्ट व्यवहार, साहस, अध्यवसाय, प्रयास में धीरता शब्दों की अपेक्षा उदाहरण से अधिक अच्छी तरह सीखे जाते हैं। और यह तो पक्की बात है : बच्चों के सामने वह कभी मत करो जिसके लिए तुम उन्हें मना करते हो।

बाकी के लिये, हर स्थिति का अपना समाधान होता है, कौशल और विवेक से काम लेना चाहिये।

इसीलिये शिक्षक या प्रशिक्षक बनना अनुशासनों में सबसे अच्छा अनुशासन है, यदि कोई उसका पालन करना जाने।"[१५]

"सामान्यतः, १२ वर्ष की उम्र के बाद सब बच्चों के लिए अनुशासन जरूरी होता है।"[१६]

---

१३. मातृवाणी भाग–१२, पृ.–१५६

१४. मातृवाणी भाग–१२, पृ.–२८८

१५ मातृवाणी भाग–१२, पृ–३६३–३६४

१६. मातृवाणी भाग–१२, पृ.–१९४

"मैं शिष्ट व्यवहार की आवश्यकता पर जोर देती हूं। मैं नाली के कीड़े जैसे व्यवहार में कोई बड़ी बात नहीं देखती।"[३७]

विद्यार्थी अनुशासनहीन क्यों होते हैं ?

"मैंने हमेशा यही सोचा है कि विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता के लिए अध्यापक के चरित्र की कोई चीज जिम्मेदार होती है।"[३८]

"समस्या पहली नजर में जैसी मालूम होती है उससे कहीं अधिक अर्थ रखती है। यह वास्तव में हर प्रकार के अनुशासन और जबरदस्ती के विरुद्ध बच्चों की प्राणिक शक्तियों का विद्रोह है। साधारण सामान्य तरीका होगा सभी ऊधमी बच्चों को स्कूल से बाहर कर देना और केवल "अच्छे" बच्चों को रखना। लेकिन यह पराजय और निर्बलता है।

अगर तुम अंततः *पूर्ण स्थिरता में,* आंतरिक शक्ति के संचार द्वारा, इस विद्रोह को वश में ला सको, तो वह परिवर्तन और सच्ची समृद्धि बन जाता है। मैं यही कोशिश करना चाहती हूं और आशा करती हूं कि तुम्हारे लिये मेरे काम में सहयोग देते रहना संभव होगा। और अब चूंकि जो करना चाहती हूं तुम केवल वही नहीं, बल्कि उस काम की रचना और प्रक्रिया भी समझ गये, इसलिये मुझे विश्वास है कि हम सफल होकर रहेंगे। तुम्हें असफलताओं के लिए तैयार रहना चाहिये और हताश नहीं होना चाहिये।

प्रकाश को स्वीकार करने और उसके द्वारा परिवर्तित होने से पहले प्राणिक शक्तियां निराशा से पागल होकर लड़ती हैं, यह विशेष रूप से बच्चों में होता है, क्योंकि उनकी तर्क–बुद्धि कम विकसित होती है। लेकिन अंतिम विजय सुनिश्चित है, और हमें टिके रहना तथा प्रतीक्षा करना जानना चाहिये।"[३९]

अनुशासन कब हानिकारक है?

"शिक्षकों का ऐसा अनुशासन एक मनमाना नियम है जिसे छोटे बच्चों पर लादा जाता है, जिस पर वे अपने–आप उसके अनुसार नहीं चलते। मैं इस प्रकार के अनुशासन के विरुद्ध हूं।"[४०]

---

३७. मातृवाणी भाग–१२, पृ–१५४–१५५

३८. मातृवाणी भाग–१२, पृ–१६७

३९. मातृवाणी भाग–१२, पृ–३३७–३३८

४०. मातृवाणी भाग–१२, पृ–१६४

"जबरदस्ती करना न तो शिक्षा का श्रेष्ठ सिद्धांत है, न ही सबसे अधिक उपयोगी।

सच्ची शिक्षा को तो उस चीज को विकसित करना और खोलना चाहिये जो पहले से ही ग्रहण करने वाली सत्ताओं में विद्यमान है। जिस तरह फूल सूर्य के प्रकाश में खिलते हैं, उसी तरह बच्चे आनंद में खिलते हैं। यह कहने की जरूरत नहीं कि आनंद का मतलब कमजोरी, अस्तव्यस्तता और गड़बड़ नहीं है बल्कि एक प्रकाशमय सद्भावना है जो अच्छे को प्रोत्साहन देती है और बुरे पर कठोरता से जोर नहीं देती।

'कृपा' हमेशा न्याय की अपेक्षा 'सत्य' के ज्यादा नजदीक होती है।"[४१]

हम बच्चों को अनुशासित होने में किस तरह सहायता करें?

"उदाहरण सबसे अधिक प्रभावी प्रशिक्षक है। किसी बच्चे से ऐसे नियम–पालन के लिये कभी न कहो जिसका अनुसरण स्वयं तुम नहीं करते। स्थिर–शांत, समता, सुव्यवस्था, नियमितता, व्यर्थ के शब्दों का अभाव–ये ऐसी चीजें हैं जिनका अध्यापक को हमेशा अभ्यास करते रहना चाहिये, यदि वह चाहता है कि उसके विद्यार्थियों में ये गुण पैदा हों।

अध्यापक को हमेशा समय–पालन करना चाहिये। उसे हमेशा, ठीक वेशभूषा के साथ कक्षा शुरू होने से कुछ मिनट पहले, आ जाना चाहिये। और सबसे बढ़कर, उसे कभी झूठ न बोलना चाहिये ताकि उसके विद्यार्थी झूठ न बोलें; उसे कभी विद्यार्थियों पर गरम न होना चाहिये ताकि विद्यार्थी कभी क्रोध न करें; और यह कह सकने के लिए : "उपद्रव का अंत प्रायः आंसुओं में होता है," उसे कभी उनमें से किसी पर हाथ न उठाना चाहिये।

ये बिलकुल प्रारंभिक और मौलिक बातें हैं जिनका अभ्यास बिना अपवाद के हर विद्यालय में होना चाहिये।"[४२]

"बच्चे को कभी डांटना–फटकारना नहीं चाहिये। माता–पिताओं की बुराई करने के लिए मुझे दोष दिया जाता है। परन्तु मैंने उन्हें यह करते हुए देखा है, और हां, मैं जानती हूं कि नब्बे प्रतिशत माता–पिता उस बच्चे को डांटते–फटकारते

---

४१. मातृवाणी भाग–१२, पृ.–३३५

४२. मातृवाणी भाग–१२, पृ.–१६४–६५

हैं जो अपने–आप कोई भूल स्वीकार करने के लिए आता है; वे बच्चे की बात धैर्यपूर्वक सुनने के बजाय और उसे यह समझाने के बजाय कि उसका दोष क्या है और उसे कैसे कार्य करना चाहिये, कहते हैं: "तुम बड़े दुष्ट हो। चले जाओ, मुझे अभी फुरसत नहीं।" और बच्चा, जो कि अच्छी भावना के साथ आया था, बिल्कुल आहत होकर लौट जाता है और यह भावना लेकर जाता है कि "भला मेरे साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया गया?" तब बच्चा यह देखता है कि मेरे माता–पिता पूर्ण नहीं हैं– जो बात स्पष्ट ही आज के दिन उनके विषय में सही है– वह देखता है कि वे गलत हैं और वह अपने–आपसे कहता है : "वह मुझे क्यों डांटते हैं, वह भी तो मेरे जैसे ही हैं।"[४३]

"जीवन को अनुशासन में रखना आसान नहीं है, उन लोगों के लिए भी जो बलवान हैं, अपने साथ कड़ाई का प्रयोग करते हैं, जो साहसी एवं सहनशील हैं।

किन्तु अपने सारे जीवन को अनुशासित करने के लिए प्रयत्न करने से पहले, व्यक्ति को अपनी कम–से–कम एक क्रिया को ही अनुशासन में रखने की कोशिश करनी चाहिये, और तब तक करते रहना चाहिये जब तक उसमें सफलता न प्राप्त हो जाये।"[४४]

अनुशासनहीनता की सूचना मिलने पर क्या करना चाहिये?

"जिस घटना को तुमने देखा न हो उसमें हाथ डालना कठिन है। गप्पी की बात हमेशा अनिश्चित रहती है। पर यदि कोई प्रशिक्षक अपने किसी छात्र के अशिष्ट आचरण के समय स्वयं उपस्थित हो, तो उसका बीच में पड़ना समयोचित होगा, निश्चय ही लेकिन इस शर्त पर कि छात्र के प्रति उसका व्यवहार स्नेह और सद्भावना से भरा हो।"[४५]

नटखट विद्यार्थियों के साथ हम किस तरह पेश आयें?

"बच्चों को यह समझकर शरारत छोड़नी चाहिये कि शरारती होना शर्म की बात है, न कि सजा के डर से।

पहली अवस्था में, वह सचमुच उन्नति करता है।

---

४३. मातृवाणी भाग–४, पृ.–२८ (साथ ही: दि साइंस आफ लिविंग, पृष्ठ ८८)
४४. मातृवाणी भाग–१२, पृ.–३६६
४५. मातृवाणी भाग–१२, पृ. ३६५

दूसरी में, वह मानव चेतना में एक पग और नीचे उतर जाता है, क्योंकि भय चेतना का अधःपतन है।"[४६]

झगड़ों के होने पर हम किस तरह पेश आयें?

"विद्यालय में लड़ना, कक्षा में लड़ना, क्रीड़ांगण में लड़ना, गली में लड़ना, घर पर लड़ना (चाहे अपने घर में हो या छात्रावास में) मना है।

हमेशा और हर जगह बच्चों को आपस में लड़ने की मनाही है, क्योंकि हर बार, जब तुम किसी पर प्रहार करते हो तो वह तुम्हारी अपनी अंतरात्मा पर प्रहार होता है।"[४७]

शोर करने वाली कक्षा के साथ हम किस तरह पेश आयें?

"अपने–आप पूरी तरह शांत रहो।

अपने साथ एक बड़ा–सा, लगभग एक मीटर लंबा गत्ता लाओ जिस पर बड़े–बड़े अक्षरों में लिखा हो :

"शान्त रहो"

(इसमें बहुत बड़े–बड़े अक्षरों में सफेद जमीन पर काले अक्षर हों), जैसे ही बच्चे बोलना शुरू करें, यह गत्ता उनके सामने कर दो।"[४८]

बच्चों को कड़ाई से नहीं, *आत्मसंयम* से वश में किया जाता है।"[४९]

"कम–से–कम चुप्पी तो जरूरी है। मैं जानती हूं कि साधारणतः सबसे ज्यादा ऊधमी बच्चे सबसे ज्यादा बुद्धिमान होते हैं। लेकिन वश में आने के लिए उन्हें ऐसी प्रतिमा का दबाव अनुभव होना चाहिये जो उनकी प्रतिभा से ज्यादा शक्तिशाली हो। और इसके लिए, उनके स्तर तक न उतरना जानना चाहिये, और विशेष बात यह कि वे जो कुछ करते हैं उससे प्रभावित नहीं होना चाहिये। वास्तव में, यह एक यौगिक समस्या है।"[५०]

---

४६. मातृवाणी भाग–१२, पृ–३६४
४७. मातृवाणी भाग–१२, पृ.–१५६
४८. मातृवाणी भाग–१२, पृ.–१९८
४९. मातृवाणी भाग–१२, पृ.–१९६
५०. मातृवाणी भाग–१२, पृ.–३३१

"विद्यार्थियों से

कक्षा में शोर मचाना स्वार्थपूर्ण मूढ़ता का कार्य है।

अगर तुम चुपचाप ध्यान देकर कक्षा में उपस्थित होने का इरादा नहीं रखते तो न आना ज्यादा अच्छा है।"[४१]

बच्चों में हिंसा भाव आने पर उनके साथ किस तरह व्यवहार करें?

"जब तक मनुष्य अपने अहंकार और उसकी कामनाओं के वश में है तब तक हिंसा जरूरी है...।

लेकिन हिंसा का उपयोग केवल आत्म–रक्षा में, जब किसी पर आक्रमण हो तब किया जाना चाहिये। जिस लक्ष्य की ओर मानव जाति गति कर रही है और जिसे हम चरितार्थ करना चाहते हैं, वह है एक ऐसी प्रकाशमान समझ की अवस्था जिसमें हर एक की और साथ ही समग्र सामंजस्य की आवश्यकताओं का ख्याल रखा जाता है।

भविष्य को हिंसा की जरूरत न होगी, क्योंकि उसमें दिव्य 'चेतना' का राज होगा जिसमें हर चीज दूसरी के साथ सामंजस्य में रहती और एक दूसरे को पूरा करती है।"[४२]

हमें बच्चे की हिंसावृत्ति पर हस्तक्षेप करना चाहिये अथवा हिंसा की गतिविधियों के बन्द होने की प्रतीक्षा करनी चाहिये?

"तुम्हें... तुम्हें बच्चों से प्रश्न करने चाहिये और उनसे अचानक पूछना चाहिये: "क्या तुम्हारे दुश्मन हैं? कौन हैं ये दुश्मन?" तुम्हें यह कहना चाहिये...। तुम्हें उनसे थोड़ा बोलवाना चाहिये...। चूंकि वे देखते हैं ... सेना में एक बल और एक सुन्दरता है जिसे बच्चे बहुत जोर से अनुभव करते हैं। लेकिन उसे बनाये रखना चाहिये। सिर्फ, सेनाओं का उपयोग आक्रमण करने और जीत लेने के लिए नहीं करना चाहिये, बचाव करने और रक्षा करने के लिए भी होना चाहिये।

---

४१. मातृवाणी भाग–१२, पृ–१५६

४२. मातृवाणी भाग–१२, पृ–४३६–३७ (साथ ही एजूकेशन भाग २, पृष्ठ २३५).

पहले उसे यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये : अभी के लिए, हम ऐसी अवस्था में हैं जब हथियारों की जरूरत है। हमें यह समझ लेना चाहिये कि यह एक संक्रमण अवस्था है– यह अंतिम नहीं है, लेकिन हमें उस ओर बढ़ना चाहिये।

शांति–शांति, सामंजस्य– को चेतना के परिवर्तन के स्वाभाविक परिणाम के रूप में होना चाहिये।"[५१]

क्या हम हिंसा–प्रवृत्ति के साथ, बिना आंतरिक स्फूरणा को छेड़छाड़ किए बच्चों की बुद्धि को अपील करके पेश आ सकते हैं?

"बहुत कुछ स्थिति और बच्चे पर निर्भर है!

देखो, भारत में अहिंसा का विचार है जिसने भौतिक हिंसा के स्थान पर नैतिक हिंसा को बिठा दिया है–लेकिन यह कहीं अधिक खराब है!

तुम्हें उनको यह समझाना चाहिये...। तुम बच्चों से कह सकते हो, समझा सकते हो कि भौतिक हिंसा के स्थान पर नैतिक हिंसा को रखना अधिक अच्छा नहीं है।

रेल को रोकने के लिये उसके आगे लेट जाना नैतिक हिंसा है जो भौतिक हिंसा की अपेक्षा ज्यादा गड़बड़ पैदा कर सकती है।

लेकिन यह बालक पर निर्भर है, स्थिति पर निर्भर है। तुम्हें कोई नाम न लेना चाहिये, यह न कहो कि इस या उस व्यक्ति ने ऐसा कहा है। उन्हें विचार और प्रतिक्रियाएं समझानी चाहिये।

यह एक अच्छा उदाहरण है : तुम्हें यह समझाना चाहिये कि रेल को रोकने के लिए उसके आगे लेट जाना उतनी ही बड़ी हिंसा है... बल्कि हथियार लेकर उस पर आक्रमण करने से भी बढ़कर हिंसा है। समझे, बहुत–सी, बहुतेरी चीजें कही जा सकती हैं। यह हर स्थिति पर निर्भर है।

स्वयं मैंने पटेबाजी को बहुत प्रोत्साहित किया था क्योंकि उससे आदमी एक कौशल प्राप्त करता है, अपनी गतियों का संयम और उग्रता का नियंत्रण सीखता है। एक समय मैंने पटेबाजी को बहुत प्रोत्साहन दिया था, और तब, मैंने

---

५१. मातृवाणी भाग–१२, पृ.–४३७–३८ (साथ ही एजूकेशन, भाग २ पृष्ठ २३६)

पिस्तौल चलाना भी सीखा था। मैं पिस्तौल से गोली चलाती थी, मैं राइफल भी चलाती थी क्योंकि इससे स्थिरता और कौशल और निश्चित दृष्टि प्राप्त होती है जो बहुत बढ़िया है, और इससे तुम खतरे के समय भी स्थिर रहने के लिए बाधित होते हो। मुझे नहीं मालूम कि ये चीजें क्यों...। तुम्हें हमेशा निराशाजनक रीति से अहिंसक न होना चाहिये– इससे चरित्र... शिथिल बन जाते हैं।"[५४]

यदि हम बच्चों को पिस्तौल एवं तलवार से खेलते हुए देखें तो क्या करना चाहिए?

"इसे एक कला का रूप दे दो, एक *कला* और शांत–स्थिर पूर्णता, और आत्म–संयत् कौशल के प्रशिक्षण का रूप दे दो। तुम्हें कभी... कभी गुहार नहीं मचानी चाहिये...। उससे काम न चलेगा, बिलकुल नहीं, बिलकुल नहीं। मैं उसके पक्ष में बिलकुल नहीं हूं। आत्मरक्षा के उपाय अच्छी तरह सीखने चाहिये और इसके लिये उनका अभ्यास भी करना चाहिये।

अगर उन्हें रस हो तो तुम उन्हें पटेबाजी और निशानेबाजी सिखा सकते हो, यदि वह किसी बच्चे को ऐसा करते देखती है तो उसे शोर नहीं मचाना चाहिए (माता घबराकर अपने हाथ उठा लेती है)। माता को चाहिए कि वह उसे बताए, उसे यह समझाने की स्थिति में होना चाहिए कि इससे तुम्हें अपनी मांसपेशियों पर ज्यादा अधिक अधिकार प्राप्त होता है, इससे तुम्हें मजबूत और शांत और आत्म–संयत् रहना पड़ता है।' इसके विपरीत, यह उन्हें एक बहुत अच्छा पाठ पढ़ाने का अवसर होता है। लेकिन तुम्हें अपने–आप समझ सकना चाहिये, और सबसे बढ़कर, उन्हें समझा सकना चाहिये... उन्हें यह समझा सकना चाहिये कि नैतिक हिंसा ठीक उतनी ही बुरी है जितनी भौतिक हिंसा। यह उससे भी ज्यादा खराब हो सकती है; यानी, भौतिक हिंसा कम–से–कम तुम्हें मजबूत, आत्म–संयत् होने के लिए बाधित करती है, जब कि नैतिक हिंसा...। तुम ऐसे हो सकते हो (*माताजी ऊपरी स्थिर–शांति का दिखावा करती हैं*) और फिर भी तुम्हारे अंदर भयंकर नैतिक हिंसा हो सकती है।"[५५]

क्या बच्चों को सजा देना चाहिए?

"सजा? सजा से तुम्हारा क्या मतलब है? यदि एक लड़का कक्षा में शोर मचाता है और दूसरों को काम करने से रोकता है तो उससे ठीक तरह व्यवहार

---

५४. मातृवाणी भाग–१२, पृ ४३८–४३९ (साथ ही: एजूकेशन भाग २, पृष्ठ २३६–३७)
५५. मातृवाणी भाग–१२, पृ. ४३९–४० (साथ ही: एजूकेशन भाग २, पृष्ठ २३८–३९)

करने के लिए कहना चाहिये; और यदि वह फिर भी करता रहे तो उसे कक्षा से निकाल देना चाहिये। यह, यह तो कोई सजा नहीं, यह तो उसके किये का सहज परिणाम है। लेकिन सजा देना! सजा देना! तुम्हें सजा देने का कोई अधिकार नहीं। क्या तुम भगवान् हो? तुम्हें सजा देने का अधिकार दिया किसने? बच्चे भी तुम्हारी हरकतों पर तुम्हें सजा दे सकते हैं। क्या तुम स्वयं निर्दोष हो? क्या तुम जानते हो कि क्या अच्छा है क्या खराब? केवल भगवान् जानते हैं। भगवान् को ही सजा देने का अधिकार है।

तुम जैसे स्पंदन छोड़ते हो वैसे ही स्पंदनों से तुम्हारा सम्पर्क हो जाता है। यदि तुम बुरा और नाशक स्पंदन छोड़ो तो यह बिलकुल स्वाभाविक होगा कि तुम वैसे ही स्पंदन को अपनी ओर आकर्षित करो और यही है सच्ची सजा, यदि तुम इसी शब्द का प्रयोग करना चाहो; पर यह दुनिया की भागवत व्यवस्था से कतई मेल नहीं खाता।

प्रत्येक कार्य का अपना भला या बुरा परिणाम होता है, पर पुरस्कार या दंड का विचार निरा मानवीय विचार है जो 'सत्य–चेतना' की कार्य–पद्धति से बिलकुल मेल नहीं खाता। यदि वह 'चेतना' जो दुनिया को चलाती है, मानवीय पुरस्कार और दंड की नीति से काम करती तो धरती कब की मनुष्यों से खाली हो चुकी होती।

जब मनुष्य इतने पवित्र हो जायेंगे कि दिव्य स्पंदनों को विकृत किये बिना प्रसारित कर सकेंगे तब, दुनिया से दुःख–कष्ट मिट जायेगा। यही है एकमात्र उपाय।"[५६]

जो बच्चे परिश्रम करने से इनकार करें उनके साथ किस तरह व्यवहार करें?

"धीरज बनाए रखो–यह किसी प्रकार का मानसिक तमस है; एक दिन वे जाग उठेंगे।"[५७]

काम–क्रीड़ा से जुड़ी हुई बातों से किस तरह पेश आयें?

"चूंकि यहां लड़के–लड़कियां एक साथ पढ़ते हैं इसलिये हमने हमेशा आग्रह किया है कि उनके आपसी सम्बंध सामान्य साथियों जैसे हों जिनमें सेक्स

---

५६. मातृवाणी भाग–१२, पृ.–३८०
५७. मातृवाणी भाग–१२, पृ.–१३५

या कामुकता का कोई स्थान न हो; और सब प्रकार के प्रलोभनों से बचने के लिए उन्हें एक–दूसरे के कमरे में जाने या अकेले में गुप्त रूप से मिलने के लिए मना किया गया है। यह हर एक के आगे स्पष्ट कर दिया गया है। अगर इन नियमों का कठोरता से पालन किया जाये तो कोई अप्रिय चीज नहीं हो सकती।"[५८]

"तुम इस सेक्स के मामले को बहुत अधिक महत्त्व दे रहे हो।

उसके बारे में बिलकुल न सोचो– *ज्यादा रुचिकर चीजों* में रस लो। ज्ञान और चेतना में बढ़ने की कोशिश करो और जब सेक्स के विचार या सेक्स के आवेग आयें तो उन्हें लात मारकर भगा दो– तब तुम मेरे सैनिकों में से एक बनने की आशा कर सकते हो।"[५९]

"मैं पहले ही तुम सबसे कह चुकी हूं कि यह न सोचो कि तुम लड़के हो या लड़की। अपने–आपको मानव सत्ताएं मानो, जो समान रूप से भगवान् को पाने, वही होने और उन्हें अभिव्यक्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं।"[६०]

लड़के (११ वर्ष की आयु के आस–पास) अचानक लड़कियों से दूर क्यों रहने लगते हैं?

"यह पूर्वजों से आयी हुई चीज है और अवचेतना से उठी है।

यह सहज–प्रवृत्ति पुरुष जाति के दंभ, अपनी श्रेष्ठता के मूर्खतापूर्ण विचार, और इससे भी अधिक इस मूर्खतापूर्ण भय पर आधारित है कि स्त्री एक भयंकर प्राणी है जो तुम्हें पाप के मार्ग पर खींच लाती है। बच्चों में, अभी तक यह अवचेतन रूप में है, पर उनके कार्यों पर अपना प्रभाव अवश्य डालती है।"[६१]

क्या लड़के–लड़कियों के बीच की इस दूरी की समस्या को नजरअंदाज करना चाहिए या उन्हें सलाह अथवा डांट देनी चाहिए?

इसके लिये कोई सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता, सब कुछ विशेष व्यक्ति और परिस्थितियों पर निर्भर है। दोनों ढंगों से अच्छे–बुरे तत्त्व, लाभ और हानियां हैं। कप्तानों के लिये, मुख्य बात यह है कि उनमें व्यवहार–कौशल और पर्याप्त आंतरिक बोध हो ताकि जब जरूरत हो तो वे हस्तक्षेप कर सकें और जब न देखना ज्यादा अच्छा हो तो आंखें मूंद सकें।"[६२]

---

५८. मातृवाणी भाग–१२, पृ– १५७

५९. मातृवाणी भाग–१२, पृ.–१५८

६०. मातृवाणी भाग–१२, पृ.–१५८

६१. मातृवाणी भाग–१२, पृ.–३६४

६२. मातृवाणी भाग–१२, पृ. – ३६४

विद्यार्थियों में बढ़ते भौतिकवाद के प्रति किस तरह पेश आयें?

"जब कोई बच्चा तुम्हें अपने परिवार के धन–दौलत की कहानियां सुनाकर प्रभावित करना चाहे तो चुपचाप मत बैठे रहो। तुम्हें उसे समझाना चाहिये कि यहां संसारिक दौलत का महत्त्व नहीं है, केवल उसी धन का कुछ महत्त्व है जो भगवान् को अर्पण कर दिया गया हो, कि तुम बड़े मकान में रहने से, पहले दर्जे में यात्रा करने से या बहुत खुले हाथों खर्च करने से बड़े नहीं बन जाते। तुम्हारी महत्ता सत्यवादी, निष्कपट और कृतज्ञ होने से ही बढ़ सकती है।"[६३]

६३. मातृवाणी भाग–१२ पृ. ३९४

अध्याय–३

विषय की शिक्षा

कौन से विषय हैं जो एक सर्वांगीण शिक्षक ले सकता है? क्या यह आमतौर पर पढ़ाए जाने वाले विषयों से भिन्न होंगे? यदि विषय–ज्ञान ही शिक्षक का प्रमुख कार्य है तो फिर वह सर्वांगीण शिक्षा की अन्य माँगों को कैसे पूरा कर सकता है?

यह अध्याय उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर हेतु अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है, श्रीमाँ की वाणी के अंशों द्वारा। यह निज की प्रगति में विषय–ज्ञान के स्थान को देखता है, साथ ही विषय की शिक्षा के प्रति संभव प्रवेश–द्वारों को भी। इसके भाग निम्नलिखित हैं:–

- शिक्षा की समस्या
- भाषा एवं साहित्य
  - भाषा को अच्छी तरह से सीखना
  - संस्कृत का महत्त्व
  - फ्रेंच भाषा का महत्त्व
  - अच्छी हिन्दी सीखना

- साहित्य में अभिरुचि अच्छी पठन आदतें विकसित करना

- अन्य विषय
  - इतिहास एवं भूगोल
  - गणित
  - मनोविज्ञान
  - विज्ञान
- कलाएं
  - चित्रकला
  - संगीत
  - काव्य
  - फोटोग्राफी (छायाचित्रांकन)
  - सिनेमा (चलचित्र)

शिक्षा की समस्या

एक ओर तो हम विद्यार्थियों में उच्चतम् मूल्य डालना चाहते हैं, वहीं दूसरी ओर हमें उन सभी हानिकारक प्रभावों का सामना करना पड़ता है जो हर क्षण समाज, राजनीति, मीडिया, एडवरटाइजमेंट, गाने, सिनेमा से आते हैं। एक शिक्षक के नाते हम आश्चर्य करते हैं कि मात्र विषयों के द्वारा हम विद्यार्थियों के मन एवं चरित्र का विकास कैसे करें। हानिकारक प्रभावों से कैसे लड़ें?

बच्चे को इनसे अलग कर देना हल नहीं है। हम कितना भी ध्यान दें, बच्चे को टी.वी., अखबार, रोज की घटनाओं से बचाकर नहीं रख सकते. . . श्रीमाँ इसे शिक्षा की समस्या कहती हैं जिससे हम सबको जूझना है।

हल इन प्रभावों से भागने में नहीं – न ही मूर्खतावश इनके अधीन होने में है, बल्कि एक ऐसे विवेक के विकास में है जो बाहरी घटनाक्रम के आवरण को चीर कर, मूल्य की चीज ढूँढ़ ले, एक सौन्दर्यबोध जो दीवार की तरह इन

हानिकारक प्रभावों के विरुद्ध खड़ा हो जाए और यह विषयों के द्वारा दिया जा सकता है।

परन्तु हमारी सत्ता का एक ऐसा स्तर भी है जिसे हम इस कुप्रभाव का सामना करने को पुकार सकते हैं, जैसा कि श्रीमाँ इंगित करती हैं।

"अगर हम यह सोचें कि बच्चे को केवल वही सीखना और जानना चाहिये जो उसे हर निम्न, भद्दी, उग्र और गिराने वाली गति से शुद्ध रख सके तो हम एक साथ सारी मानव जाति के साथ पूरा संपर्क खत्म कर देंगे, आरंभ होगा युद्ध और हत्या की, संघर्ष और धोखेबाजी की कहानियों से जो इतिहास के नाम से चलती हैं; हमें परिवार के साथ, रिश्तेदारों और दोस्तों के साथ सभी संबंध खत्म कर देने होंगे; हमें उनकी सत्ता के सभी प्राणिक आवेगों पर अंकुश लगाना होगा।

कन्वेंट की चारदीवारी में बंद साधु–जीवन या गुफाओं और वनों में संन्यासी जीवन के पीछे यही विचार था।

लेकिन यह उपचार बिलकुल प्रभावहीन निकला और मानव जाति को दल–दल में से निकालने में असमर्थ रहा।

श्रीअरविन्द के अनुसार, उपचार कुछ और ही है।

हमें संपूर्ण जीवन का, उसमें अभी तक बाकी समस्त कुरूपता, मिथ्यात्व और क्रूरता का सामना करना चाहिए, लेकिन हमें अपने अंदर समस्त शिव और सुन्दर, समस्त ज्योति और समस्त सत्य को खोजने की सावधानी बरतनी चाहिये ताकि हम सचेतन रूप से इस स्रोत का बाकी संसार के साथ नाता जोड़ सकें और उसे रूपांतरित कर सकें।

यह भाग जाने या न देखने के लिये आँखें मूँद लेने की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन है, लेकिन यही एक सच्चा प्रभावकारी उपाय है – यह उन लोगों का मार्ग है जो सचमुच बलवान् और शुद्ध हैं, जो 'सत्य' को अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं।"[१]

बच्चों को हम क्या सिखाएँ?

"बच्चों को जो चीजें सिखानी चाहिये –

---

१. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ २४४–२४५

(1) पूरी–पूरी सच्चाई और निष्कपटता की जरूरत।

(2) अंत में 'सत्य' की ही विजय की निश्चियति।

(3) प्रगति की संभावना और उसके लिए संकल्प।

अच्छा स्वभाव, न्याय–संगत व्यवहार, सत्यनिष्ठा।

धैर्य, सहनशीलता, अध्यवसाय।

समता, साहस, प्रसन्नता।"[२]

"दो चीजें करने की जरूरत है। बच्चों को यह सिखाना चाहिये :–

(क) परिणाम चाहे कुछ, क्यों न हो, वे कभी झूठ न बोलें;

(ख) उग्रता, कोप, क्रोध पर संयम रखें।

अगर ये दो चीजें की जा सकें, तो वे अतिमानवता की ओर ले जाए जा सकते हैं।

यह ख्याल है कि अगर हम परंपराओं और बंधनों को तोड़ें तो हम सामान्य मानवजाति की सीमाओं से मुक्त हो जाते हैं। लेकिन यह गलत है।

जिसे हम 'परामानव' कह सकते हैं वह होने के लिए इन दो चीजों को पाना जरूरी है : झूठ न बोलना और अपने–आपको वश में रखना।

भगवान् के लिए संपूर्ण भक्ति सबसे अंतिम अवस्था है, लेकिन ये दो बातें पहले चरितार्थ करनी होंगी।[३]

लिखना–पढ़ना जानना, कम–से–कम एक भाषा शुद्ध रूप से बोल सकना, थोड़ा–सा सामान्य भूगोल जानना, आधुनिक विज्ञान का थोड़ा–सा परिचय होना और आचार–व्यवहार के कुछ नियम जानना – किसी दल या समाज में रहने के लिए यह जरूरी है।"[४]

---

२. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १५२

३. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १५५–५६

४. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ २४८

अपनी शिक्षा को सम्पूर्ण बनाने के लिए क्या मुझे विषय बदलने की आवश्यकता है?

"तुम्हारी कठिनाई इस कारण आती है क्योंकि तुम्हारे अंदर अभी तक वह पुरानी मान्यता है कि जीवन में कुछ चीजें ऊँची हैं और कुछ नीची। यह ठीक नहीं है। चीजें या क्रियाएँ अपने–आपमें ऊँची–नीची नहीं होतीं, करने वाले की चेतना सत्य या मिथ्या होती है।

अगर तुम अपनी चेतना को 'परम चेतना' के साथ एक करके 'उसे' अभिव्यक्त करो तो तुम जो कुछ सोचोगे, जो कुछ अनुभव करोगे या जो कुछ करोगे वह सब ज्योतिर्मय और सत्य बन जायगा। पढ़ाने का विषय बदलने की जरूरत नहीं है, तुम जिस चेतना के साथ पढ़ाते हो उसे प्रबुद्ध होना चाहिए।"[५]

विषयों को पढ़ने का क्या लाभ है?

"ये कई तरीकों से सहायक हो सकते हैं :–

(1) 'सत्य' की ज्योति पाने और सह सकने के लिए मन को मजबूत, विस्तृत और नमनीय होना चाहिए। ये अध्ययन इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बहुत अच्छे हैं।

(2) अगर तुम विज्ञान का काफी गहराई में अध्ययन करो, तो वह तुम्हें बाहरी रूप–रंग को अवास्तविकता का भान करा देगा और इस तरह तुम्हें आध्यात्मिक सद्वस्तु की ओर ले जायगा।

(3) भौतिक प्रकृति के सभी पहलुओं और गतियों का अध्ययन तुम्हें वैश्व माता के संपर्क में ले जायगा।"[६]

"ऐसी बहुत–सी चीजें हैं जो हमें जाननी चाहिए, इसलिए नहीं कि वे विशेष रुचिकर हैं बल्कि इसलिए कि वे उपयोगी या अनिवार्य तक हैं; गणित उनमें से एक है।

जब हमारे पास ज्ञान की मजबूत पृष्ठभूमि हो तभी हम सफलता के साथ जीवन का सामना कर सकते हैं।

---

५. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १७५

६. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ २४९

६. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ २४९

विषयों को श्रेणी में कैसे डाला जाय?

जब सभी को ज्ञान की एक समान साधारण उपयोगी नींव दे दी गयी हो, जैसे कि पढ़ना–लिखना, कम–से–कम एक भाषा अच्छी तरह बोल पाना, थोड़ी–सी सामान्य भूगोल की जानकारी, आज के विज्ञान का सामान्य ज्ञान और सामूहिक या सामाजिक जीवन के आचार–व्यवहार के कुछ अनिवार्य नियम जान लेने के बाद जब कोई एक या एक से अधिक विषय का गहराई से अध्ययन करना चाहे तो विषयवार वर्गीकरण महत्त्वपूर्ण होता है।[8]

भाषा एवं साहित्य[9]

भाषाओं का प्रश्न और विशेषकर राष्ट्रीय भाषा का प्रश्न भारत जैसे देश के लिए सरल नहीं है। हम कोई एक भाषा क्यों सीखते हैं। उपयोगिता, व्यावहारिक आदान–प्रदान, जन्म और पालन की घटना – यही आजकल के प्रमुख कारण लगते हैं। खैर, प्रत्येक भाषा की अपनी एक संभावना होती है – जो उसे अभिव्यक्त करने के लिए सर्वोत्तम है और जिसका सीधा प्रभाव हमारे विचारों की संरचना, स्पष्टता, जटिलता, सूक्ष्मता और मानसिक सुनिश्चितता पर पड़ता है। प्रत्येक भाषा शब्द–नाद के माध्यम से सत्ता के अंदर अपने स्पन्दन प्रकट करता है, यह न केवल सूचना एवं साहित्य के जगत् के द्वार खोल देता है परन्तु साथ ही उस संस्कृति के सम्पर्क में ला देता है और इसके द्वारा हमारे भावनात्मक एवं सौन्दर्यबोधात्मक सत्ता के साथ भी। अब, यह सर्वविदित है कि यदि एक बच्चा अपने प्रारंभिक काल में मातृभाषा में सीख सके, तो यह उसके मानसिक विकास में सहायक होता है। अगले कुछ अध्यायों में आप देख सकेंगे कि श्रीमाँ ने सही भाषा सिखाने पर कितना जोर दिया है – मानसिक विकास और चरित्र के गठन में और राष्ट्र के निर्माण में।

भाषा को अच्छी तरह सीखना

भाषा कैसे सीखनी चाहिये?

"भाषा को सीखने के लिए पढ़ना, पढ़ना और बात करने में, कम–से–कम एक चीज का होना।"

---

८. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ३७४

९. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ २१८–२३, जब तक अन्यथा उल्लेख न किया गया हो।

बच्चों को साफ लिखने के लिए कैसे प्रोत्साहित करें?

"घसीटा मारने की अपेक्षा साफ–साफ लिखना ज्यादा थकाने वाला नहीं है। जब गृहकार्य साफ–साफ किया गया हो, तो वह आनंद से पढ़ा जाता है। जब वह खराब अक्षरों में लिखा जाता है, तो वह पढ़ा भी नहीं जा सकता।

जो कुछ करना हो उसे ध्यान देकर करना हर प्रकार की प्रगति का आधार है।[१०]

बच्चों की वर्तनी में कैसे सुधार लाया जाए?

साधारणतः, वर्तनी के लिए, आँखों की सहायता लेनी चाहिए। हर एक शब्द का अपना रूप होना चाहिए जिसे आँख याद रख सके। मानसिक स्मरणशक्ति की अपेक्षा दृष्टि की स्मरण शक्ति ज्यादा उपयोगी होती है। बहुत पढ़ना चाहिए, देखना, बोर्ड पर, किताबों में, चित्रों में देखना।

शैली, लिंग और व्याकरण के लिए भी, पढ़ना, बहुत पढ़ना ही सबसे अच्छा है। इस तरह सब कुछ अवचेतना में पैठ जाता है। सीखने का यह सबसे अच्छा तरीका है।[११]

व्याकरण अच्छी तरह कैसे सीखें?

"मैं यह नहीं कहती कि व्याकरण की पुस्तकें बहुत उत्तेजक होती हैं, लेकिन अगर तुम सीखना चाहो तो व्याकरण की पुस्तक भी मजेदार हो जाती है – व्याकरण के अधिक–से–अधिक दुर्बोध नियम भी! तुम कल्पना नहीं कर सकते कि जब तुम सचमुच सीखना चाहते हो, जब तुम समझना चाहते हो कि ऐसा क्यों है, सिर्फ यूँ ही रट लेने, मुखस्थ कर लेने की जगह अगर तुम समझना चाहोः ये शब्द क्या हैं, जो यहाँ रखे गये हैं, किस विचार के लिए, किस सच्चे ज्ञान के लिए ये रखे गए हैं? ये क्या कहना चाहते हैं? – यह सब जानना चाहो तो चीज कितनी अधिक रुचिकर हो जाती है। . . .हर एक नियम, चाहे कोई–सा क्यों न हो, स्वयं अपने अंदर स्थित किसी चीज के लिए मनुष्य के मन का सूत्र होता है। किसी भी नियम को ले लो। वह यही बतलाता है कि कुछ मस्तिष्कों ने अपनी दृष्टि में अधिक–से–अधिक स्पष्ट, अधिक–से–अधिक सघन या संक्षिप्त रूप में

---

१० मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ३४२

११ मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ३२६

कोई ऐसी चीज कहने की कोशिश की है जिसका अपना अस्तित्व है। अगर तुम शब्दों के पीछे जाकर इस चीज को ढूँढने की कोशिश करो – जो चीज अपने–आपमें अस्तित्व रखती है, जो शब्दों के पीछे विद्यमान है – तो चीज कितनी मजेदार हो जाती है। उससे फुरहरी आने लगती है! रोमांच हो उठता है! यह एक जंगल में से गुजरते हुए एक नए देश की खोज करने की तरह है, उत्तरी ध्रुव जाकर छानबीन करने जैसा है। अगर तुम व्याकरण के नियमों के साथ ऐसा ही कर सको तो मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ, फिर तुम्हें कोई चीज न उबा सकेगी।

सीखने की जगह समझो।[12]

संस्कृत का महत्त्व[13]

हम किस प्रकार की संस्कृत सीखें?

"यह भाषा सबको सीखनी चाहिये। पंडितों की संस्कृत नहीं. . . सबको, सबको संस्कृत सीखनी चाहिए, चाहे उनका जन्मस्थान कोई भी क्यों न हो।"

"लेकिन पाण्डित्य के स्तर की संस्कृत नहीं, बल्कि वह संस्कृत, वह संस्कृत–कैसे कहूँ? जो भारत की सभी भाषाओं के लिए द्वार खोलती है। मेरे ख्याल से यह अनिवार्य है। आदर्श तो यह होगा कि, कुछ सालों में, एक नवविकसित कायाकल्प–प्राप्त संस्कृत, यानी, बोल–चाल की संस्कृत भारत की प्रतिनिधि भाषा हो – भारत की सभी भाषाओं के पीछे संस्कृत दिखायी देती है और ऐसा ही होना चाहिए। जब हमने इसके बारे में बातचीत की थी तो श्रीअरविंद का यही विचार था। क्योंकि अब तो अंगरेजी सारे देश की भाषा है लेकिन यह अस्वाभाविक है। बाकी जगत् के साथ संबंध को ज्यादा सरल बनाने के लिए यह बहुत अच्छी है, लेकिन जिस प्रकार हर एक देश की अपनी भाषा होती है, उसी प्रकार यह जरूरी है कि. . .। और यहाँ, जैसे ही हम एक राष्ट्र–भाषा की चाह करते हैं कि सब लोग झगड़ने लगते हैं। हर एक चाहता है कि उसी की भाषा राष्ट्र–भाषा बने, और यह बिल्कुल वाहियात है। लेकिन संस्कृत के विरोध में कोई कुछ नहीं कह सकता। यह दूसरी भाषाओं से बहुत पुरानी है और इसमें बहुत–से शब्दों की धातुएँ हैं।

---

१२. मातृवाणी, भाग–९, पृष्ठ १०५ (साथ ही: एजूकेशन, भाग २, पृष्ठ १५४–५५

१३ मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ४१६–१७

यह चीज मैंने श्रीअरविन्द के साथ पढ़ी थी और स्पष्टतः यह मजेदार है। कुछ धातुएँ हैं जो जगत् की सभी भाषाओं में मिलती हैं – ऐसी ध्वनियाँ, धातुएँ हैं जो उन सभी भाषाओं में पायी जाती हैं। तो हाँ, यह, यह चीज, यही चीज सीखनी चाहिए और इसी को राष्ट्र–भाषा होना चाहिए। जिस तरह फ्रांस में हर बच्चे को फ्रेंच आनी चाहिए, चाहे वह ठीक तरह न बोल पाए, या उसे अच्छी तरह नहीं जाने, लेकिन यह जरूरी है कि उसे थोड़ी बहुत फ्रेंच आती हो – उसी तरह भारत में जन्मे हर बच्चे को संस्कृत आनी चाहिए; और जगत् के सभी देशों के साथ यही बात है। यह जरूरी है कि उसे राष्ट्रभाषा आती हो। और फिर, जब वह इसे सीख जाए तो वह जितनी भाषाएँ सीखना चाहे सीख ले। अब तक, लोग झगड़ों में ही खोए हुए हैं, और यह वातावरण किसी चीज का निर्माण करने के लिए बहुत खराब है। लेकिन मुझे आशा है कि एक दिन आएगा जब यह संभव होगा।

इसलिए मैं चाहती हूँ कि यहाँ सरल संस्कृत पढ़ायी जाए, जितनी सरल हो सके उतनी, लेकिन ऐसी नहीं जिसे ठोक–पीटकर सरल बना दिया गया हो – बल्कि ऐसी सरल जो अपने मूल के अनुरूप हो. . .ये ध्वनियाँ, मूल ध्वनियाँ जिनसे बाद में शब्द बने हैं।"

फ्रेंच भाषा का महत्त्व

साथ ही, श्रीमाँ ने समय के साथ आगे बढ़ने के लिये भाषाओं को विशेष महत्त्व दिया। पांडिचेरी के आश्रम शिक्षण केन्द्र में, कुछ विषय फ्रांसिसी भाषा में और कुछ अंग्रेजी में पढ़ाए जाते हैं। सभी बच्चे प्रारंभ से ही संस्कृत एवं फ्रेंच भाषा सीखते हैं, अपनी मातृभाषा के साथ ही। अँग्रेजी बाद में शामिल की जाती है।

हम फ्रेंच क्यों सीखें?

"अपने विद्यालय में मैंने फ्रेंच भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया है। इसका एक कारण यह है कि फ्रेंच संसार की सांस्कृतिक भाषा है। बच्चे भारतीय भाषाएँ जरा पीछे सीख सकते हैं। अगर अभी भारतीय भाषाओं पर ज्यादा जोर दिया

---

१२. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ३९६, ३९८, ३९९

जाय तो भारतीय मानस की स्वाभाविक वृत्ति के अनुसार वह प्राचीन साहित्य, संस्कृति और धर्म में फँस जायगा। तुम भली–भाँति जानते हो कि हम प्राचीन भारतीय चीजों का मूल्य स्वीकार करते हैं, लेकिन हम यहाँ कुछ नया सृजन करने के लिए हैं, कुछ ऐसी चीज लाने के लिए हैं जो धरती के लिए एकदम नयी होगी। इस प्रयास में, यदि तुम्हारा मन पुरानी चीजों से बँधा रहे तो वह आगे बढ़ने से इंकार करेगा। भूतकाल के अध्ययन का अपना स्थान है, लेकिन उसे भविष्य के काम में बाधा न देनी चाहिए।"

"फ्रेंच एवं अँग्रेज़ी भाषा का परस्पर मूल्य क्या है?

"फ्रेंच बहुत ज्यादा सुनिश्चित और यथार्थ भाषा होने के कारण विज्ञान के लिये अँग्रेजी से ज्यादा अच्छी है। अँग्रेजी कविता के लिये बहुत ज्यादा श्रेष्ठ है।"

"फ्रेंच निश्चित ही सबसे अधिक सुनिश्चित और स्पष्ट भाषा है, लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से यह सत्य नहीं है कि फ्रेंच उपयोग के लिये सबसे अच्छी भाषा है। अँग्रेजी में सुनम्यता है, एक प्रवाह है जो फ्रेंच में नहीं है, और यह सुनम्यता अनिवार्य है उस चीज को न बिगाड़ने के लिये जो अनुभूति में मन के द्वारा अभिव्यक्त और रूपायित चीजों से बहुत ज्यादा विशाल और व्यापक है।"

अच्छी फ्रेंच कैसे सीखें?

"सरलता और स्पष्टता से लिखी गयी फ्रेंच ज्यादा अच्छी होती है; जटिल बिम्बों का ढेर भाषा को आडम्बरपूर्ण बना देता है।"

छोटे बच्चों को फ्रेंच कैसे सिखाएँ?

"सबसे अच्छा होगा बहुत सरल शब्दों और वाक्यों का प्रयोग करते हुए उन्हें कहानियाँ सुनाना, ताकि वे समझ सकें (एक छोटी–सी, मजेदार या दिलचस्प कहानी), और फिर कक्षा में ही, उन्होंने जो सुना है उसे लिखने के लिये कहना।[१४]

---

१४. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ३३१

अच्छी हिन्दी सीखना

हम क्या करें यदि विद्यार्थी उपयोगिता की दृष्टि से साहित्यिक हिन्दी नहीं सीखना चाहते?

"उन्हें दोनों सिखाओ, सच्ची भाषा और अब उसने क्या रूप ले लिया है – यह वास्तव में बहुत मजेदार होगा – तथा और चीजों की अपेक्षा यह उन्हें बुरी हिन्दी बोलेने की आदत से छुड़ा देगा।"

साहित्य में अभिरुचिः अच्छी पठन आदतें उत्पन्न करना

साहित्य का मूल्य क्या है?

"यह इस पर निर्भर है कि तुम क्या होना या करना चाहते हो। अगर तुम साहित्यिक बनना चाहते हो तो तुम्हें बहुत–सा साहित्य पढ़ना चाहिये। तब तुम जानोगे कि क्या लिखा गया है और तुम पुरानी चीजों को नहीं दोहराओगे। तुम्हें एक जागृत मन रखना चाहिये और यह जानना चाहिये कि चीजें प्रभावशाली ढंग से कैसे कही जाएं।

लेकिन अगर तुम सच्चा ज्ञान चाहते हो, तो यह तुम्हें साहित्य में नहीं मिलेगा। मेरी दृष्टि में, साहित्य अपने–आपमें बहुत ही निम्न स्तर पर है – इसमें अधिकांश सृजनात्मक प्राण का कार्य है और जब वह बहुत ऊँचा उठता है तो विशुद्ध चक्र (कंठ स्थित चक्र) तक जा पाता है जो बाह्य अभिव्यक्ति वाले मन का स्थान है। यह मन तुम्हें बाहरी चीजों के संपर्क में ला देता है। और, अपने क्रिया–कलाप में, साहित्य शब्दों और विचारों को आपस में जोड़ने का खेल है। यह मन में एक प्रकार का कौशल विकसित कर सकता है, विवाद, वर्णन, मनोरंजन और विनोद की कुछ क्षमता पैदा कर सकता है।

मैंने अँग्रेजी साहित्य में बहुत कुछ नहीं पढ़ा – मैंने कुछ सौ पुस्तकें ही देखी हैं। लेकिन मैं फ्रेंच साहित्य को बहुत अच्छी तरह जानती हूँ – मैंने एक पूरा पुस्तकालय पढ़ रखा है और मैं कह सकती हूँ कि 'सत्य' की दृष्टि से देखें तो उसका कोई अधिक मूल्य नहीं है।

मैं यह नहीं कह सकती कि साहित्य पढ़ने से तुम श्रीअरविन्द को ज्यादा अच्छी तरह समझने के योग्य हो जाते हो। इसके विपरीत, यह बाधक भी हो सकता है। क्योंकि शब्द तो वही होते हैं लेकिन उनका उपयोग श्रीअरविन्द के उपयोग से इतना भिन्न होता है, उन्हें जिस ढंग से इकट्ठा रखा गया है वह श्रीअरविन्द के ढंग से इतना अलग होता है कि ये शब्द तुम्हें उस ज्योति से बहुत दूर कर देते हैं जिस ज्योति का श्रीअरविन्द इन शब्दों के द्वारा वहन करना चाहते हैं। श्रीअरविन्द के प्रकाश तक पहुँचने के लिये हमें अपने मन को साहित्य ने जो कुछ कहा या किया है उन सबसे खाली कर लेना चाहिए। हमें अन्दर पैठ कर ग्रहणशील नीरवता में निवास करना और फिर उसे ऊपर की ओर मोड़ना चाहिए। केवल तभी हम ठीक ढंग से कोई चीज पा सकते हैं। अपने सबसे बुरे रूप में, मैंने देखा है कि साहित्य का अध्ययन आदमी को इतना मूढ़ और विकृत बना देता है कि वह श्रीअरविन्द की अँग्रेज़ी का मूल्य आँकने बैठ जाए और उनके व्याकरण में भूल निकाले!

लेकिन हाँ, मैं साहित्य के अध्ययन को बिल्कुल अस्वीकृत नहीं कर रही। हमारे बच्चों में से बहुत से अनगढ़ अवस्था में हैं और साहित्य उन्हें कुछ रूप, कुछ लचकीलापन दे सकता है। उन्हें कई स्थानों पर काफी तराशने की जरूरत है। उन्हें बड़ा बनाने, सक्रिय और फुर्तीला बनाने की जरूरत है। साहित्य एक प्रकार की जिम्नास्टिक्स का काम देकर, उन्हें झकझोर कर तरुण बुद्धि को जगा सकता है।'[१५]

साहित्य किस प्रकार प्रगति में सहायता कर सकता है?

''यह तुम्हें ज्यादा समझदार होने में, चीजों को ज्यादा अच्छी तरह समझने में, साहित्यिक रूप का बोध पाने में, सुरुचि को प्रशिक्षित करने में, चीजें कहने के अच्छे और बुरे ढंग में चुनाव करने में, अपने भाव को समृद्ध करने में सहायता दे सकता है। यह सैंकड़ों विभिन्न तरीकों से तुम्हें मदद दे सकता है।

प्रगति के बहुत से भिन्न–भिन्न प्रकार हैं। और अगर तुम सर्वांगीण रूप से प्रगति करना चाहो, तो तुम्हें इन सभी दिशाओं में प्रगति करनी होगी। हाँ तो, यह

१५. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १४४–१४५

एक साथ बौद्धिक और कलात्मक प्रगति है, इसमें दोनों मिली रहती हैं। तुम भावों के साथ खेलते हो, उन्हें समझने–योग्य, उनका वर्गीकरण करने और उन्हें व्यवस्थित करने–योग्य बनते हो और साथ ही तुम इन भावों के रूप के साथ, उन्हें अभिव्यक्त करने के तरीकों के साथ, कहने के ढंग के साथ, उन्हें प्रस्तुत करने और समझने लायक बनाने के तरीकों के साथ खेलते हो।'[१६]

किस प्रकार का साहित्य सहायक है?

"देखो, किसी भी उपन्यास को पढ़ने का इसके सिवा और कोई बहाना नहीं हो सकता कि वह असाधारण रूप से अच्छी तरह लिखा गया है और तुम भाषा को सीखना चाहते हो, तो तुम कोई भी चीज पढ़ सकते हो, बशर्ते कि वह अच्छी तरह लिखी गयी हो। जो चीज कही गयी है वह रोचक नहीं है, उसे कहने का ढंग रोचक है। तो पढ़ने का ढंग यह है कि तुम अपना संबंध इसके साथ रखो कि चीज कैसे कही गयी है, इसके साथ नहीं कि क्या कहा गया है, वह रोचक नहीं है। हाँ, उदाहरण के लिए, किताब में हमेशा वर्णन होते हैं; हाँ तो, तुम यह देखो कि यह वर्णन कैसे किए गए हैं और लेखक ने चीजें व्यक्त करने के लिए शब्द कैसे चुने हैं। और विचारों के बारे में भी यही बात है : उसने अपने पात्रों से किस तरह बात करवायी है; वे जो कहते हैं उसमें तुम कोई रस नहीं लेते, तुम इसमें रस लेते हो कि उसे कहा कैसे गया है। अगर तुम कुछ पुस्तकें, पाठ्य पुस्तकें लो, यह सीखने के लिए कि अच्छे वाक्य कैसे लिखे जाते हैं और चीजों को कैसे अभिव्यक्त करना चाहिए, क्योंकि ये पुस्तकें बहुत अच्छी तरह लिखी होती है, तो उनमें क्या कहानी है इसका कोई महत्त्व नहीं। लेकिन अगर तुम पुस्तकों को इस उद्देश्य से पढ़ना शुरू करो कि वे क्या कहती हैं, तो उस हालत में तुम्हें ज्यादा सख्त होना चाहिए और ऐसी चीजें नहीं पढ़नी चाहिए जो तुम्हारी चेतना को अँधेरा बना दें, क्योंकि यह समय का अपव्यय है; यह समय के अपव्यय से भी खराब है। तो, अशिष्ट कहानियों के जैसी चीजें, जो अशिष्ट भाषा में लिखी गयी हों, उनके बारे में तो अब कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इन चीजों को तुम्हें छूना भी नहीं चाहिए।'[१७]

क्या पढ़ना है इसका चुनाव कैसे करें?

किसी जानने वाले से पूछना अधिक अच्छा होगा। अगर तुम किसी ऐसे

---

१६. मातृवाणी, भाग–७, पृष्ठ ३०९ (ऑन दी: एजूकेशन भाग २, पृष्ठ १७८)
१७. मातृवाणी, भाग–७, पृष्ठ ३१० (ऑन दी: एजूकेशन, भाग २, पृष्ठ १७९)

व्यक्ति से पूछो जिसमें कम–से–कम, साहित्य के लिए सुरुचि और कुछ ज्ञान भी है, तो वह तुमसे बुरी तरह लिखी पुस्तकें न पढ़वायेगा।"[१८]

"यह सब इस पर निर्भर है कि इस साहित्य का तुम्हारी कल्पना पर क्या प्रभाव पड़ता है। अगर वह तुम्हारे सिर में अवांछनीय विचार और तुम्हारे प्राण में कामनाएँ भर देता है तो निश्चय ही इस प्रकार की पुस्तकों को पढ़ना बन्द कर देना चाहिए।"[१९]

विद्यार्थियों के लिये हम साहित्य का चुनाव कैसे करें?

"अनगढ़ मन वाले जो कुछ पढ़ते हैं, वह उसके मूल्य की परवाह किए बिना उनमें पैठ जाता है और सत्य के रूप में अपनी छाप छोड़ जाता है। इसलिए उन्हें पढ़ने के लिए जो चीजें दी जाएं उनके चुनाव में बहुत सावधानी बरतनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि इसमें ऐसी चीजों को ही स्थान मिले जो सच्ची और उनके निर्माण के लिए उपयोगी हों।"[२०]

जासूसी कहानियाँ पढ़ने का क्या महत्त्व है?

"यह बिल्कुल ही निरर्थक तो नहीं है। तुम्हारे मन में निःसंदेह तमस् बहुत अधिक है और लेखक की यह मानसिक कलाबाजी इस तमस् को थोड़ा–सा झकझोर कर तुम्हारे मन को जगा देती है। किंतु ऐसा देर तक नहीं टिक सकता और तुम्हें उच्चतर वस्तुओं की ओर मुड़ना होगा।"[२१]

मैं जल्दबाजी में पढ़ता हूँ एवं कठिन हिस्से छोड़ देता हूँ क्या यह गलत है?

"अगर तुम किसी विषय को पूरी तरह से, ईमानदारी के साथ पूरे विस्तार से नहीं सीखना चाहते तो उसे हाथ न लगाना ही ज्यादा अच्छा है। यह मानना एक बहुत बड़ी भूल है कि वस्तुओं के बारे में अधूरा, ऊपरी ज्ञान किसी उपयोग का हो सकता है; यह लोगों का सिर फुला देने के सिवा और किसी काम का नहीं होता क्योंकि वे मान बैठते हैं कि वे जानते हैं, जबकि सचमुच कुछ भी नहीं जानते।"[२२]

---

१८. मातृवाणी, भाग–७, पृष्ठ ३१२ (ऑन दि एजूकेशन, भाग २, पृष्ठ १७९)
१९. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १४३
२०. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १४४
२१. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ ३९०
२२. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १४२

हम पुस्तकें कैसे पढ़ें?

"जो कुछ पढ़ो ध्यान से पढ़ो, और अगर तुम उसे भली–भांति नहीं समझ पाए हो तो फिर से दोबारा पढ़ो।"[२३]

"सीखने के लिए तुम्हें बहुत ध्यान से पढ़ना चाहिए और जो पढ़ना हो उसे बहुत ध्यान से चुनो।"[२४]

अन्य विषय

इतिहास एवं भूगोल

हम इतिहास एवं भूगोल कैसे पढ़ें?

"इतिहास और भूगोल केवल उन मनों को रोचक लग सकते हैं जो इस धरती को जानने के लिए उत्सुक हैं, जिस पर हमारा निवास है।

इन दो विषयों में रस ले सकने से पहले, तुम्हें अपनी ज्ञान की प्यास के क्षितिज को विस्तृत् करना और अपनी चेतना के क्षेत्र को बढ़ाना चाहिए।"[२५]

हम इतिहास तथा पुरानी बातें कैसे पढ़ाएँ?

"भूतकाल के अध्ययन का अपना स्थान है, लेकिन उसे भविष्य के काम में बाधा न देनी चाहिए।"[२६]

"समस्त अध्ययन, कम–से–कम अध्ययन का अधिकांश, भूतकाल के बारे में सीखना ही होता है, उससे आशा की जाती है कि उसके सहारे तुम वर्तमान को ज्यादा अच्छी तरह समझ सकोगे। लेकिन अगर तुम इस खतरे से बचना चाहते हो कि विद्यार्थी कहीं भूत से ही न चिपटे रह जाएं और भविष्य में देखने से इंकार कर दें तो तुम्हें बड़ी सावधानी के साथ उन्हें यह समझाना चाहिए कि भूतकाल में जो कुछ हुआ है उसका उद्देश्य था, आज जो हो रहा है उसकी तैयारी करना और यह कि आज जो कुछ हो रहा है वह भविष्य की ओर ले जाने वाले मार्ग

---

२३. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १४२
२४. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १४३
२५. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ २४९
२६. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ २१८

की तैयारी से बढ़कर कुछ नहीं है। वह भविष्य ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चीज है जिसके लिए हमें तैयारी करनी चाहिए।"[२७]

गणित

हम गणित कैसे पढ़ाएँ?

"रही बात अंक गणित की। मैं लिखित की अपेक्षा *व्यावहारिक* गणित को ज्यादा पसंद करती हूँ, मानसिक गणित की क्षमता के विकास पर जोर देती हूँ। यह ज्यादा कठिन है, लेकिन यह तुम्हारे मानस दर्शन और तर्क–बुद्धि की क्षमता को बहुत विकसित करता है। रटे हुए ज्ञान की जगह सच्ची समझदारी विकसित करने के लिए यह एक समर्थ उपाय है।

जब तुम मानसिक अंक गणित जानते हो और अंक गणित को समझते हो, तो फिर दूसरे गणित के सीखने–समझने में बहुत कम समय लगता है।

समान वस्तुओं की सहायता से – छोटी संख्याओं के लिए तुम स्वयं बच्चों से ही शुरू कर सकते हो और फिर जब दहाई और सैकड़े की बात आए तो कंकड़ या गणक की सहायता ले सकते हो।

इस भाँति, थोड़ा कष्ट उठाकर, तुम उन्हें सभी क्रियाएँ तर्कसंगत रूप में सिखा सकते हो और इस तरह वे बच्चों के लिए वास्तविक, जीवित और ठोस अर्थ ले लेते हैं।"[२८]

किसी गणित के प्रश्न के लिए, कभी तो उसका उत्तर बहुत जल्दी मिल जाता है, कभी बहुत अधिक समय लगता है?

"हाँ, ठीक यही बात है : यह एकाग्रता की मात्रा पर निर्भर है। अगर तुम अपना अवलोकन करो तो यह बात अच्छी तरह देख सकोगे। जब उत्तर नहीं आता तो उसका कारण यह होता है कि दिमाग में एक प्रकार की अस्पष्टता होती है, कुछ मेघाच्छन्न–सा, कहीं पर कुहरे जैसा, और जब तुम वहाँ ऐसे होते हो मानों सपने में हो। तुम उसे पाने के लिए आगे बढ़ते हो परंतु ऐसा लगता है मानों रुई

२७. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ १६९
२८. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ २४९–५०

के फाहों में आगे बढ़ रहे हो, तुम्हें वहाँ स्पष्ट दिखायी नहीं देता इसलिये कुछ नहीं आता। तुम घंटों इसी अवस्था में रह सकते हो।

एकाग्रता ठीक इस बादल को हटाना है। तुम अपनी बुद्धि के सभी तत्त्वों को इकट्ठा करके एक बिंदु पर जमा देते हो और तब सक्रिय रूप से चीज को पाने की कोशिश भी नहीं करते। तुम सिर्फ इतना करते हो कि इस प्रकार एकाग्र हो सको कि केवल प्रश्न ही दिखायी दे – केवल सतह पर ही न दिखायी दे, बल्कि अपनी गहराई में दिखायी दे, जो उसमें छिपा है वह दिखायी दे। अगर तुम अपनी सभी मानसिक ऊर्जाओं को इकट्ठा कर सको, उन्हें एक निश्चित बिंदु पर लाकर समस्या के हल के लिए जमाए रख सको और वहीं बंधे रहो मानों तुम किसी दीवार में छेद करने वाले हो तो अचानक हल आ जायगा। और यही एक तरीका है। अगर तुम कोशिश करो, क्या यह रास्ता है, क्या वह है? . . . तो तुम्हें कुछ न मिलेगा या तुम्हें घंटों लग जाएंगे। तुम्हें अपनी मानसिक शक्तियों को एक बिंदु पर ला सकना चाहिए, इतनी शक्ति के साथ जो शब्दों को छेदकर उनके पीछे की चीज पर पहुँच सके। वही पाने लायक चीज है, उस पर झपट पड़ो।

और हमेशा, उन्हीं दिनों जब तुम जरा अस्पष्ट से होते हो, यह काम ज्यादा मुश्किल हो जाता है। तुम अस्पष्ट होते हो, मानों तुम किसी चीज को पकड़ना चाहते हो और वह तुमसे बच निकलती है।"[२९]

मनोविज्ञान

हम मनोविज्ञान कैसे पढ़ें?

"मुझे लगता है कि योग के बिना मनोविज्ञान निर्जीव है।[३०]

मनोविज्ञान के अध्ययन का अनिवार्य परिणाम होना चाहिए योग[३०], अगर योग सिद्धांत नहीं तो कम–से–कम क्रियात्मक योग।"[३१]

---

२९. मातृवाणी, भाग–५, पृष्ठ १२६, १२७ (साथ ही: एजूकेशन, भाग २, पृष्ठ १५९–६०)

३०. योग शब्द का आशय एक आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक विषय से है – ना शारीरिक व्यायाम से नहीं (जैसाकि आजकल प्रायः गलत समझा जाता है)

३१. मातृवाणी भाग १२, पृष्ठ २४८

विज्ञान

हम विज्ञान कैसे पढ़ें?

"जो एक है उसके भाग मत करो। विज्ञान और आध्यात्मिकता, दोनों का एक ही लक्ष्य है – 'परम भागवत सत्ता।' फर्क बस इतना है कि आध्यात्मिकता यह बात जानती है और विज्ञान नहीं जानता।"[३२]

कला[३३]

कला आमतौर पर विद्यालय के स्तर पर पाठ्यक्रम से अलग देखी जाती है। इस आमधारणा के विपरीत कि कला केवल कुछ लोगों के आराम का साधन है, श्रीमाँ कला को चेतना के विकास में और भावनात्मक एवं सौन्दर्यबोधात्मक व्यक्तित्व के विकास में काफी सहायक मानती हैं। यदि विद्यार्थी को कला के माध्यम से सौन्दर्य अभिव्यक्त करना सिखाया जाय, यदि वह भावना के सूक्ष्म भाव एवं स्पन्दन संगीत अथवा चित्रकला में ग्रहण कर सके, तब युवावस्था में चरित्र के विकास एवं कुलीनता की नींव डालने का कार्य काफी आसान हो जाएगा। परन्तु यह आवश्यक है कि शिक्षक कला द्वारा अभिव्यक्त होने वाले इस गहरे सत्य के प्रति संवदेनशील हो, ताकि वह विद्यार्थी के अन्दर संगीत, चित्रकला एवं चल–चित्र इत्यादि द्वारा एक विवेक एवं सौन्दर्य जगा सके।

कला का क्या महत्त्व है?

"भौतिक स्तर पर भगवान् अपने–आपको सौन्दर्य में प्रकट करते हैं।"

"भौतिक जगत् में और सब चीजों की अपेक्षा सौंदर्य भगवान् को सबसे अच्छी तरह अभिव्यक्त करता है। भौतिक जगत् रूप और आकार का जगत् है; और रूप की पूर्णता ही सौंदर्य है। सौंदर्य 'शाश्वत्' का निर्वचन करता, उसे प्रकट और अभिव्यक्त करता है। उसकी भूमिका है सारी अभिव्यक्त प्रकृति को रूप और

---

३२. मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ २४८

३३ मातृवाणी, भाग–१२, पृष्ठ २३४–४६ जब तक अन्य या उल्लेख न किया गया हो

आकार की पूर्णता के द्वारा, सामंजस्य द्वारा और ऊपर उठाने वाले तथा किसी उच्चत्तर की ओर ले जाने वाले आदर्श के द्वारा 'शाश्वत्' के संपर्क में लाना।

"सच्ची कला का अर्थ है भौतिक जगत् में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति। पूर्णतया परिवर्तित जगत् में, यानी, समग्र रूप से भागवत सद्वस्तु की अभिव्यक्ति में, कला को जीवन में दिव्य सौन्दर्य का प्रकट करने वाला और शिक्षक होना चाहिए।

चित्रकला

चित्रकला क्या अभिव्यक्त करे?

"सभी चीजों के पीछे एक दिव्य सौन्दर्य है, एक दिव्य सामंजस्य है : हमें इसके संपर्क में आना चाहिये; हमें इसे अभिव्यक्त करना चाहिए।"

"तुम ब्योरों में क्यों जाना चाहती हो? यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है। चित्रकला प्रकृति की नकल करने के लिए नहीं है, बल्कि प्रकृति का सौन्दर्य देखकर अनुभव होने वाले संस्कार, भाव, भावना को व्यक्त करने के लिए है। यही चीज मजेदार है और इसीको व्यक्त करना चाहिए।"

हम चित्रकला अच्छी तरह कैसे सीखें?

"सीखने का अर्थ है कोई चित्र बनाने से पहले महीनों पर महीने अध्ययन करना; प्रकृति से अध्ययन करना, पहले लंबे समय तक रेखांकन करना, उसके बाद कहीं जाकर रंग भरना।

अगर तुम नियमित रूप से कठोर अध्ययन करने को तैयार हो, तो शुरू कर सकते हो, वरना प्रयास न करना ज्यादा अच्छा है।"

"...तुम जो चित्रित करते हो उसे अनुभव करना चाहिए और जो करो खुशी से करो।

बहुत–सी सुन्दर चीजों की नकल करो, लेकिन वहाँ भी वस्तुओं के भाव, गहरे जीवन को पकड़ने की कोशिश करो।"

"प्यारी बच्ची,

मैंने तुम्हारे चित्र देखें हैं – वे लगभग पूर्ण हैं। लेकिन उनमें जो कमी है वह तकनीक की नहीं – चेतना की है। अगर तुम अपनी चेतना को विकसित करो तो तुम सहज रूप से खोज लोगी कि अपने–आपको कैसे व्यक्त किया जाय। कोई भी, और विशेषकर कोई औपचारिक शिक्षक, तुम्हें यह चीज नहीं सिखा सकता।

तुम *चालाकियों* के द्वारा चित्रकार बनना नहीं सीख सकतीं – यह तो ऐसा ही होगा जैसे धार्मिक अनुष्ठानों क़ी नकल करके भगवान् को पाने की चाह करना।

सबसे बढ़कर और हमेशा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चीज है *सच्चाई*, निष्कपटता।

अपनी आंतरिक सत्ता को विकसित करो। – अपनी अंतरात्मा को पा लो, और उसके साथ–ही–साथ तुम सच्ची कलात्मक अभिव्यक्ति पा लोगी।"

"...आधुनिक कला एक परीक्षण है, जो केवल भौतिक रंग–रूप से भिन्न कुछ और चीज व्यक्त करना चाहता है, पर अभी है बहुत भद्दा। विचार अच्छा है – लेकिन स्वभावतः अभिव्यक्ति का मूल्य पूरी तरह उसके मूल्य पर निर्भर है जो अपने–आपको अभिव्यक्त करना चाहता है।

आजकल प्रायः सभी कलाकार सबसे निचली प्राणिक और मानसिक चेतना में निवास करते हैं और परिणाम बिल्कुल तुच्छ होते हैं।

अपनी चेतना को विकसित करने की कोशिश करो, अपनी अंतरात्मा को खोजने का प्रयास करो, तब तुम जो करोगी वह सचमुच रसमय होगा।"

क्या चित्रों को देखना हानिकारक है?

"स्वभावतः यह इस पर निर्भर है कि कौनसे चित्र हैं। बहुधा, वे सामान्य जीवन के बारे में होते हैं और इसलिए चेतना को नीचे की ओर खींचते हैं।"

संगीत

हम संगीत कैसे सुनें?

"...उसे छोटी–सी मंडली में सुनना चाहिए, यानी ज्यादा–से–ज्यादा पाँच–छः आदमियों के लिए हो। अगर भीड़ हो तो, बहुधा, वह सामाजिक समारोह हो जाता है और जो वातावरण बनता है वह अच्छा नहीं होता।"

संगीत का मूल्य क्या है?

"तुम्हारे लिये अपने–आपको संगीत और लेखन में व्यस्त रखना हमेशा अच्छा है; क्योंकि तुम्हारी प्रकृति को इसमें अपना अंतर्जात कार्य मिल जाता है और यह प्राणिक ऊर्जा को सहारा देता और संतुलन बनाए रखता है।"

हम किसी और के संगीत के भाव में कैसे प्रवेश कर सकते हैं?

"उसी तरह जैसे तुम सहानुभूति, सहजता, कम या ज्यादा गहरी सजातीयता या फिर गहरी एकाग्रता के द्वारा – जो अंत में तादात्म्य बन जाती है – के द्वारा दूसरों के भावों में भाग लेता है। जब तुम तीव्र, घनी एकाग्रता के साथ संगीत सुनते हो यहाँ तक कि मस्तिष्क के अंदर के, और सारे शोर को बंद करके पूर्ण नीरवता प्राप्त कर लेते हो तो ऊपर कही गयी अंतिम पद्धति का अनुसरण होता है। संगीत के स्वर बूँद–बूँद करके उस नीरवता में गिरते हैं और केवल वही एक शब्द रहता है; और उस ध्वनि के साथ सभी भावनाएँ, सभी भावों की गतियाँ इस तरह देखी और अनुभव की जाती हैं मानों वे स्वयं हमारे अंदर पैदा हो रही हों।"

हम संगीत के गुण को कैसे आँक सकते हैं?

"संगीत का काम है चेतना को आध्यात्मिक ऊँचाइयों तक उठाने में सहायता करना।

वह सब जो चेतना को नीचा करता है, कामनाओं को प्रोत्साहित करता और आवेगों को जगाता है, संगीत के सच्चे लक्ष्य के विरुद्ध है और उससे बचना चाहिए।

यह नाम का नहीं, प्रेरणा का प्रश्न है और केवल आध्यात्मिक चेतना ही इसमें निर्णायक हो सकती है।"

कविता

सच्ची कविता क्या है?

"कविता आत्मा की संवेदनशीलता है।"

"मेरे लिए सच्ची कविता समस्त दर्शन और समस्त व्याख्या से परे है।"

फोटोग्राफी

फोटोग्राफी का मूल्य क्या है?

"आधुनिक फोटोग्राफी एक कला बन गयी है और अन्य कलाओं की तरह, सार्थक रूप में, सच्चे सौंदर्य–बोध के साथ अंतरात्मा की आंतरिक भावनाओं को व्यक्त कर सकती है।"

सिनेमा

सिनेमा का विद्यार्थियों की प्रगति के लिए कैसे उपयोग किया जा सकता है?

"अगर तुम्हारे अंदर सच्ची वृत्ति हो तो हर चीज कुछ सीखने का अवसर होती है।"

"हम चाहेंगे कि बच्चों को ऐसे जीवन के चित्र दिखा सकें जैसा वह होना चाहिए, लेकिन हम उस बिन्दु तक नहीं पहुँचे हैं, उससे अभी दूर हैं। ऐसी फिल्में अभी तक बनी नहीं हैं। और अभी तो, बहुधा, सिनेमा ऐसा जीवन दिखलाता है जैसा नहीं होना चाहिए, वह इतनी तीव्रता से दिखाया जाता है कि तुम्हें जीवन से घृणा हो जाती है।

यह भी तैयारी के रूप में उपयोगी है।"

हम फिल्में कैसे देखें ताकि चरित्रों से प्रभावित हुए बिना उनकी सही प्रशंसा कर सकें?

"प्राण के ऊपर प्रभाव पड़ता है और वही द्रवित होता है।

अगर तुम मानसिक रूप से देखो, तो वही रुचि नहीं रहती; कष्ट पाने या द्रवित होने की जगह तुम शांति के साथ फिल्म का मूल्यांकन कर सकते हो, तुम देख सकते हो कि वह ठीक तरह बनी है या नहीं, अभिनय अच्छा है या नहीं और चित्रों का कोई कलात्मक मूल्य है या नहीं।

पहली अवस्था में तुम 'अच्छे दर्शक' हो, दूसरी में तुम ज्यादा शांत होते हो।"

अध्याय–४

मूल्यांकन

व्यावहारिक मार्गदर्शन

"मुझे यह लगता है कि परीक्षा यह जानने का दकियानूसी और व्यर्थ उपाय है कि विद्यार्थी समझदार, इच्छुक और एकाग्र हैं या नहीं।

यदि स्मरण–शक्ति अच्छी हो तो एक मूढ़, यांत्रिक मन भी परीक्षा में अच्छी तरह से उत्तीर्ण हो सकता है। और निश्चय ही भावी मनुष्य के लिए इन गुणों की जरूरत नहीं है।"[1]

श्रीमाँ ने यह बात १९६७ में कहीं थी–समाज के समझ पाने के कहीं पहले–जैसा कि यह धीरे–धीरे आज समझ रहा है–परीक्षाएं व्यक्ति के ज्ञान या सही उपयोगिता के मूल्यांकन में अक्षम हैं।

जिस तरह हम आधुनिक काल में, मूल्यांकन के सर्वांगीण तरीके ढूंढ रहे हैं, उसमें श्रीमाँ की अन्तर्दृष्टि एक मार्गदर्शन के रूप में हमारे काम आ सकती है।

परीक्षाओं के प्रति हमारी क्या दृष्टि होनी चाहिये?

"परीक्षाएं तुम्हें बच्चे का पंडिताऊ मूल्य बताने के लिए उपयोगी हैं, लेकिन उसका *असली* मूल्य बताने के लिए नहीं हैं।"[2]

---

१. मातृवाणी भाग १२, पृष्ठ–२०३

२. मातृवाणी भाग–१२, पृष्ठ–३२७

विद्यार्थियों के मूल्यांकन का सही तरीका क्या है?

"वर्ष के अंत में तुम विद्यार्थियों के बारे में टिप्पणियां दोगे जो लिखित उत्तर पत्रों पर आधारित न होकर, उनके व्यवहार, उनकी एकाग्रता, उनकी नियमितता, उनकी तुरन्त समझने की क्षमता और बुद्धि के खुले होने पर आधारित होंगी।

अपने लिये, तुम इसे एक साधना के रूप में लोगे, तुम्हें अधिक आंतरिक संपर्क, तीक्ष्ण अवलोकन और निष्पक्ष दृष्टि पर भरोसा करना होगा।

विद्यार्थियों के लिए यह जरूरी होगा कि बिना पूरी तरह समझे तोतारटन्त करने की जगह, जो पढ़ते हैं उसे सचमुच समझें इस भाँति शिक्षा में एक सच्ची प्रगति होगी।"[3]

"निश्चय ही अध्यापक को यह जानने के लिये कि विद्यार्थी ने कुछ सीखा है, कोई प्रगति की है, विद्यार्थी को परखना होगा। परंतु यह परख व्यक्तिगत और हर विद्यार्थी के अनुकूल होनी चाहिये, सबके लिए एक ही यांत्रिक परख नहीं। वह एक सहज और अप्रत्याशित परख होनी चाहिये जिसमें कपट और दिखावे का स्थान न हो। यह भी स्वाभाविक है कि अध्यापक के लिये यह बहुत ज्यादा कठिन है लेकिन साथ ही बहुत ज्यादा जीवित–जाग्रत और मजेदार भी।"

आपके छात्रों की बाबत आपकी टिप्पणियाँ मुझे अच्छी लगी। इससे यह प्रमाणित होता है कि उनके साथ आपका व्यक्तिगत सम्बन्ध है – अच्छी शिक्षा के लिए यह जरूरी है।

जो निष्ठावान नहीं है वे वस्तुतः सीखना नहीं बल्कि अध्यापक से अच्छे अंक अथवा शाबाशी लेना चाहते हैं –वे रुचिपूर्ण नहीं होते।"[4]

अगर परीक्षाएं हटा दी जायें, तो यह जानने के लिए कि क्या विद्यार्थी अच्छा है, अध्यापक को जरा अधिक आन्तरिक सम्पर्क और मनोवैज्ञानिक ज्ञान की जरूरत होगी।"[5]

परीक्षाओं में नकल से कैसे पेश आयें?

यह बहुत सरल है। यह इसलिये होता है क्योंकि बहुत–से बच्चे इसलिये पढ़ते हैं कि उनके घर वाले रिवाज और प्रचलित विचारों के कारण इसके लिये

---

३. मातृवाणी भाग–१२, पृष्ठ–२०२–२०३

४. मातृवाणी भाग–१२, पृष्ठ, २०३–२०४

५. मातृवाणी भाग–१२, पृष्ठ, २०३

बाधित करते हैं, वे *जानने* और *सीखने* के लिये नहीं पढ़ते। जब तक पढ़ने का उद्देश्य नहीं बदला जाता, जब तक कि वे इसलिये नहीं पढ़ते कि वे *जानना चाहते हैं, तब* तक वे अपना काम आसान बना लेने और कम–से–कम प्रयास के साथ परिणाम पाने के लिये सब प्रकार की चालाकियाँ खोजते रहेंगे।[६]

परीक्षाएं एवं प्रमाणपत्र क्यों हानिप्रद हैं?

"लगभग एक शताब्दी से मानव जाति एक रोग से पीड़ित है जो अधिकाधिक बढ़ता ही दीख रहा है और आज वह अपनी चरम अवस्था पर आ पहुंचा है; इसे हम "उपयोगितावाद" कहते हैं। ऐसा लगता है कि चीजों और मनुष्यों को, परिस्थितियों और कर्म को अनन्य रूप से उसी एक दृष्टिकोण से विचारा और सराहा जाता है। जिसकी कोई उपयोगिता नहीं उसका कोई मोल नहीं। यह ठीक है कि जो उपयोगी है वह निरुपयोगी से बेहतर है। लेकिन पहले यह समझ लेना चाहिये कि मनुष्य किसे उपयोगी मानता है– उपयोगी किसके लिये, किसके प्रति, किसलिये?

और, उत्तरोत्तर, वे जातियां जो अपने को सभ्य समझती हैं उसी चीज को उपयोगी कहती हैं जो धन ला सके, कमा सके या पैदा कर सके। सबका निर्णय और मूल्यांकन उसी एक आर्थिक दृष्टिकोण से किया जाता है। मैं इसे ही उपयोगितावाद कहती हूं। और यह रोग बहुत ही संक्रमण है, क्योंकि बच्चे भी इससे अछूते नहीं रहते।

उस उम्र में जब कि सुन्दरता, भव्यता और पूर्णता के सपने संजोये जाने चाहिये, ऐसे सपने जो शायद सामान्य अर्थों से कहीं अधिक उदात्त होते हैं, पर जो निश्चय ही कुण्ठित सामान्य बुद्धि से उच्चतर हैं, आजकल बच्चे पैसे– के सपने देखते हैं और उसे कमाने के साधनों के बारे में चिंतातुर रहते हैं।

इसी तरह जब वे अपनी पढ़ाई के बारे में सोचते हैं तो उस सब पर विचार करते हैं जो आगे चलकर उनके लिए उपयोगी हो सके ताकि जब वे बड़े हों तो बहुत–सा धन कमा सकें।

---

६. मातृवाणी भाग–१२, पृष्ठ–२०२

और परीक्षाओं में सफल होने के लिये तैयारी करना उनके लिये सबसे महत्त्वपूर्ण बन गया है, क्योंकि डिप्लोमा, सर्टिफिकेट और उपाधि ही उन्हें उच्च पद प्राप्त करा सकते हैं और इनकी सहायता से धन भी खूब कमा सकते हैं।

उनके लिए पढ़ाई का न कोई और उद्देश्य है, न महत्त्व।

ज्ञान के लिये सीखना, प्रकृति और जीवन के रहस्यों को जानने के लिये पढ़ना, चेतना को विकसित करने के लिये अपने–आपको शिक्षित करना, आत्मप्रभुत्व पाने के लिये स्वयं को अनुशासित करना, अपनी दुर्बलताओं, अक्षमताओं और अज्ञताओं को अतिक्रम करने के लिए पढ़ना, जीवन में अधिक उच्च, विशाल, उदार और सच्चे उद्देश्य की ओर बढ़ने के लिये अपने–आपको तैयार करना.. यह तो वे सोच ही नहीं सकते, इसे तो वे कपोल–कल्पना ही समझते हैं। बस, एक ही चीज महत्त्वपूर्ण है–व्यावहारिक होना, धन कमाना सीखना और उसके लिये अपने को तैयार करना।

आश्रम का यह "शिक्षा–केन्द्र" उन बच्चों के लिये उपयुक्त स्थान नहीं है जो इस रोग के शिकार हैं। और उनके आगे इस बात को अच्छी तरह प्रमाणित कर देने के लिये ही हम उन्हें किसी प्रकार की परीक्षा के लिये या किसी सरकारी प्रतियोगिता के लिये तैयार नहीं करते और न ही उन्हें कोई डिप्लोमा या उपाधि देते हैं जो बाहरी दुनिया में उनके काम आ सके।

हम यहां केवल उन्हीं बच्चों को चाहते हैं जो एक उच्चतर और श्रेष्ठतर जीवन की अभीप्सा करते हैं, जिनमें ज्ञान और पूर्णता की प्यास है, जो एक पूर्णतर सच्चे भविष्य की ओर उत्कटता से निहारते हैं।"[७]

सही न्याय कैसे करें?

"किसी कक्षा के लिये विद्यार्थी रूढ़िगत परीक्षाओं द्वारा नहीं चुने जा सकते। यह अपने अंदर सच्चा मनोवैज्ञानिक भान उत्पन्न करने से ही हो सकता है।

जो बच्चे सीखना चाहते हैं उन्हें चुन लो, उन्हें नहीं जो किसी तरह धक्का देकर आगे आना चाहते हैं।"[८]

---

७. मातृवाणी भाग–१२, पृष्ठ–३५३–३५४

८. मातृवाणी भाग–१२, पृष्ठ–१६६

"खेलों की प्रतियोगिताओं से सम्बंध रखने वाली जो कई बड़ी–बड़ी समस्याएं हैं, उनमें एक है ठीक–ठीक निर्णय देने की समस्या।

इस विषय में जिन–जिन संघर्षों और विवादों का उत्पन्न होना अन्य अवस्थाओं में अवश्यंभावी होता, उनसे बचने के उद्देश्य से सदा के लिये एकबारगी यह निश्चित कर दिया गया है कि प्रतियोगिताओं में भाग लेने वालों को जजों या पंचों के निर्णय को निर्विवाद स्वीकार कर लेना होगा। इस बात से जहां तक विचाराधीन व्यक्तियों का सम्बंध है वहां तक तो इस समस्या का समाधान हो जाता है, पर निर्णय करने वाले व्यक्तियों का जहां तक सम्बंध है, इसका कोई समाधान नहीं होता; क्योंकि, अगर वे सच्चे हों तो उन पर जितना अधिक विश्वास किया जायगा उतना ही अधिक उन्हें अपने निर्णय में पूर्ण रूप से निर्भ्रान्त होने के लिये सावधानी रखनी होगी। यही कारण है कि एकदम आरंभ में ही मैं उन सब मामलों को रद्द कर देती हूं जिनमें कि नीति के कारण या ऐसे ही कारणों से पहले ही निर्णय कर दिया गया होता है। क्योंकि, यद्यपि दुर्भाग्यवश प्रायः ही पर्याप्त अवसरों पर ऐसा ही किया जाता है, तो भी प्रायः सब लोग इस बात पर सहमत होंगे कि ऐसा करना नीचता है और मनुष्य की मर्यादा यह नहीं चाहती कि इस तरह की बात की जाय।

साधारणतया, लोग यह समझते हैं कि अगर निर्णय खेलों के नियमादि के गंभीर ज्ञान और पर्याप्त निष्पक्षता पर आश्रित हों तो फिर कोई हर्ज नहीं। ऐसा निर्णय इंद्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान पर निर्भर होता है और प्रायः ही लोग उसे ऐसी चीज समझते हैं जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पर, जो हो, यदि वास्तव में देखा जाय तो इस तरह प्राप्त किया हुआ ज्ञान स्वयं निर्भ्रान्त नहीं होता। ये इंद्रियां उस व्यक्ति की आंतरिक अवस्था के सीधे प्रभाव में होती हैं जो उनका उपयोग करता है, और इसलिये दृश्य वस्तु के विषय में द्रष्टा का जो भी मनोभाव होता है उसके द्वारा एक–न–एक प्रकार से इंद्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान परिवर्तित, मिथ्या और विकृत हो जाता है।

उदाहरणार्थ, जो लोग किसी एक दल या संस्था के होते हैं, वे या तो उस दल के सदस्यों के प्रति बहुत नरम होते हैं या अनुचित रूप से सख्त होते हैं। सत्य की दृष्टि से देखा जाय तो, चाहे नर्मी हो या सख्ती, कोई भी एक–दूसरे

है।?" से अधिक मूल्य नहीं रखती, क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में निर्णय आंतरिक भावना के ऊपर आश्रित होता है, न कि तथ्यों के वास्तविक और अनासक्त ज्ञान पर। यह बात बहुत स्पष्ट है, पर इस हद तक यदि न भी जाया जाय, तो भी यह कहा जा सकता है कि कोई भी मनुष्य, यदि वह योगी न हो तो, इन सब आकर्षणों और विकर्षणों से मुक्त नहीं होता और इन सब चीजों को बहुत कम ही लोग अपनी ऊपरी सक्रिय चेतना में देख पाते हैं, जबकि ये इंद्रियों की क्रियाओं पर बहुत अधिक प्रभाव डालती हैं।

जो मनुष्य पसंदगी और नापसंदगी से, कामनाओं–वासनाओं से और अपनी अभिरुचियों से एकदम ऊपर उठ गया है, वही प्रत्येक चीज की ओर पूर्ण निष्पक्षता के साथ देख सकता है; उसकी इंद्रियों की विशुद्ध रूप से वस्तुनिष्ठ दृष्टि पूर्णता–प्राप्त मशीन की तरह बन जाती है जिसके ज्ञान के साथ सजीव चेतना की उज्ज्वलता जुड़ी हो।

यहां भी यौगिक साधना हमारी सहायता कर सकती है और उसके द्वारा हम इतने ऊंचे चरित्रों का निर्माण कर सकते हैं कि वे सत्य के यंत्र बन सकें।[६]

---

६ मातृवाणी भाग–१२ पृष्ठ–२६५–२६६

अध्याय-५

इसका जीवन तुम्हारे हाथ में है
एक कहानी

पर्वतों के अंचल में बसा हुआ एक गाँव था जिसमें एक महात्मा जी रहते थे। महात्मा जी बड़े बुद्धिमान और ज्ञानी थे। गाँव के लोग प्रतिदिन महात्मा जी के पास इकट्ठा होते थे और महात्मा जी उन्हें हमेशा विवेक और ज्ञान की शिक्षा देते थे। बहुत से लोग उनके पास इसलिये भी आते थे क्योंकि साधु से उन्हें बहुत कुछ प्राप्त होता था। एक लड़के ने– जो प्राय: नित्य ही इन चीजों को देखा करता था–महात्मा जी की परीक्षा लेने का निश्चय किया। लड़का यह जानना चाहता था कि महात्मा जी क्या सचमुच में ऐसे ज्ञानी हैं, जो सब कुछ जानते हैं। लड़के ने एक तितली अपने अंगूठे और तर्जनी अंगुली के बीच हाथ में ली और साधु के पास जाकर पूछा–"महात्मा जी बताइये यह तितली जीवित है अथवा मृत?" इस परीक्षा के पीछे लड़के का असली इरादा यह था कि यदि साधु ने इसे मरी हुई बताया तो वह तितली को स्वतंत्र कर देगा ताकि वह उड़ जाए। और यदि उसने जीवित कहा तो वह तितली को अपनी अंगुलियों से मसल कर मार देगा। इसीलिए अपनी योजना के अनुसार लड़के ने महात्मा जी से प्रश्न किया कि– "यह जीवित है अथवा मृत?" साधु ने लड़के की ओर देखा और अपनी कोमल एवं शांत, स्मित वाणी में उत्तर दिया– "इसका जीवन तुम्हारे हाथ में

चिन्तन–[2]

हमारे शिक्षकों तथा अभिभावकों के लिए इस कहानी का विशेष महत्व है। जैसा कि हम जानते हैं कि एक बच्चा तितली के समान है जो अभी बिलकुल नवीन, कोमल, सुन्दर और छोटा है तथा एक विकसनशील आत्मा है। वह हमारे हाथों में देख रेख के लिए सौंपा गया है और हम उसे जैसा चाहें वैसा ढाल सकते हैं। बच्चे न तो अभिभावक की सम्पत्ति हैं और न ही शिक्षक अथवा समाज की, अपितु बच्चे का अपना स्वयं का *स्वधर्म* है। और इसीलिए एक तितली की भाँति बच्चे का जीवन भी हमारे हाथों में है। चाहे उसे बनायें या बिगाड़ें–यह सर्वथा हमारे हाथ में है।

तो इस जीवित और मृत का तात्पर्य क्या है? बच्चा किस तरह जीवित रह सकता है और किस तरह मर सकता है यही सारा मूल प्रश्न है जो हमारी शिक्षा का है।

१,२–ए न्यू एजुकेशन फॉर ए न्यू इण्डिया : इण्टीग्रल एजुकेशन।
नॉस्टिक सेंटर नई दिल्ली द्वारा प्रसारित

भाग–५

शिक्षा एवं मानव जीवन का लक्ष्य

मानव जीवन शिक्षा से किस तरह सम्बन्धित है? एक शिक्षक को मानव प्राणी के विषय में अनिवार्य रूप से क्या समझना चाहिये ताकि वह अपने कर्तव्य का निर्वाह अच्छी तरह प्रभावपूर्ण ढंग से करने में समर्थ हो? मस्तिष्क का विकास, भावनाओं पर कार्य, शरीर को शक्तिशाली बनाना क्यों आवश्यक है? पूर्णता क्यों महत्वपूर्ण है?

यह भाग इन प्रश्नों पर अपनी अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है और मानव प्राणियों के संघटन तथा उनकी प्रवृत्तियों के निर्धारण पर–जो कि शिक्षकों के स्वयं के प्रशिक्षण के लिये महत्वपूर्ण पक्ष है, क्योंकि इनसे जुड़ने पर ही इनके गहरे एवं विशाल अभिप्राय को निष्पादित किया जा सकता है।

इस भाग में नीचे लिखे अनुसार अध्याय शामिल हैं :–

१. **जीवन विज्ञान**
- जीवन का लक्ष्य ध्यान पत्रक
- आत्मचिन्तन परक प्रश्न

२. **सर्वांगीण व्यक्तित्व**
- संकेन्द्रित प्रणाली
- सत्ता के प्रमुख भाग एवं स्तर

  रेखाचित्र ५ सर्वांगीण व्यक्तित्व

३. **आन्तरिक एवं बाह्य प्रवृत्तियाँ**
- बाह्य सत्ता की प्रवृत्तियाँ
- आन्तरिक प्रवृत्तियाँ
- आत्म–ज्ञान कार्य पत्रक

४. **फूलों के लिये आशा (एक कहानी)**

अध्याय–१

जीवन–विज्ञान

(अपने–आपको जानना और संयत करना)

लक्ष्यहीन जीवन दुःखी जीवन होता है।

तुममें से प्रत्येक का अपना लक्ष्य होना चाहिये। परंतु यह कभी न भूलना कि तुम्हारे लक्ष्य के गुणों पर जीवन के गुण निर्भर होंगे।

तुम्हारा लक्ष्य होना चाहिए उच्च और विशाल, उदार और निष्काम। तब तुम्हारा जीवन तुम्हारे अपने लिए और दूसरों के लिए भी बहुमूल्य हो जाएगा।

परंतु तुम्हारा आदर्श चाहे जो भी हो, तुम उसे तब तक पूर्ण रूप से नहीं प्राप्त कर सकते जब तक कि तुम अपने अंदर पूर्णता नहीं पा लेते।

अपनी पूर्णता प्राप्त करने के लिये सबसे पहला पग है अपने विषय में सचेतन होना, अपनी सत्ता के विभिन्न अंगों और उनकी अलग–अलग क्रियाओं के विषय में सचेतन होना। तुम्हें इन सब अंगों को एक–दूसरे से अलग करके देखना और पहचानना सीखना चाहिये ताकि तुम स्पष्ट रूप से यह पता लगा सको कि तुम्हारे अंदर जो सब क्रियाएँ होती हैं, तुम्हें कर्म में जोतने वाले जो अनेक प्रकार के

आवेग–प्रवेग, प्रतिक्रियाएँ और परस्पर–विरोधी इच्छाएं तुम्हारे अंदर उठती हैं, उन सबका मूल कहाँ है। यह एक श्रमसाध्य अध्ययन होगा और इसके लिए बहुत अधिक लगन और सच्चाई की आवश्यकता है। क्योंकि मानव स्वभाव की, विशेषकर मन के स्वभाव की यह एक सहज–प्रवृत्ति है कि हम जो कुछ सोचते, अनुभव करते, कहते और करते हैं उसकी हम एक अनुकूल व्याख्या दे डालते हैं। जब हम बहुत अधिक सावधानी के साथ इन सब क्रियाओं को देखेंगे, मानों इन्हें अपने उच्चतम आदर्श के न्यायालय में पेश करेंगे और उसके निर्णय के सामने झुक जाने को एक सच्चा संकल्प बनाये रखेंगे, केवल तभी हम यह आशा कर सकते हैं कि हमारे अंदर एक ऐसा विवेक उत्पन्न होगा जो कभी भूल न करे। अगर हम सचमुच उन्नति करना और अपनी सत्ता के सत्य को जानने की क्षमता प्राप्त करना चाहते हैं, अर्थात्, उस एक बात को जान लेना चाहते हैं जिसके लिये वास्तव में हमने जन्म लिया है, जिसे हम इस पृथ्वी पर अपना उद्देश्य कह सकते हैं, तो फिर, जो चीजें हमारी सत्ता के सत्य का खंडन करती हैं, जो चीजें उसका विरोध करती हैं, उन सबको हमें खूब नियमित रूप से और निरंतर होने वाली एक क्रिया के द्वारा अपने अंदर से निकालते रहना होगा अथवा उन्हें अपने अंदर नष्ट करते रहना होगा। बस, इसी तरह धीरे–धीरे हमारी सत्ता के सभी भाग, सभी अंग संघटित होकर हमारे चैत्य केन्द्र के इर्द–गिर्द एक पूर्ण सुसमंजस वस्तु का रूप ग्रहण कर सकेंगे। इस एकीकरण के कार्य को एक हदतक पूर्णता प्राप्त कराने के लिये एक लंबे समय की आवश्यकता होती है। इसीलिये, इसे सिद्ध करने के लिये, हमें धैर्य और सहनशीलता–रूपी अस्त्रों से सुसज्जित होना चाहिये और यह निश्चय कर लेना चाहिये कि अपने प्रयास को सफल बनाने के लिये जितने दिनों तक अपना जीवन बनाये रखने की आवश्यकता होगी उतने दिनों तक बनाये रखेंगे।

और इस पवित्रीकरण और एकीकरण का प्रयास करने के साथ–ही–साथ हमें अपनी सत्ता के यंत्रवत् काम करने वाले बाहरी भाग को पूर्ण बनाने की ओर भी बहुत अधिक ध्यान देना चाहिये। जब उच्चतर सत्य अभिव्यक्त होना चाहे तब उसे तुम्हारे अंदर एक ऐसी मनोमय सत्ता मिलनी चाहिये जो पर्याप्त रूप में सूक्ष्म और समृद्ध हो, जो प्रकट होने की चेष्टा करने वाली भावना को विचार का एक ऐसा रूप देने में समर्थ हो जो उसकी शक्ति और स्पष्टता की रक्षा कर सके। फिर, वह विचार जब शब्दों का जामा पहनने की चेष्टा करे तब तुम्हारे अंदर उसे

अपने को व्यक्त करने की यथेष्ट शक्ति प्राप्त हो ताकि शब्द उस विचार को प्रकाशित कर सकें और उसे विकृत न कर डालें। और जिस सिद्धांत के अंदर तुम सत्य को मूर्तिमान करते हो, उसे तुम्हारे सभी मनोभावों, तुम्हारी सभी इच्छाओं और क्रियाओं, तुम्हारी सत्ता के सभी क्रिया–कलापों में झलकते रहना चाहिये। और अंत में, निरंतर प्रयास के द्वारा, स्वयं इन सब क्रियाओं को भी अपनी उच्चतम पूर्णता प्राप्त करनी चाहिये।

यह सब एक चतुर्विध साधना के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, जिसकी साधारण रूप–रेखा हम यहाँ दे रहे हैं। इस साधना के ये चारों रूप एक–दूसरे से अलग–अलग नहीं हैं, इनका अनुसरण मनुष्य एक साथ ही कर सकता है; वास्तव में, ऐसा करना ही अधिक अच्छा है। इस साधना का जहाँ से आरंभ होता है उसे हम चैत्य साधना कह सकते हैं। हम अपनी सत्ता की अंतश्चेतना के केन्द्र को अपने जीवन के उच्चतम सत्य के अंतरधाम को "चैत्य" नाम से पुकारते हैं, यही वह केन्द्र है जो इस सत्य को जान सकता है और अभिव्यक्त कर सकता है। अतएव, हमारे लिये सबसे प्रधान बात यह है कि हम अपने अंदर इसकी उपस्थिति के ऊपर ध्यान एकाग्र करें और अपने लिये इसे एक जीवंत सत्य बना लें और इसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लें।

इस सचेतनता को प्राप्त करने के लिये और अंत में इस तादात्म्य को सिद्ध करने के लिये देश और काल के अंतर्गत बहुत–सी पद्धतियाँ निश्चित की गयी हैं और कुछ यांत्रिक भी हैं। सच पूछा जाय तो प्रत्येक मनुष्य को वह पद्धति ढूँढ़ निकालनी होगी जो उसके लिये सबसे अधिक उपयुक्त हो। और अगर साधक में सच्ची और सुदृढ़ अभीप्सा हो, अटूट और सक्रिय संकल्प–शक्ति हो तो यह निश्चित है कि वह एक–न–एक तरीके से, बाहर से अध्ययन और उपदेश के द्वारा, भीतर से एकाग्रता, ध्यान, अनुभव और दर्शन के द्वारा उस सहायता को अवश्य पायेगा जो लक्ष्य तक पहुँचने के लिये उसके लिये आवश्यक है। केवल एक ही चीज है जो पूर्ण रूप से अनिवार्य है और वह है उसे खोज निकालने और प्राप्त करने का संकल्प। यह खोजने और प्राप्त करने का प्रयास ही जीव का सबसे पहला कार्य होना चाहिये, यही वह बहुमूल्य मोती है जिसे हमें चाहे किसी भी मूल्य पर प्राप्त करना चाहिये। तुम चाहे जो कुछ करो, तुम्हारा व्यवसाय और कार्य जो भी हो, अपनी सत्ता के सत्य को पाने और उसके साथ युक्त होने का तुम्हारा संकल्प

बराबर ही जीवंत बना रहना चाहिये, जो कुछ तुम करते हो, जो कुछ तुम अनुभव करते हो और जो कुछ तुम विचार करते हो, उस सबके पीछे उसे सदा विद्यमान रहना चाहिये।

आंतरिक खोज की इस क्रिया को पूरा करने के लिये यह अच्छा है कि मानसिक विकास की उपेक्षा न की जाय। क्योंकि हमारा मनोमय यंत्र एक समान ही हमारा बहुत बड़ा सहायक या बहुत बड़ा बाधक हो सकता है। अपनी सबसे स्वाभाविक स्थिति में मानव मन बराबर ही अपनी दृष्टि में सीमित होता है, अपनी समझ में संकीर्ण और अपनी परिकल्पनाओं में कठोर। और इसे विशाल, गंभीर और नमनीय बनाने के लिये कुछ प्रयास की आवश्यकता होती है। इसलिये यह बहुत आवश्यक है कि मनुष्य प्रत्येक बात पर जितने दृष्टिकोण से विचार करना संभव हो उतने दृष्टिकोणों से विचार करे। इस विषय से संबंधित एक अभ्यास ऐसा है जो विचार में बहुत अधिक नमनीयता और ऊँचाई ला देता है। वह इस प्रकार है : स्पष्ट रूप से प्रकट की गयी एक प्रतिज्ञा – एक प्रतिपाद्य मत सामने रख देना चाहिये, फिर उसके मुकाबले में उसका विरोधी मत भी ला उपस्थित करना चाहिये जो वैसी ही सूक्ष्मता के साथ प्रकट किया गया हो। फिर, सावधानी के साथ सोचते–विचारते हुए उस समस्या को विस्तारित करना चाहिये अथवा उसका अतिक्रमण करना चाहिये, ताकि एक ऐसा समन्वय प्राप्त हो जाय जो उन अत्यंत विरोधी मतों को भी एक विशालतर, उच्चतर और अधिक व्यापक भावना के अंदर युक्त कर दे।

इसी तरह के बहुत–से अभ्यास काम में लाये जा सकते हैं; ऐसे कुछ अभ्यासों का चरित्र के ऊपर लाभदायी प्रभाव पड़ता है और इसलिये वे द्विविध लाभ प्रदान करते हैं – एक ओर तो वे मन को विकसित करते हैं और दूसरी ओर मनुष्य के अनुभवों और उनके परिणामों के ऊपर संयम स्थापित करते हैं। उदाहरणार्थ, तुम्हें वस्तुओं और लोगों के विषय में अपने मन को कोई निर्णय नहीं करने देना चाहिये, क्योंकि मन ज्ञान का यंत्र नहीं है – यह तो ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है – बल्कि इसे स्वयं ज्ञान के द्वारा चालित होना चाहिये। ज्ञान तो उस क्षेत्र की चीज है जो मानव मन के क्षेत्र से बहुत ऊपर है, यहाँ तक कि वह शुद्ध भावनाओं के क्षेत्र से भी परे है। मन को निश्चल–नीरव और सतर्क बनाना होगा ताकि वह ऊपर से ज्ञान को ग्रहण कर सके और उसे अभिव्यक्त कर सके, क्योंकि वह रूप देने, संघटन

करने और कार्य करने का यंत्र है। वास्तव में, इन्हीं कार्यों के अंदर वह अपने पूरे मूल्य और यथार्थ उपयोगिता को प्राप्त करता है।

एक दूसरा अभ्यास है जो चेतना की प्रगति में बहुत अधिक सहायक हो सकता है। जब कभी किसी विषय पर मतभेद हो, जैसे कि कोई निर्णय करने के समय अथवा कोई कार्य पूरा करने के समय, तब हमें कभी अपनी धारणा या दृष्टिकोण से चिपके नहीं रहना चाहिये। बल्कि, इसके विपरीत, हमें दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास करना चाहिये, अपने–आपको उसके स्थान पर रख देना चाहिये और तर्क–वितर्क या यहाँ तक कि, लड़ाई–झगड़ा करने के बदले, एक ऐसा समाधान ढूँढ निकालना चाहिये जो दोनों पक्षों को युक्तिसंगत ढंग से संतुष्ट कर सके; सदिच्छा–संपन्न मनुष्यों के लिये बराबर ही ऐसा एक समाधान तैयार रहता है।

यहाँ पर अब प्राण को विकसित करने की चर्चा भी अवश्य करनी चाहिये। हमारे अंदर यह प्राणमय सत्ता ही आवेग–प्रवेग और कामना–वासना का, उत्साह और तीव्रता का, क्रियात्मक शक्ति और निराशापूर्ण अवसाद का, उत्तेजना और विद्रोह का घर है, यह प्रत्येक चीज को गति प्रदान कर सकती, गढ़ सकती और सिद्ध कर सकती है, साथ ही यह प्रत्येक चीज को तोड़–फोड़ और नष्ट भी कर सकती है। ऐसा मालूम होता है कि मनुष्य के अंदर यही भाग ऐसा है जिसे उन्नत करना सबसे अधिक कठिन है। इसे उन्नत करना दीर्घ परिश्रम का कार्य है और इसके लिये महान् धैर्य की आवश्यकता है, और यह पूर्ण सच्चाई की अपेक्षा रखता है। क्योंकि सच्चाई न होने पर मनुष्य एकदम आरंभ से ही अपने–आपको धोखा देने लगेगा और उन्नति का उसका सारा प्रयास व्यर्थ चला जायगा। अगर प्राण का सहयोग प्राप्त हो तो कोई भी सिद्धि असंभव नहीं मालूम होती, किसी प्रकार का रूपांतर असाध्य नहीं प्रतीत होता। परंतु निरंतर उसका यह सहयोग प्राप्त करना बड़ा कठिन है। प्राण एक अच्छा कार्यकर्ता है, परंतु अधिकांश में वह अपनी तुष्टि की चेष्टा करता है। अगर उसकी कामना पूरी नहीं की जाती है, चाहे वह पूर्ण रूप में या आंशिक रूप में भी, तो वह झुंझला जाता है और नाराज हो जाता है और हड़ताल कर बैठता है। फलस्वरूप, कम या अधिक पूर्ण रूप से, शक्ति विलीन हो जाती है और अपने स्थान में मनुष्यों और वस्तुओं के प्रति विराग, निरुत्साह या विद्रोह, अवसाद और असंतोष छोड़ जाती है। ऐसे मौकों पर मनुष्य को स्थिर–अचंचल बने रहना चाहिये और क्रिया करना अस्वीकार कर देना चाहिये,

क्योंकि ऐसे ही समय में लोग मूर्खतापूर्ण कार्य कर बैठते हैं और जिस चीज को उन्होंने महीनों निरंतर प्रयास करके प्राप्त किया होता है उसको, उसके द्वारा प्राप्त की हुई सारी उन्नति को, वे कुछ मिनटों में ही बिगाड़ या चौपट कर सकते हैं। ये सब कठिन परिस्थितियाँ उन सब लोगों के लिए कम टिकाऊ और कम खतरनाक होती हैं जिन्होंने अपने हृत्पुरुष के साथ ऐसा संस्पर्श स्थापित कर लिया है जो उनके अंदर अभीप्सा की ज्योति को सजीव रखने के लिए और जिस आदर्श को सिद्ध करना है उसका बोध बनाये रखने के लिए पर्याप्त है। वे लोग इस चेतना की सहायता से, धैर्य और लगन से अपने प्राण के साथ एक विद्रोही बच्चे की तरह व्यवहार कर सकते हैं, उसे सत्य और ज्योति दिखा सकते हैं, उसमें विश्वास जमाने का और जो सदिच्छा कुछ समय के लिए आच्छादित हो गयी थी, उसे उसमें जगाने का प्रयास कर सकते हैं। ऐसे धैर्यपूर्ण हस्तक्षेप की सहायता से प्रत्येक कठिन परिस्थिति को एक नयी प्रगति के रूप में, लक्ष्य की ओर बढ़े हुए एक नये पग के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। प्रगति धीमी हो सकती है, पतन बार–बार हो सकता है, पर यदि साहसपूर्ण संकल्प बनाये रखा जाय, तो यह निश्चित है कि हम एक दिन विजयी होंगे और यह देखेंगे कि सभी कठिनाइयाँ सत्य की जाज्वल्यमान चेतना के सामने गल गयीं या विलीन हो गयी हैं।

अंत में, एक युक्तिसंगत और स्पष्टदर्शी शारीरिक शिक्षण के द्वारा हमें अपने शरीर को सुदृढ़ और सुकोमल अवश्य बनाना चाहिए ताकि जो सत्य–शक्ति हमारे अंदर अभिव्यक्त होना चाहती है उसके लिये हमारा शरीर इस जड़ जगत् के अंदर एक उपयुक्त यंत्र बन सके।

वास्तव में, शरीर को कभी हुक्म नहीं चलाना चाहिये, उसे तो हुक्म मानना चाहिये। अपने सहज–स्वभाव में वह एक अनुगत और विश्वासपात्र सेवक है। दुर्भाग्यवश, अपने प्रभुओं के – मन और प्राण के विषय में विवेक–विचार करने की क्षमता बहुधा उसमें नहीं होती। वह अंधे–भाव से, अपने निजी हित का बलिदान देकर भी, उनकी आज्ञा का पालन करता है। मन अपने मतवादों, अपने कठोर और मनगढ़ंत सिद्धांतों के द्वारा, प्राण अपनी उत्तेजनाओं, अपनी ज्यादतियों और दुर्वृत्तियों के द्वारा शरीर की स्वाभाविक समतोलता नष्ट करने के लिये और उसमें थकान, दुर्बलता और रोग उत्पन्न करने के लिये शीघ्र सब कुछ कर डालेंगे। इस अत्याचार से शरीर को अवश्य मुक्त करना होगा, और चैत्य केन्द्र के साथ सत्ता

का निरंतर एकत्व स्थापित करने पर ऐसा करना संभव हो सकता है। हमारे शरीर में मेल बैठाने और सहन करने की अद्भुत क्षमता है। हम साधारणतया जितना अनुमान कर सकते हैं उससे बहुत अधिक कार्य करने की क्षमता उसमें है। अभी जो अज्ञानी और स्वेच्छाचारी प्रभु इस पर शासन कर रहे हैं उनके स्थान में यदि सत्ता के केन्द्रीय सत्य का शासन इस पर हो जाय तो उस समय इसकी कार्यक्षमता को देखकर मनुष्य दंग रह जायगा। तब शांत और स्थिर, दृढ़ और अचल रहते हुए हम जितना चाहें उतना प्रयास वह प्रत्येक मुहूर्त करेगा, क्योंकि उस समय वह सीख चुका होगा कि काम के अंदर किस तरह विश्राम लिया जाता है, जिस शक्ति को वह ज्ञानपूर्वक और लाभ के लिये खर्च कर रहा है उसकी पूर्ति वह विश्व शक्तियों के साथ संस्पर्श स्थापित करके किस प्रकार कर सकता है। इस स्वस्थ और संतुलित जीवन में शरीर के अंदर एक नया सामंजस्य अभिव्यक्त होगा जो उच्चतर क्षेत्रों के सामंजस्य को प्रतिबिंबित करेगा और यह उच्चतर सामंजस्य शरीर को पूर्ण अंगसौष्ठव और आदर्श सौंदर्य प्रदान करेगा। और यह सामंजस्य क्रमशः बढ़ता रहेगा, क्योंकि सत्ता का सत्य कभी अचल–अटल नहीं होता। वह निरंतर एक वर्द्धनशील, एक अधिकाधिक सर्वांगीण और सर्वग्राही परिपूर्णता की ओर खुलता रहता है। जैसे ही शरीर एक क्रमवर्द्धमान सामंजस्य की गति का अनुसरण करना सीख लेगा, वैसे ही उसके लिये, रूपांतर–सिद्धि की लगातार होने वाली एक प्रक्रिया के द्वारा, भंग और विनष्ट होने की आवश्यकता से बच जाना संभव हो जायगा। इस तरह मृत्यु के अटल विधान के बने रहने के लिये कोई कारण नहीं रह जायेगा।

जब हम पूर्णता की इस मात्रा को प्राप्त हो जायेंगे, जो कि हमारा लक्ष्य है, तब हम देखेंगे कि जिस सत्य की खोज हम कर रहे हैं वह चार प्रधान चीजों से बना है – प्रेम, ज्ञान, शक्ति और सौन्दर्य। सत्य के ये चारों रूप अपने–आप हमारी सत्ता के अंदर अभिव्यक्त होंगे। चैत्य पुरुष होगा सच्चे और शुद्ध प्रेम का वाहन, मन होगा अभ्रांत ज्ञान का यंत्र, प्राण प्रकट करेगा एक अदम्य शक्ति और सामर्थ्य; और शरीर बन जायगा पूर्ण सौन्दर्य और पूर्ण सामंजस्य की प्रतिमा।

❖ ❖ ❖

जीवन का लक्ष्य ध्यान पत्रक[२]

"लक्ष्यहीन जीवन दुःखी जीवन होता है। तुम में से प्रत्येक का अपना लक्ष्य होना चाहिये। परन्तु यह कभी न भूलना कि तुम्हारे लक्ष्य के गुणों पर जीवन के गुण निर्भर होंगे। तुम्हारा लक्ष्य होना चाहिये उच्च और विशाल, उदार और निष्काम। तब तुम्हारा जीवन तुम्हारे अपने लिये और दूसरों के लिये भी बहुमूल्य हो जायेगा।"

—श्रीमाता जी

आपके जीवन का लक्ष्य क्या है? अपने भीतर बहुत गहराई में जायें और खोजें.......उस नीरव शान्त स्थान से सम्पर्क स्थापित करें और पता लगायें। 'आपके जीवन का लक्ष्य और उद्देश्य क्या है', 'आप कहाँ जाना चाहते हैं' और 'आप क्या होना चाहते हैं।' आप अपना समय लें, कोई व्यग्रता एवं तनाव नहीं, उचित वृत्ति के साथ अपने भीतर प्रवेश करें।

अब अवलोकन करें :–

१. इस धरती पर अपने जीवन का सार तत्व (मूर्ति या चित्र की कल्पना के माध्यम से प्रवेश अधिक आसान है) क्या है जिसके लिये आप उत्पन्न हुये हैं, जिसके लिये आप यहाँ हैं जो आपके जीवन का उद्देश्य है और जो होने के लिये आप अपना चुनाव कर चुके हैं।

२. आपका कार्य या व्यवसाय (भविष्य के लिये आपकी योजना और पुनर्स्थापन जो आप स्वयं करना चाहते हैं)

३. आपके सम्बन्ध (आप जो स्वयं अपने में हैं उससे आपका किस तरह सम्बन्ध है? इस सम्बन्ध के माध्यम से आप अपने आपको किस तरह पाना पसन्द करेंगे?

आप अपनी पसन्द के अनुरूप आने वाले किसी शब्द, चित्र, गीत अथवा भाव के ऊपर अपना ध्यान केन्द्रित करें। यदि आप अपने को रिक्त अनुभव करते हैं तो इसे एक सौभाग्य के रूप में लें, अपनी सर्वोच्च आत्मा के रूप में विचार करें तथा उस उच्चतम आदर्श को प्राप्त करें जिस पर आप अपना जीवन उत्सर्ग कर सकें।

---

२. नॉस्टिक सेंटर

आत्मचिन्तन के लिये प्रश्न[3]

जीवन विज्ञान के अध्ययन के आधार पर निम्नलिखित बातों पर चिन्तन करें :–

१. जीवन विज्ञान पर आपकी अपनी व्यक्तिगत समझ क्या है? अपने स्वयं के जीवन के विषय में जैसा कि आपको अनुभव और अवधारणा है, दोनों के आधार पर सोचें।

२. जीवन विज्ञान में चतुर्विध अनुशासन क्या हैं? क्या आप सोचते हैं कि यह आपके अभ्यास के लिये उपयोगी हो सकता है? क्यों?

३. किस क्षेत्र (मानसिक, प्राणिक, शारीरिक, अन्तरात्मिक) की आवश्यकता आप अनुभव करते हैं जिस पर आपको विशेष रूप से अपना ध्यान केन्द्रित करना है?

---

3. नॉस्टिक केन्द्र

अध्याय–२

सर्वांगीण व्यक्तित्व

"मनुष्य एक सत्ता का भाग नहीं बल्कि वह कई भागों का बना है और उसका हर भाग अपने आप में एक व्यक्तित्व है। यह एक ऐसी बात है जो लोग अभी तक ठीक से नहीं जान पाए हैं– मनोवैज्ञानिक इसे देखने लगे हैं, परन्तु वे तभी पहचान पाते हैं जब दोहरी या बहुरूपी व्यक्तित्व का कोई व्यक्ति स्पष्ट नजर आता है। परन्तु यथार्थ में सभी मनुष्य ऐसे ही होते हैं।"[1]

एक मनुष्य कई भागों का बना होता है। यही मानव जीवन की जटिलता एवं अस्त–व्यस्तता का कारण है। यदि ये अच्छी तरह संयोजित तथा पूर्ण रूप से विकसित किये जाएँ, तो ये भिन्न हिस्से परस्पर सामंजस्य से मानव जीवन को समृद्ध करने हेतु कार्य करना सीख सकते हैं, साथ ही एक बहु–आयामी व्यक्तित्व एवं विभिन्न सम्भावनाओं की रचना कर सकते हैं।

शिक्षक को व्यक्तित्व के इन अनेक भागों को जानना एवं पहचानना चाहिये। यदि वह सिर्फ मन पर ध्यान देगा तो वह कभी भी विद्यार्थी को सही ढंग से शिक्षित नहीं कर पाएगा। सत्ता के प्रत्येक हिस्से को प्रशिक्षित एवं विकसित करना सर्वांगीण शिक्षा का लक्ष्य है।

निम्नलिखित अंश व्यक्ति के सर्वांगीण व्यक्तित्व की समझ देंगे, जैसा कि श्रीअरविन्द एवं श्रीमाँ ने समझाया है।

---

१. श्रीअरविन्द, सामाजिक एवं राजनीतिक विचार (या मानव चक्र, पृ. ३०) श्री अरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १९९२

घेरेदार या चक्रदार सिस्टम (योजना)[२]

पुरुष

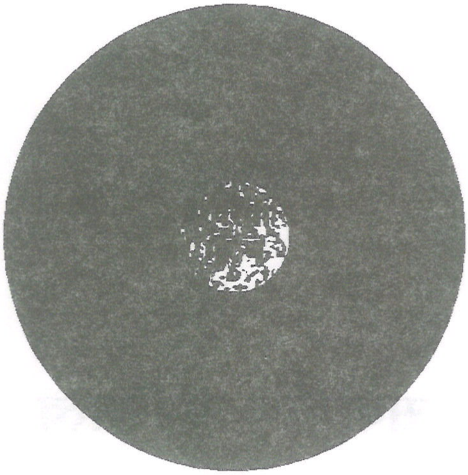

प्रकृति

रेखाचित्र–५[३]

"कॉन्सेन्ट्रिक (घेरेदार) सिस्टम (योजना) एक के अन्दर एक छल्ले या छिलके की तरह है, जो बाहरी, आन्तरिक तथा अन्तरतम सत्ता से बना है। बाहरी व्यक्तित्व एवं उसके पीछे का आन्तरिक व्यक्तित्व हमारी क्रियात्मक या यंत्रात्मक सत्ता बनाता है और यह प्रकृति का भाग कहा जाता है। इसके तीन हिस्से हैं– शरीर, प्राण, मन। अन्तरतम सत्ता हमारी सच्ची सत्ता है, पुरुष। पुरुष सत्ता में एक अन्तरतम मन, अन्तरतम प्राण एवं एक अन्तरतम शरीर है, और उसके बिलकुल केन्द्र में, यह चैत्य सत्ता या अन्तरात्मा। चैत्य पुरुष को ही आमतौर पर अन्तरतम सत्ता की संज्ञा दी जाती है।

सत्ता के मुख्य भाग एवं स्तर[४]

"सत्ता के मुख्य भाग व स्तर जिस तरह श्रीअरविन्द ने वर्णन किया है, उसे नीचे समझाया गया है।"

बाहरी व्यक्तित्व (या बाहरी सत्ता)

"बाहरी या ऊपरी सत्ता के तीन मुख्य भाग हैं : मन, प्राण–प्रकृति एवं शरीर। प्रत्येक भाग की अपनी विशिष्ट चेतना है, हालांकि अपनी साधारण चेतना में हम मानसिक, प्राणिक तथा शारीरिक चेतना की प्रकृति में भेद नहीं कर पाते, एवं

---

२ सभी अंश ए.एस. दलाल द्वारा संकलित पुस्तक, अवर मैनी सेल्वस : प्रैक्टिकल योगिक साइकॉलोजी, इन्ट्रोडक्सन

३ रेखाचित्र नॉस्टिक सेंटर के सौजन्य से

४. सभी अंश, अगर अन्यथा न लिखे गए हों, ए.एस. दलाल की पुस्तक, अवर मैनी सेल्वस, प्रैक्टिकल योगिक साइकॉलोजी इन्ट्रोडक्सन से हैं।

अधिकांशतः इन सभी विभिन्न तत्वों को बस "मन" का दर्जा दे देते हैं। परन्तु योग के अन्तर्विज्ञान में, "मन" का दर्जा खासकर सत्ता के उस भाग को देते हैं" (जो समझ और बुद्धिवृत्ति के साथ, भावनाओं के साथ, मानसिक या चिंतनपरक अनुभवों के साथ, वस्तुओं के प्रति विचार की प्रतिक्रिया के साथ, सच्ची मानसिक क्रियाओं और रचनाओं, मानसिक दृष्टि और संकल्प आदि के साथ जो उसकी बुद्धि के अंग हैं, संबंध रखता है।)[१] प्राणिक सत्ता या प्राण–प्रकृति की कामनाएँ, भावनाएँ, उद्वेग व आवेग की बनी हैं। प्राण–ऊर्जा जो शरीर में जीवन संचार करती है वह भी प्राण का एक पक्ष है। शरीर की भी एक अपनी अलग चेतना है जो शरीर के विभिन्न अंगों तथा उनके क्रिया–कलापों और स्वःचालित कर्मों में कार्य करती है। देह की चेतना शरीर की भौतिक चेतना का ही हिस्सा है। इसमें भौतिक मन और भौतिक प्राण भी आते हैं जिसे अभी समझाया जाएगा।

हालाँकि अलग व भिन्न, बाहरी व्यक्तित्व के तीन प्रमुख भाग जो अभी बताए गए हैं आपस में गुथे हुए हैं और एक दूसरे पर कार्य करते हैं, और इस प्रकार सत्ता के प्रमुख भागों में से अन्य स्पष्ट विभाग निकलते हैं। अतः विचारवान मन (खास मन) के अलावा एक प्राणिक मन है, जो मन का ही हिस्सा प्राण से मिला हुआ है। प्राणिक मन, तार्किक मन से भिन्न, तर्क से शासित नहीं होता परन्तु प्राण के आवेग एवं कामनाओं से हावी होता है और प्राण के आवेग एवं कामनाओं पर आधारित कर्म के पक्ष में तर्क देता रहता है। एक अन्य विभाग है भौतिक मन जो मन का वह हिस्सा है जो शरीर से मिला हुआ है, तथा शरीर की चेतना की वृत्तियाँ जैसे जड़ता, अंधापन, रूढ़िवादिता, यांत्रिक गति को पकड़कर अपने अन्दर मानसिक जड़ता, रूढ़िवाद, शंकाएँ एवं यांत्रिक विचार उत्पन्न करता है। मन का वह हिस्सा जो शरीर से बिल्कुल जुड़ा है वह यांत्रिक मन है, जिसकी वृत्ति एक यंत्र (मशीन) की तरह लगातार एक ही धुरी में विचारों के घूमते रहने की है। एक अन्य विभाग जो स्वयं को समझने के लिए आवश्यक है वह है भौतिक–प्राण, यह प्राण का वह भाग है जो पूरी तरह भौतिक वस्तुओं से जुड़ा है, और भौतिक स्तर पर कामनाओं और लालसाओं से जुड़ा है। इससे करीब से ही जुड़ा हुआ प्राणिक–भौतिक भाग है, प्राण शक्ति का वह हिस्सा जो तंत्रियों से जुड़ा है; और तंत्रियों की क्रिया का वाहन है और उनकी प्रतिक्रियाओं, कामनाओं और शरीर की संवेदनाओं से जुड़ा है।

---

१. श्रीअरविन्द के पत्र भाग–१, पृ० ३२०

आन्तरिक सत्ता (सबलिमिनल)

"बाहरी सत्ता की सतही और बाह्य चेतना के पीछे एक आन्तरिक या सबलिमिनल (Subliminal) चेतना है जो शरीर, प्राण, मन तीनों स्तरों की चेतना पर भीतर से कार्य करती है। अतः एक आन्तरिक मन, एक आन्तरिक प्राण और एक आन्तरिक शरीर है। अन्तर्मन वैश्व मन के, अन्तर प्राण वैश्व प्राण–ऊर्जाओं के, और अन्तर शरीर वैश्व भौतिक शक्तियों के सम्पर्क में रहता है जो हमारे चारों ओर रहती हैं। अतः जबकि बाहरी सत्ता को वस्तुओं का ज्ञान परोक्ष रूप से इन्द्रियों तथा बाहरी मन द्वारा ग्रहण कर बाहरी सम्पर्क द्वारा होता है, आन्तरिक सत्ता हमारे द्वारा कार्य सम्पन्न करने वाली वैश्व शक्तियों के साथ सीधा सम्पर्क रखकर जानती है।"

अन्तरतम सत्ता–चैत्य सत्ता (साइकिक बीइंग)

"श्रीअरविन्द "चैत्य सत्ता" शब्द (साइकिक बीइंग : यूनानी शब्द सुके अर्थात् अन्तरात्मा) अन्तरतम सत्ता के लिए प्रयोग करते हैं जो बाहरी एवं आन्तरिक सत्ता को सहारा देता है। साइकिक बीइंग अपने सार तत्त्व में, सभी वस्तुओं और जीवों में उपस्थित दिव्यता का एक अंश या चिनगारी है। विकास की धारा में यह दिव्य अंश बढ़कर मनुष्यों में व्यक्तिगत चैत्य व्यक्तित्व बन जाता है और उसे चैत्य पुरुष कहते हैं।

जबकि वैश्व–स्वः या आत्मा अजन्मा है, और विकास की प्रक्रिया के ऊपर स्थित तथा उससे निर्लिप्त है, चैत्य सत्ता विकसनशील आत्मा है जो अमर होते हुए भी, शरीर के जन्म एवं मृत्यु के चक्र से एक जीवन से दूसरे जीवन में विकसित होते हुए गुजरती है।"

"वह व्यष्टिगत चैत्य पुरुष या अंतरात्मा है जो मन, प्राण और शरीर को धारण किये रहती है और हमारी मानसिक, प्राणिक और सूक्ष्म शारीरिक सत्ता के पीछे खड़ी रहती है और उनके विकास तथा अनुभव पर नजर रखती और उनसे लाभ उठाती है। मनुष्य में ये जो अन्य पुरुष–शक्तियां हैं, उसकी सत्ता की सत्ताएं हैं, उनका सच्चा स्वरूप भी पर्दे के पीछे रहता है लेकिन वे उन अस्थायी व्यक्तित्वों को प्रक्षिप्त करती हैं जिनसे हमारा बाहरी व्यक्तित्व बनता है और जिनकी

मिली–जुली बाहरी क्रिया को और जिनकी स्थिति के रूप में आभास को हम अपना स्वरूप कहते हैं। यह अंतरतम सत्ता भी हमारे अंदर चैत्य पुरुष का रूप लेती हुई एक चैत्य व्यक्तित्व को सामने लाती है जो एक के बाद एक जीवन में बदलता, बढ़ता, विकसित होता है क्योंकि यही जन्म और मरण और मरण तथा जन्म के बीच का यात्री है, हमारी प्रकृति के अंग उसके बहुविध और बदलते हुए वस्त्र हैं। पहले–पहले चैत्य पुरुष मन, प्राण और शरीर के द्वारा, छिपी हुई, आंशिक और परोक्ष क्रिया ही कर सकता है क्योंकि उसकी आत्म–अभिव्यक्ति के साधन के रूप में प्रकृति के इन अंगों को विकसित करना होता है और वह उनका विकास होने तक लम्बे समय के लिए रुकने को विवश होता है। अज्ञान में पड़े मनुष्य को दिव्य चेतना के प्रकाश की ओर ले जाना उसका लक्ष्य है, वह अज्ञान में होने वाले सभी अनुभवों का सारतत्त्व प्रकृति में जीव की वृद्धि का केन्द्र बनाने के लिए ले लेता है और बाकी को वह उपकरणों की भावी सामग्री के रूप में लेता है जिनका उपयोग उसे तब तक करना होता है जब तक वे भगवान् के प्रकाशमय उपकरण बनने के लिये तैयार न हो जायें। यह गुप्त चैत्य सत्ता ही है जो हमारे अंदर सच्चा और मूल अंतःकरण है और यह नैतिकतावादी के निर्मित और रूढ़िगत अंतःकरण से ज्यादा गहरा है क्योंकि यही हमेशा सत्य, ऋत और सौंदर्य की ओर, प्रेम और सामंजस्य और हमारे अंदर जो भी दिव्य संभावना है उसकी ओर संकेत करता है और तब तक डँटा रहता है जब तक ये चीजें हमारी प्रकृति की प्रधान आवश्यकताएं न बन जायें। हमारे अंदर यह चैत्य व्यक्तित्व ही है जो संत, मनीषी और द्रष्टा के रूप में खिलता है और जब वह अपनी पूरी सामर्थ्य पा लेता है तो सत्ता को आत्मा और भगवान् के ज्ञान की ओर, परम सत्य और परम शुभ की ओर, परम सौंदर्य, प्रेम और आनन्द की ओर, दिव्य शिखरों और विस्तार की ओर मोड़ता है और हमें आध्यात्मिक सहानुभूति, सार्वभौमिकता और एकतत्त्व के स्पर्शों की ओर खोलता है।"[६]

जब बाहरी सत्ता चैत्य सत्ता से जुड़ जाती है और पूरी तरह शासित होने लगती है तब मन, प्राण शरीर का रूपांतरण संभव होने लगता है। जैसा कि श्री अरविन्द कहते हैं :

"चैत्य पुरुष एक आध्यात्मिक व्यक्ति है जिसे अंतरात्मा ने अपने विकासक्रम में सामने ला रखा है; इसका विकास यह सूचित करता है कि व्यक्ति का आध्यात्मिक

६. दिव्य जीवन पृ० २२५–२२६ श्री अरविन्द श्री अरविन्द आश्रम न्यास, पाण्डिचेरी, १९७०

विकास किस स्तर तक पहुँचा है और भविष्य के लिए उसकी तात्कालिक संभावनाएं क्या हैं। यह मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्रकृति के पीछे अवस्थित रहता है, उनके अनुभवों के द्वारा वर्द्धित होता है, एक जीवन से दूसरे जीवन में चेतना की ओर ले जाता है। यही है चैत्य पुरुष। प्रथम वह मानसिक, प्राणिक और भौतिक भागों में छिपा रहता है, उनकी सीमाओं के द्वारा अपनी आत्माभिव्यक्ति में सीमित होता है, प्रकृति की प्रतिक्रियाओं से बँधा होता है, पर जब वह वर्द्धित होता है तो आगे आने और मन, प्राण और शरीर पर आधिपत्य जमाने में समर्थ होता है। साधारण मनुष्य में वह अब भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए उन पर निर्भर करता है और उन्हें अपने हाथ में लेने और खुले तौर पर उनका उपयोग करने में समर्थ नहीं होता। उस समय जीव का जीवन पशुतुल्य और मानवीय होता है, दिव्य नहीं होता। जब चैत्य पुरुष साधना के द्वारा प्रभुत्वशाली हो जाता और अपने यंत्रों का अबाध रूप से उपयोग करने लगता है तो भगवान् की ओर जाने का प्रवेग पूर्ण हो जाता है और मन, प्राण और शरीर की महज मुक्ति ही नहीं वरन् उनका रूपांतर संभव हो जाता है।"[७]

अवचेतन व अचित्

जैसे आन्तरिक सत्ता (सबलिमिनल) बाह्य चेतना के *पीछे* है, वैसे ही अवचेतन मन और सचेतन जीवन के *नीचे* है। जबकि बाह्य चेतना के मुकाबले सबलिमिनल एक आन्तरिक और विशाल चेतना है, अवचेतन एक निम्न व न्यून संकुचित चेतना है।

"उसमें वह मूक गुह्य चेतना भी सम्मिलित है जो क्रियाशील तो है पर हमें उसका बोध नहीं होता, जो कोषाणुओं और स्नायुओं और समस्त शारीरिक पदार्थ में कार्य करती और उनकी प्राण--प्रक्रिया और स्वचालित अनुक्रियाओं का मेल बैठाती है। उसके अंदर निमज्जित ऐंद्रिय मन की वे नीची--से--नीची क्रियाएं भी आ जाती हैं जो अधिकतर पशु और वनस्पति--जीवन में क्रियाशील हैं। हम अपने विकास में इस तत्त्व की किसी बड़ी संगठित क्रिया की आवश्यकता को पार कर आये हैं लेकिन वह तत्त्व हमारी सचेतन प्रकृति के नीचे डूबा हुआ और धुँधले रूप से काम करता है। यह धुँधली क्रियाशीलता मन के एक छिपे हुए और अवगुंठित उपस्तर तक जाती है जिसमें भूतकाल के संस्कार और वह सब जिसे सतही मन से त्याग

७. श्रीअरविन्द के योग विषयक पत्र, भाग--१ पृ० २८३

दिया गया है, डूब जाता है और वहां सोया रहता है और नींद में या मन की अनुपस्थिति में उभर सकता है। वह स्वप्न के रूप में, यांत्रिक मन की क्रियाओं के रूप या संकेत, स्वचालित प्राणिक अनुक्रिया या अंतर्वेग के रूप में, भौतिक असामान्यता के रूप में या स्नायविक विक्षोभ के रूप में, अस्वस्थता, रोग, असंतुलन के रूप में उभर सकता है। सामान्यतः हम अवमानस में से उतना ही ऊपर ले आते हैं जिसकी हमारे जाग्रत् ऐंद्रिय मन और बुद्धि को अपने प्रयोजन के लिए जरूरत हो। उन्हें इस भांति ऊपर लाते समय हमें उनके स्वभाव, उद्गम और क्रिया की अभिज्ञता नहीं होती और हम उन्हें उनके निजी मूल्यों में नहीं बल्कि अपनी जाग्रत् मानव इन्द्रिय और बुद्धि के मूल्यों में अनूदित करके समझते हैं। परन्तु अवमानस का उभार, मन और शरीर पर उसके प्रभाव, अधिकतर स्वचालित, बिना बुलाये और अनैच्छिक होते हैं क्योंकि हमें अवचेतन का कोई ज्ञान नहीं है और इस कारण उस पर नियंत्रण भी नहीं है।"[८]

अवचेतन के नीचे अचित है, जो चेतना का निम्नतम स्तर है। वास्तव में वहाँ चेतना का अभाव नहीं है जैसा कि शब्द से प्रतीत हो सकता है, परन्तु चेतना का वह स्तर जहाँ चेतना पूरी तरह संकुलित (संकुचित) हो गई है. "निश्चेतन परम अतिचेतना की उल्टी प्रतिकृति है, उसमें भी सत्ता की वही निरपेक्षता और स्वचालित क्रिया है लेकिन है विशाल अंतर्लीन समाधि में, वह है सत्ता ही जो अपने–आपमें खोयी हुई है, अनन्तता की अपनी गहराइयों में डूबी हुई है, आत्म–सत्ता में ज्योतिर्मय लीनता की जगह उसमें अंधकारपूर्ण निवर्तन है।"[९]

अतिचेतन (सुपरकॉन्सियेण्ट)

अतिचेतन में चेतना के उच्च स्तर हैं साधारण मन से परे जहाँ से उच्च चेतना सत्ता के निम्न स्तरों में उतरती है। "अतिचेतना का कार्य रहा है मानसिक अर्ध–पशु में से धीरे–धीरे आध्यात्मिक मनुष्य को विकसित करना।"[१०] अतिचेतन में मन के उच्च स्तर आते हैं– उच्च मन, प्रकाशित मन, अंतर्भासित मन तथा अधिमन (ओवरमाइण्ड)–साथ ही वह भी जो मन के परे है, जैसे कि अतिमानस एवं परात्पर सत्य जिसे सच्चिदानन्द (सत्–चित्–आनन्द) कहा गया है।

---

८ श्री अरविन्द, दिव्य जीवन, पृ० ७३३–७३४

९ श्री अरविन्द, दिव्य जीवन, पृ० ५५०

१०. श्री अरविन्द के योग विषयक पत्र भाग–१, पृ० ३९०

अध्याय–३

आन्तरिक एवं बाह्य प्रवृत्ति

ऐसा क्यों है कि हम अलग–अलग समय पर भिन्न व्यवहार करते हैं? अचानक हमारी भावनाओं में उतार–चढ़ाव या विचारों में बदलाव क्यों होता है? हम भिन्न स्थितियाँ क्यों अनुभव करते हैं और इससे किस प्रकार हमारी क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ प्रभावित होती हैं? यदि हम यह समझ सकें और एक स्थिति से दूसरी में बदलना सीख सकें–इच्छानुसार–तो इससे हमें अपने व्यवहार को अनुशासित करने एवं बच्चों के व्यवहार को समझने तथा उन्हें बेहतर आत्म–अनुशासन प्राप्त करने में सहायता करने का एक अमूल्य साधन मिल जाएगा।

> "मोटा–मोटी तौर पर कहें तो, मनुष्य की सत्ता के दो भाग होते हैं–बाहरी, जो हमारे व्यक्तित्व की रचना करता है, एवं आन्तरिक सत्ता, वह सच्ची सत्ता या पुरुष जो व्यक्तित्व को बाहरी मुखौटे के रूप में उपयोग करता है।[1] बाहरी सत्ता अभिव्यक्ति के माध्यम का एक निमित्त या साधनमात्र है; यह हमारा असली "स्व" नहीं है। परन्तु, साधारणतया हम अपनी बाहरी सत्ता के साथ तादात्म्य रखते हैं और उसे ही अपना स्वः समझने लगते हैं। इसी कारण हमारी बाहरी सत्ता ही आमतौर पर हमारे भाव तथा कर्म अभिव्यक्त करती है।"[2]

---

१. भारतीय दर्शन के सांख्य मत में, सत्ता के बाहरी एवं आन्तरिक विभाजन को प्रकृति एवं पुरुष कहते हैं।

२. ए.एस. दलाल, "लुकिंग फ्रॉम विदिन", श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी १९९५

बाहरी सत्ता के भाव[3]

निम्न के प्रति भाव	शरीर का	प्राण का	मन का
जीवन	लक्ष्यहीनता; आदत व नियम से बँधा जीवन	धन का लोभ काम व बल की लोलुपता, कामना से संचालित जीवन	नैतिक और मानसिक लक्ष्यों के अनुसार जीवन का नियंत्रण, ज्ञान की खोज
स्वयं तथा अन्य[4]	शरीर से तादात्म्य	उत्तेजना व भावना से	मन से तादात्म्य
कर्म	नियम; भार प्रयोग एवं अपने कौशल	धन कमाने, बल के प्रयोग एवं अपने कौशल व क्षमताओं के प्रदर्शन का साधन	कर्त्तव्य पालन, सेवा, स्वयं की अभि–व्यक्ति एवं आत्म–विकास का साधन
कठिनाइयाँ	उदासीनता, जड़वत् समर्पण, बचना या भागना	संघर्ष, चिंता व परेशानी;झुंझलाहट एवं क्रोध	निर्लिप्त भाव से समस्या सुलझाना

आन्तरिक भाव[5]

जीवन के प्रति – जीवन के अर्थ एवं लक्ष्य को ढूंढना, आन्तरिक विकास की खोज; जीवन अपनी आन्तरिक सत्ता के द्वारा अनुभव किये गए सत्य के द्वारा चालित होना।

स्वयं तथा अन्य[6] – स्वयं तथा दूसरों को मात्र एक शारीरिक

---
३. ए.एस. दलाल, लुकिंग फ्रॉम विदिन

४. हमारे दूसरों के प्रति भाव एवं स्थिति तादात्म्यता से सम्बंध रखती है। शेष सभी भाव हमारे अपने तादात्म्य की प्रकृति से उत्पन्न होते हैं।

५. ए.एस. दलाल, लुकिंग फ्रॉम विदिन

६. द नॉस्टिक सेंटर

प्राणिक–मानसिक सत्ता से अधिक–एक पुरुष (आत्मा) रूप में देखना।

कर्म – आन्तरिक विकास, आत्म–दान एवं आत्म–उत्सर्ग का साधन

कठिनाइयाँ – कठिनाइयों को सम भाव से, आन्तरिक विकास की सम्भावना के रूप में देखना।

आत्मअन्वेषण कार्य पत्रक[1]

प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व के गठन में शारीरिक प्राणिक एवं मानसिक भाग होते हैं, इनसे जुड़े हुए भाव भी सबमें हाते हैं। ये भाव भिन्न व्यक्तियों में अपनी न्यूनाधिकता में ही अलग होते हैं, और यह इस बात पर निर्भर करता है कि सत्ता का कौन सा हिस्सा व्यक्ति में सर्वोपरि है।

यह ढूंढ़ें कि आपके वर्तमान व्यक्तित्व में कौन सा भाग सर्वोपरि है।

१. प्रतिदिन के जीवन के प्रति आपके क्या भाव हैं? आन्तरिक एवं बाह्य भावों के टेबल (क्रम) को देखें और आत्मावलोकन करें तथा इनके प्रति अपने भाव लिखें;

- जीवन
- स्वयं तथा अन्य
- कार्य
- कठिनाइयाँ

२. आप मुख्यतः क्या हैं (सही का निशान लगाएँ)

☐ मन ☐ प्राण ☐ शरीर ☐ आन्तरिक सत्ता

३. आपके जीवन का लक्ष्य और आपकी सर्वोच्च अभीप्सा क्या है? क्या यह एक उच्च आदर्श हो सकता है जिसके लिए आप हमेशा कार्य करते रहे, या एक स्वप्न, एक अभीप्सा जो आपके प्रशान्त क्षणों में लौटकर वापस आती है?

४. किन परिस्थितियों/स्थितियों में आप स्वयं को इस आदर्श को जीने के योग्य पाते हैं, अपनी सर्वोच्च अभीप्सा के अनुसार कार्य करने के लिए?

५. जीवन के किस क्षेत्र में आप नीचे गिरने लगते हैं, अर्थात् अपने ही आदर्श एवं अभीप्सा के अनुपात में नहीं जी पाते हैं?

६. आपकी अपनी ही प्रकृति में—क्या है— जो आपको आपके आदर्शों के अनुरूप जीने से रोकता या बाधा पहुँचाता है?

७. आप इन बाधाओं को किस तरह पार करके अपने आदर्श के प्रति सच्चे हो सकते हैं? (ध्यान रहे, आप औरों को नहीं बदल सकते; मात्र स्वयं को ही बदलने से, परिस्थितियाँ बदलती हैं।)

अध्याय–४

फूलों के लिए आशा
ट्रिना पॉलस की एक कथा

१

एक समय की बात है, एक नन्हा धारीदार कृमिकीड़ा अण्डे से फूटकर बाहर निकला जो काफी समय तक उसका घर रहा था। "हे संसार", उसने कहा, "यहाँ निश्चय ही सूर्य का काफी प्रकाश है।" "मैं भूखा हूँ" उसने सोचा और फिर सीधा उस पत्ते को खाने लगा जिस पर उसने जन्म लिया था। और फिर वह एक और पत्ता... एक और... एक और खाता ही गया। और वह बड़ा होता गया... और बड़ा... और बड़ा।

फिर एक दिन उसने खाना छोड़कर सोचा, "जीवन में खाने और बड़ा होने के अलावा कुछ और भी होगा। जीवन नीरस होता जा रहा है।" यह सोचकर धारीदार उस मित्र पेड़ से रेंगकर नीचे आ गया जिसने उसे छाया और भोजन दिया था। उसे कुछ और पाने की चाह थी।

वहाँ कई नई चीजें ढूंढ़ने को थीं। घास एवं धूल एवं बिल एवं छोटे कीड़े–सबने उसे आकर्षित किया। परन्तु किसी चीज ने उसे सन्तुष्ट नहीं किया। फिर जब वह अपनी तरह के अन्य रेंगने वाले कीड़ों से मिला तो वह विशेष रूप से उत्तेजित था। परन्तु वे सब खाने में इतने व्यस्त थे कि उन्हें बात करने का

समय नहीं था– ठीक जैसे धारीदार पहले था। "वे जीवन के बारे में मुझसे ज्यादा कुछ नहीं जानते", उसने गहरी सांस ली।

फिर एक दिन धारीदार ने कुछ और रेंगने वालों को वास्तव में रेंगते देखा। उसने चारों ओर उनके लक्ष्य की ओर देखा तो पाया कि एक विशाल खम्भा ऊपर हवा में उठता जा रहा था। जब वह भी उनके साथ हो लिया तो उसने पाया.. वह खम्भा कई कृमिकीड़ों से बना था जो एक दूसरे को धक्का देकर चढ़ रहे थे– एक कृमि कीड़ों का खम्भा। ऐसा लग रहा था कि वे कृमिकीड़े ऊपर पहुंचने की कोशिश कर रहे थे– परन्तु ऊपरी हिस्सा बादलों में ऐसा खो रहा था कि धारीदार को कुछ समझ में नहीं आया कि वहां क्या होगा। उसे एक नया उत्साह आया–मानों वसन्त में जीवन–रस बढ़ने लगा हो। "शायद मैं वह पा लूंगा जो मैं ढूंढ रहा हूं।"

उद्विग्नता से भरपूर उसने एक साथी रेंगने वाले से पूछा, "क्या तुम जानते हो क्या हो रहा है?" "मैं स्वयं अभी आया हूं", उसने उत्तर दिया। 'किसी के पास समझाने का समय नहीं है; वे सब ऊपर जो कुछ भी है वहां पहुंचने में इतने व्यस्त हैं। "परन्तु ऊपर क्या है?" धारीदार ने फिर भी पूछा। "कोई वैसे भी यह नहीं जानता परन्तु वहाँ निश्चय ही बहुत अच्छा होगा क्योंकि सब वहीं दौड़े जा रहे हैं। अच्छा अलविदा; मेरे पास और वक्त नहीं!" वह खम्भे के ढेर में कूद गया।

धारीदार का सिर इस नए उत्साह से फटा जा रहा था। वह अपने विचारों को संयत नहीं रख पा रहा था। हर क्षण कोई और रेंगता हुआ उसके पास से गुजरता और खम्भे में खो जाता। "बस मात्र एक ही काम करने को था।" उसने खुद को उस झुंड में अन्दर डाल दिया।

२

उस ढेर में पहले कुछ क्षण एक झटका सा लगा। धारीदार को सब तरफ से धक्का, लात पड़ रहे थे और लोग उस पर पाँव रखते जा रहे थे। चढ़ो या औरों को अपने ऊपर चढ़ते जाने दो... धारीदार चढ़ने लगा। अब कोई साथी कृमि–क्रीड़ा नहीं था–वे सब या तो खतरा एवं बाधाएँ बन गए थे या फिर सीढ़ी

एवं मौका। इस एकांगी सोच से उसे सचमुच काफी मदद मिली और धारीदार को लगा कि वह काफी ऊपर चढ़ता जा रहा है। परन्तु किसी किसी दिन ऐसा लगता था मानो वह मात्र अपने स्थान को यथावत रख पा रहा था। खासकर तभी एक बेचैन करने वाली छाया उसे अन्दर से कचोटती। "ऊपर क्या है?" वह अन्दर से फुसफुसाती। "हम कहाँ जा रहे हैं?"

एक दिन धारीदार इसे और सह नहीं सका और वापस चिल्ला पड़ाः "मुझे नहीं पता, परन्तु मेरे पास यह सोचने का समय नहीं है!" एक नन्हीं पीली सी कृमि ने जिसके ऊपर से वह रेंग रहा था घुटन में कहाः "क्या कहा तुमने?" "मैं बस अपने आपसे बाते कर रहा था," धारीधार बड़बड़ाया। "यह वास्तव में उतना आवश्यक नहीं है–मैं बस सोच रहा था कि हम कहाँ जा रहे हैं?" "तुम्हे मालूम है", पीली ने कहा, "मैं स्वयं यही सोच रही थी परन्तु चूंकि यह जानने का कोई तरीका नहीं था अतः मैंने यह फैसला कर लिया कि यह आवश्यक नहीं है।" यह सोचकर कि यह कितना बेवकूफी भरा विचार है वह लाल हो गई–फिर शीघ्र ही जोड़ दिया, "कोई और तो इस बात की चिन्ता करता नहीं दिखता कि हम कहाँ जा रहे हैं तो यह अवश्य अच्छा ही होगा।" परन्तु वह फिर घबरा कर लाल पड़ गई, "हम ऊपर से अभी कितने दूर हैं?" धारीदार ने गम्भीरता से उत्तर दिया, "चूंकि हम न नीचे हैं न ऊपर हम अवश्य ही बीच में होंगे।" "ओह", पीली ने कहा, और वे दोनों फिर से चढ़ने लगे।

परन्तु अब धारीदार को एक नया अहसास था। उसे खराब लग रहा था। वह अपनी एकाग्रता खो चुका था। "मैं कैसे उस पर पाँव रख सकता हूँ जिससे मैंने अभी–अभी बात की है?" धारीदार पीली से अधिकाधिक बचने लगा, परन्तु एक दिन वह उसके सामने खड़ी थी, ऊपर जाने के एकमात्र रास्ते के बीचोंबीच। "ठीक है, मेरे ख्याल में अब तुम या मैं", उसने कहा, और सीधा उसके सर पर पाँव रखकर चढ़ने लगा। परन्तु जिस तरह से पीली ने उसे देखा उससे उसे अपने बारे में अजीब सा लगा। मसलन ऊपर वहाँ चाहे कुछ भी क्यों न हो– यह कीमत बस ठीक नहीं है। धारीधार ने पीली से पाँव हटा लिया और फुसफुसाया, "मैं शर्मिन्दा हूँ।"

झगड़ा नहीं करना पड़ता था। वह समय उनके लिए स्वर्ग के समान था। पर जैसे जैसे समय बीतता गया एक दूसरे को आलिंगन करने में भी वे उकताने लगे। दोनों एक दूसरे को बहुत करीब से जानने लगे थे। धारीदार यह सोचने पर मजबूर हो रहा था, "जीवन में और भी कुछ होगा।"

पीली ने देखा कि वह कितना बेचैन था और वह उसे अधिक खुशी और आराम देने का प्रयास करने लगी। "जरा सोचो यह उस अजीब सी अव्यवस्थित दुनिया से कितना अधिक अच्छा है जिसे हम छोड़ आए हैं", उसने कहा "पर हमें नहीं मालूम वहाँ ऊपर क्या है," उसने उत्तर दिया। शायद हमने नीचे उतरकर सही नहीं किया। शायद अब विश्राम के बाद हम दोनों ऊपर तक पहुँच सकें।" 'प्रिय धारीदार, कृपया' वह गिड़गिड़ाई, "हमारे पास एक अच्छा घर है और हम एक दूसरे से प्रेम करते हैं और यह काफी है। यह उन अकेले आरोहियों से कितना ज्यादा अधिक है।" वह इतना आश्वस्त थी, धारीदार ने उसे स्वयं को विश्वास दिलाने दिया। पर केवल कुछ क्षणों के लिए... धारीदार को ऊपर चढ़ने वाले जीवन के प्रति आकर्षण बढ़ता गया। उस खम्भे का ख्याल उसे दिन–रात सताने लगा। वह रोज वहाँ रेंग कर जाता, ऊपर देख कर आश्चर्य करता। परन्तु ऊपरी हिस्सा धुँधला रहता।

एक दिन खम्भे के पास, तीन आवाजों ने धारीदार को चौंका दिया। तीन बड़े झिनगे (कृमि कीड़े) कहीं से नीचे गिरकर क्षत–विक्षत हो गए थे। दो मृत प्रतीत हो रहे थे परन्तु एक अभी भी काँप रहा था। धारीदार फुसफुसाया, "क्या हुआ? क्या मैं कोई मदद कर सकता हूँ?" वह कुछ ही शब्द सुन पाया। "ऊपर...वे केवल ... तितलियाँ देखेंगे...।" झिनगा मर चुका था।

धारीदार घर लौटा और पीली को यह सब बताया। वे दोनों गंभीर और खामोश हो गए। इस विचित्र सन्देश का क्या अर्थ था? क्या झिनगे एकदम ऊपर से गिरे थे? अंततः धारीदार ने घोषणा की: "मुझे जानना है। मुझे अवश्य जाना है और ऊपर का रहस्य पता करना है।" और फिर थोड़ा आहिस्ता से, "क्या तुम मेरी मदद करने आओगी?"

पीली अन्दर से छटपटाई। वह धारीदार से प्रेम करती थी और उसके साथ रहना चाहती थी। वह उसे सफल होने में मदद करना चाहती थी। परन्तु– वह

और पीली ने रोना शुरू कर दिया; "मैं यह जीवन सह पा रही थी इस आशा में कि आगे क्या है जब तक तुम मुझे अपने आप से बातें करते हुए उस दिन नहीं मिले थे। तभी से मेरा हृदय अब इसमें नहीं है—पर मैं नहीं जानती कि क्या करूँ। मुझे तब तक नहीं पता था कि मुझे इस जीवन का कितना बुरा अहसास था। अब जब तुम मुझे इतनी दयापूर्वक देख रहे हो, तो मैं निश्चित ही यह जान गई हूं कि मुझे यह जीवन पसन्द नहीं है। मैं बस कुछ करना चाह रही हूँ जैसे कि तुम्हारे साथ—साथ रेंगना और घास चबाना।"

धारीदार का हृदय अन्दर ही अंदर उछलने लगा। सब कुछ अलग सा लगने लगा था। वह खम्भा अब कोई मायने नहीं रखता था। "मुझे भी यह अच्छा लगेगा," वह फुसफुसाया। परन्तु इसका मतलब था चढ़ाई छोड़ देना—एक कठिन निर्णय। "प्रिय पीली, हो सकता है हम ऊपर के नजदीक हों। यदि हम एक दूसरे की मदद करें तो हम शीघ्र ही वहाँ पहुँच सकते हैं।" "शायद", उसने कहा। परन्तु वे दोनों ही जानते थे कि वे सबसे अधिक यह नहीं चाहते थे। "चलो नीचे चलें", पीली ने कहा। "ठीक है।" और उन दोनों ने चढ़ना बंद कर दिया।

उन्होंने एक दूसरे को पकड़ लिया वैसे ही कृमि—कीड़ों के जत्थे उनके ऊपर रेंगते चले गए। हवा में बहुत मायूसी थी परन्तु वे एक दूसरे से खुश थे एवं आपस में एक बड़ी गेंद बनकर अपनी आँखें और पेट दूसरों के पाँवों से बचा रहे थे। उन्होंने मानो काफी देर तक कुछ नहीं किया। अचानक उन्हें लगा कि कोई उनके ऊपर नहीं रेंग रहा है। वे अलग हुए और अपनी आँखें खोली। वे कृमि—कीड़ों के ढेर के किनारे थे।

"हे धारीदार", पीली ने कहा, "हे पीली", धारीदार ने कहा। और वे कुछ ताजी घास पर रेंगने लगे ताकि खा—पीकर थोड़ी देर नींद ले लें। ठीक सोने के पहले धारीदार ने पीली को पकड़कर कहा: "इस तरह साथ रहना उस भीड़ में दबने से सचमुच कितना भिन्न है!" "सचमुच ऐसा ही है!" पीली मुस्कुराई और आँखें मूँद ली।

३

इस प्रकार पीली एवं धारीदार घास में मटरगस्ती करते खाते और मोटे होते जाते एवं एक दूसरे को प्रेम करते। उन्हें खुशी थी कि उन्हें हर क्षण सबसे

संसार में जल्दी ही बहुत कम पुष्प रह जाएंगे।"

"यह सच नहीं हो सकता!" पीली की मानो साँस ही रुक गई। "मैं यह कैसे विश्वास करूँ कि मेरे या तुम्हारे अन्दर एक तितली है जबकि मैं बस एक टेढ़ा–मेढ़ा कीड़ा ही देख पा रही हूँ?" "तितली कैसे बना जाता है?" वह चिन्तन की अवस्था में पूछ बैठी। "तुममें इतना अधिक उड़ने की चाह होनी चाहिए कि तुम स्वेच्छा से झिनगा बने रहना त्याग सको।" "तुम्हारा मतलब मर जाने से है?" पीली ने पूछा, उन तीनों को याद करके जो आसमान से नीचे गिर पड़े थे। "हाँ और नहीं," उसने उत्तर दिया। "जो तुम्हें अपने जैसा दिखता है वह मर जाएगा परन्तु वह जो तुम सचमुच हो वह फिर भी जीवित रहेगा। जीवन बदल जाएगा, न कि समाप्त। क्या यह उनसे भिन्न नहीं जो बिना तितली बने ही मर जाते हैं?"

"और यदि मैं तितली बनने का फैसला करूँ तो", पीली हिचकिचाती बोली, "तो मुझे क्या करना होगा?" मुझे देखो, मैं एक खोल (कुकून) बना रहा हूँ। ऐसा लगता है कि मानो मैं छुप रहा हूँ, मुझे पता है, पर यह खोल भागने के लिए नहीं है। यह एक बीच की अवस्था है जहाँ बदलाव होता है। यह एक बहुत बड़ा कदम है क्योंकि इसके बाद तुम वापस झिनगे के जीवन में नहीं लौट सकते। बदलाव के समय, तुम्हें या अन्य किसी को देखने से ऐसा लग सकता है कि कुछ नहीं हो रहा है–परन्तु तितली बन रही होती है। इसमें बस समय लगता है।"

"और एक बात और भी है! एक बार तुम तितली बन जाते हो, तो तुम सचमुच प्रेम कर सकते हो–उस प्रकार का प्रेम जो नए जीवन की रचना करता है। यह झिनगों के एक–दूसरे को देने वाले आलिंगन से कहीं बेहतर है।" "ओह, मुझे धारीदार को लेकर आने दो," पीली बोली। परन्तु वह दुःखी मन में जानती थी कि वह ढेर में पहुँच से परे शायद काफी दूर निकल गया था। "उदास मत हो", उसके नए मित्र ने कहा। "यदि तुम बदल सकीं तो तुम उड़ पाओगी और उसे दिखा पाओगी कि तितलियाँ कितनी सुन्दर होती हैं। हो सकता है वह भी ऐसा ही बनना चाहे!"

पीली को अन्दर ही अन्दर कुछ कचोट रहा था। "अगर धारीदार वापस आ जाय और मैं वहाँ नहीं मिली? अगर वह मेरे बदले हुए रूप को नहीं पहचान

विश्वास नहीं कर पा रही थी कि ऊपर जाने की जो कीमत है वह देने योग्य है। वह भी 'ऊपर' उठना चाहती थी; रेंगते रहने का जीवन उसके लिए भी काफी नहीं था। उसे यह भी मानना पड़ा कि ऐसा प्रतीत होता है कि वह ढेर ही एकमात्र रास्ता था। धारीदार को पक्का लग रहा था कि पीली हामी न भरने से शर्मिन्दा थी। उसे भी मूर्खता का अहसास और संकोच हो रहा था क्योंकि वह शब्दों को तर्कपूर्ण ढंग से नहीं रख पा रही थी। परन्तु किसी भी तरह, पक्का विश्वास नहीं होने पर रुक कर प्रतीक्षा करना श्रद्धापूर्ण कर्म से बेहतर था। वह समझा नहीं पाई, वह कुछ प्रमाणित नहीं कर पाई– परन्तु अपने सारे प्रेम के बावजूद वह धारीदार के साथ नहीं जा पाई। उसे बस इतना पता था कि चढ़ना ऊपर उठने का गलत रास्ता था। "नहीं" उसने कहा दिल में घबराते हुए। और धारीदार उसे अपनी चढ़ाई के लिए छोड़कर चल दिया।

४

पीली धारीदार के बिना अकेली हो गई। वह रोज ढेर के पास तक रेंगकर जाती धारीदार को खोजने और रात को दुःखी मन से लौट आती, परन्तु उसने उसे कभी नहीं देखा। अगर ऐसा होता, तो उसे डर था कि कहीं वह उसके पीछे कूद पड़े, यह जानकर भी कि उसे ऐसा नहीं करना चाहिए। वह कुछ करना चाहती थी, कुछ भी, इस अनिश्चित प्रतीक्षा की जगह। "मैं इस संसार में सचमुच क्या चाहती हूँ?" उसने गहरी साँस ली। "हर कुछ क्षणों में अलग महसूस हो रहा है। परन्तु मैं जानती हूं कुछ और भी होगा।" अंत में, वह सुन्न हो गई और सभी परिचित चीजों से दूर होती चली गई।

एक दिन वह एक भूरे–बालों वाले झिनगे को टहनी से उल्टा लटका देख आश्चर्य से भर गई। वह कुछ बालों के बीच अटका हुआ लग रहा था। "तुम शायद मुसीबत में हो", वह बोली, "क्या मैं कुछ मदद कर सकती हूँ?" "नहीं, मेरे प्यारे बच्चे, मुझे तितली बनने के लिए यह करना होगा।" उसका सारा अन्तर उछल पड़ा। "तितली– वह शब्द", उसने सोचा। "मुझे बताएँ, महोदय, तितली क्या है?" "यह वही है जो तुम्हें बनना है। यह सुन्दर पंखों द्वारा उड़ती है और पृथ्वी को स्वर्ग से जोड़ देती है। वह केवल फूलों का अमृत–रस पीती है और प्रेम के बीज को एक पुष्प से दूसरे पुष्प तक ले जाती है। बिना तितलियों के इस

यह एक कठिन जीवन है। बस अपना मन पूरी तरह बना लो', वह ऐसा कहता यदि कोई झिनगा शिकायत करता।

फिर एक दिन वह अपने लक्ष्य के निकट था। धारीदार अच्छा कर रहा था परन्तु जब आखिरकार प्रकाश ऊपर से छनकर नीचे आया, वह थककर चूर–चूर होने के करीब था। इस ऊँचाई पर लगभग कोई गति नहीं थी। सब अपने–अपने स्थान पर पूरी कुशलता से टिके थे जो जीवन भर के आरोहण ने उन्हें सिखाई थी। हर हल्की गति बहुत मायने रखती थी। वहाँ कोई सम्पर्क नहीं था। केवल बाहर–बाहर से वे सटे थे। एक दूसरे के प्रति वे खोल की ही तरह थे।

फिर एक दिन धारीदार ने अपने ऊपर किसी रेंगने वाले को कहते हुए सुना, "हममें से कोई भी और ऊपर बिना उन्हें हटाए हुए नहीं जा सकता।" ठीक बाद में उसे एक अत्यधिक दबाव एवं कम्पन महसूस हुआ। फिर कुछ चीखें और गिरते हुए शरीर। फिर चुप्पी; काफी कुछ हल्का और ऊपर से कम दबाव। धारीदार इस नए ज्ञान से घबरा उठा। खम्भे का रहस्य खुलने लगा था। अब उसे पता चल गया था कि उन तीन झिनगों को क्या हुआ था। अब वह जान गया था कि खम्भे के ऊपर क्या होता रहेगा।

निराशा ने धारीदार को घेर लिया। परन्तु जैसे ही वह यह स्वीकार करने लगा कि "ऊपर" जाने का यही एकमात्र रास्ता था उसे ऊपर से एक हल्की सी आवाज सुनाई दी "यहाँ तो कुछ भी नहीं है!" एक अन्य ने प्रत्युत्तर में कहा : "चुप, मूर्ख! वे सब तुम्हें खम्भे में नीचे सुन लेंगे। हम वहाँ हैं जहाँ वे पहुँचना चाहते हैं। यहाँ तो बस यह ही है!" धारीदार का मानो खून जम गया। इतना ऊपर होकर भी ऊपर बिल्कुल न होना! यह तो सिर्फ नीचे से अच्छा लग रहा था। वह फुसफुसाहट फिर सुनाई दी, "उधर देखो वहाँ–एक और खम्भा–और वहाँ भी–सब जगह!" धारीदार क्रोधित हो रहा था और निराश भी। "मेरा खम्भा", उसने कसक भरे स्वर में कहा, "हजारों खम्भों में से केवल एक। सहस्रों झिनगें कहीं न पहुँचने को ऊपर चढ़ रहे थे। कुछ तो सचमुच गलत है परन्तु, वहाँ और क्या है?"

पीली के साथ उसका जीवन इतना दूर प्रतीत हो रहा था। यह बात भी नहीं थी– इतना नहीं। 'पीली!' उसने उसकी छवि अपने मन में भरने दी, "तुम

पाया? मान लो वह झिनगा बना रहना चाहे? हम झिनगे के रूप में कम से कम कुछ तो कर सकते हैं– हम रेंग सकते हैं और खा सकते हैं। हम किसी प्रकार प्रेम भी कर सकते हैं। दो खोल कैसे एक साथ पास–पास आ सकते हैं? एक खोल में चिपक जाना कितना अजीब होगा।" वह कैसे इस एक जीवन को जिसे वह जानती है दाँव पर लगा दे जबकि यह लगभग असम्भव लगता है कि वह कभी भी एक अद्भुत पंखों वाली रचना बन सकती है? उसके पास आगे बढ़ने के लिए क्या था? –एक अन्य झिनगा जिसमें इतना विश्वास था कि वह अपना खोल बना ले– और वह विचित्र आशा जिसने उसे उस खम्भे से दूर रखा था, जो तितलियों के बारे में सुनकर जग उठती थी।

वह भूरे बालों वाला झिनगा स्वयं को रेशमी धागों के खोल में डालने लगा। जैसे ही उसने अपने सिर के चारों तरफ आखिरी धागे को बुनकर ढँका, उसने पुकारा; "तुम एक सुन्दर तितली बनोगी– हम सब तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं!" और पीली ने तितली बनने का खतरा उठाने का निश्चय किया। साहस पाने को वह ठीक उस दूसरे खोल के बगल में झूलने लगी और अपने धागे बुनने लगी। "जरा सोचो तो, मैं इतना भी नहीं जानती थी कि मैं यह कर सकती हूं। यह प्रोत्साहन है कि मैं सही रास्ते पर हूँ। अगर मेरे अन्दर खोल बनाने का सामान है–तो शायद तितलियाँ बनाने का सामान भी वहीं होगा।"

५

धारीदार ने इस बार काफी तेजी से प्रगति की। वह बड़ा था और बलिष्ठ भी चूंकि वह समय निकालकर तैयार हो चुका था। वह शुरू से ही ऊपर पहुँचने का निश्चय ले चुका था। वह विशेष रूप से अन्य रेंगने वालों से आँखें बचा रहा था। वह जानता था ऐसा सम्पर्क कितना खतरनाक हो सकता है। उसने पीली के बारे में न सोचने का प्रयास किया। उसने स्वयं को अनुशासित किया ताकि वह महसूस न करे और एकाग्रता न खोए। दूसरों को धारीदार "अनुशासित" नहीं–हृदयविहीन लगता था। आरोहियों में भी वह विशेष था। वह नहीं सोचता था कि वह किसी के विरुद्ध है। वह तो बस वही कर रहा था जो उसे ऊपर पहुँचने के लिए करना चाहिए था। "मुझे दोष न देना अगर तुम सफल नहीं होते!

कुछ तो जानती थीं, नहीं? क्या प्रतीक्षा करना साहस था? शायद वह सही थी। काश मैं उसके साथ होता। मैं नीचे चलूँ', उसने सोचा, "मैं अजीब सा लगूँगा परन्तु शायद ऊपर जो हो रहा है उससे यह बेहतर है।"

परन्तु धारीदार के विचारों में उसके ऊपर रह रह कर हो रही कुछ गति हस्तक्षेप कर रही थी। प्रत्येक एक अंतिम–चेष्टा में संलग्न था ताकि ऊपर तक प्रवेश पा जाए। परन्तु हर धक्के के साथ ऊपर का हिस्सा कसने लगता। आखिरकार एक झिनगे ने लम्बी साँस भरी, "अगर हम सब मिलकर प्रयास नहीं करेंगे तो कोई ऊपर नहीं पहुँचेगा। शायद अगर हम एक जोर का धक्का दें! वे हमें हमेशा को नीचे नहीं रख सकते! परन्तु इसके पहले कि वे कुछ कर पाते वहाँ कुछ चीखने–चिल्लाने की आवाजें सुनाई पड़ीं। धारीदार किनारे आने की कोशिश करने लगा ताकि इसका कारण देख सके।

एक चमकता पीले पंखों वाला जीव खम्भे के चक्कर लगा रहा था, उन्मुक्त रूप से घूमता–एक अद्भुत दृश्य! यह बिना चढ़े ही कैसे ऊपर पहुँच गई? जब धारीदार ने सिर बाहर निकाला तो उसे ऐसा लगा मानो वह जीव उसे पहचान रहा हो। उसने अपने पाँव बढ़ाकर उसे पकड़ने की भी कोशिश की। धारीदार ने ठीक ढेर के बाहर खिंचने के पहले खुद को सँभाल लिया। उस चमकीले जीव ने उसकी आँख में दुःख से देखा और उसे जाने दिया। उस दृष्टि ने धारीदार को ऐसी उत्तेजना से भर दिया जो उसने खम्भे को पहली बार देखने के बाद कभी और महसूस नहीं की थी। पिछले शब्द स्मृति में वापस आने लगे,'... केवल तितलियाँ।'

'क्या यही तितली है?' और इसका क्या अर्थ है– "वहाँ ऊपर...वे देखेंगे...?' यह सब कितना विचित्र था और फिर भी जैसा होना चाहिए था। और वे आँखे जो पीली की तरह थीं। क्या ऐसा हो सकता है...? यह असम्भव सा विचार! परन्तु अन्दर की उत्तेजना रुक ही नहीं रही थी। वह खुशी महसूस करने लगा। वह किसी तरह बच सकता था, उसे ले जाया जा सकता था। परन्तु जैसे–जैसे यह सम्भावना अन्दर बढ़ने लगी, अन्दर कुछ और चलने लगा। उसे लगा उसे इस प्रकार नहीं भागना चाहिए। उस जीव की आँखों में जो प्रेम उसने देखा था वह उससे सहा नहीं जा रहा था। उसने स्वयं को अयोग्य महसूस

किया। वह बदलना चाहता था, उन सब क्षणों का हिसाब बराबर करना जब वह उस ओर देखने से मना करता रहा था। वह उसे अपनी भावनाएँ कहना चाह रहा था। उसने छटपटाना बन्द कर दिया। बाकी सब ने उसे यूँ घूर कर देखा मानो वह पागल हो।

६

वह पीछे मुड़कर खम्मे के नीचे उतरने लगा। इस बार उसने गोलाकार रूप नहीं बनाया। उसने खुद को पूरी लम्बाई तक खींचा और हर झिनगे की आँख में सीधा देखने लगा। अब वह सबकी विविध बनावट और सौन्दर्य को देखकर आश्चर्य करने लगा, अचम्भित कि उसने पहले कभी यह नहीं देखा था। वह हरेक से फुसफुसाया "मैं वहां जा चुका हूँ, वहां कुछ नहीं है।" अधिकांश ने कोई ध्यान नहीं दिया, वे चढ़ने में इतने व्यस्त थे। एक ने कहा, "यह अंगूर खट्टे वाली बात है। मैं शर्त लगाता हूँ कि यह ऊपर तक पहुँचा ही नहीं"। परन्तु कुछेक सिहर उठे और उन्होंने उसे बेहतर सुनने के लिए चढ़ना भी बंद कर दिया। एक ने पीड़ा से कहा, "अगर यह सच भी है तो ऐसा मत कहो। हम और कर भी क्या सकते हैं?" धारीदार के उत्तर ने सबको चौका दिया–स्वयं उसे भी!

"हम उड़ सकते हैं! हम तितलियाँ बन सकते हैं! वहाँ ऊपर कुछ नहीं है और कोई फर्क भी नहीं पड़ता।" जैसे ही उसने अपना ही सन्देश सुना उसे भान हुआ कि उसने ऊपर उठने की इच्छा को गलत ढंग से समझा था। "ऊपर" पहुंचने के लिए उसे उड़ना था, न कि चढ़ना। धारीदार ने सब झिनगों की आँखों में खुशी से झूमते हुए देखा कि उनके अन्दर एक तितली हो सकती है। परन्तु उनका प्रत्युत्तर पहले से भी खराब था। उनकी आँखों में उसने भय देखा। वे कहने या सुनने के लिए नहीं रुके। यह खुशनुमा, अद्भुत खबर उनके लिए बहुत ज्यादा थी– इतनी अधिक अच्छी कि जैसे सच ही न हो। और यदि यह सच न हुई तो? जिस आशा ने खम्मे को आकर्षक बना दिया था वह क्षीण हो रही थी। सब कुछ अस्पष्ट और मिथ्या सा प्रतीत हो रहा था। नीचे जाने का रास्ता अत्यधिक लम्बा। तितली का दर्शन धूमिल पड़ने लगा।

धारीदार शंका से भर गया। ढेर भयानक लगने लगा। वह लड़ता था–अकेला–अंधों की तरह। विश्वास त्याग देना गलत लग रहा था– परन्तु

विश्वास करना भी असम्भव लग रहा था। एक रेंगने वाले ने खिल्ली उड़ाई, "तुम कैसे ऐसी कहानी निगल सकते हो? हमारा जीवन मिट्टी का है और चढ़ना है। हम कीड़ों को देखो! हम अन्दर तितली नहीं हो सकते। जो पा सकते हो वह पा लो और झिनगे के जीवन में मौज मनाओ!" "शायद वह सही है," धारीदार ने आह भरी। "मेरे पास कोई प्रमाण नहीं है! क्या मैं ऊपर इसीलिए चढ़ा क्योंकि मुझे इसकी आवश्यकता थी?" और दर्द महसूस करता वह नीचे आता रहा उन आँखों को ढूँढ़ते हुए जो उसे कहने को बाध्य कर दें, 'मैंने एक तितली देखी है– जीवन में और भी हैं।"

एक दिन–अंततः वह नीचे आ गया था।

७

थका–मांदा और उदास, धारीदार अपने पुराने घर रेंगकर पहुँचा जहाँ पीली के साथ वह घूमा करता था। वह वहाँ नहीं थी, और वह इतना थक गया था कि आगे नहीं जा सकता था। वह वहीं सिमट कर सो गया। जब वह जागा तो उसने पाया कि वह पीला जीव उसे अपने चमकदार पंखों से हवा दे रहा था। "क्या यह स्वप्न है?" उसने आश्चर्य से सोचा। परन्तु वह स्वप्न जैसा जीव सचमुच के कार्य कर रहा था। उसने उसे अपने तंतुओं द्वारा छुआ और सबसे अधिक इतने प्रेम से उसे देखा कि उसे यह भरोसा हो चला कि तितली वाली बात शायद सही होगी। वह कुछ कदम दूर गई, फिर उड़ कर वापस आई। उसने यह दोहराया मानो उसे पीछे आने को कह रही है। उसने ऐसा ही किया।

वे एक टहनी के पास आए जहाँ दो फटे हुए खोल टँगे थे। उस जीव ने पहले अपना सिर, फिर पूँछ उस खोल में डाला। फिर वह उड़कर उसे छूती। उसके तंतु स्पन्दित होते और धारीदार को लगता कि वह बात कर रही है। उसे शब्द नहीं समझ में आए। फिर धीरे–धीरे उसे लगा कि वह समझ रहा है... किसी प्रकार उसने समझा कि क्या करना है। धारीदार फिर से चढ़ने लगा।

अंधेरा बढ़ चला था और वह डर रहा था। उसे लगा कि उसे सब त्याग देना चाहिए... और पीली ने प्रतीक्षा की... तब तक जब तक एक दिन...

परिशिष्ट

१. श्रीमाँ के अध्यापन सम्बंधी लेख एवं वार्तालाप

२. श्री अरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र

३. पठनीय पुस्तकों की सूची

परिशिष्ट–१

श्रीमाँ के अध्यापन सम्बंधी लेख एवं वार्तालाप

श्रीमाँ द्वारा लिखित कार्यों में उनके साहित्यिक भाग, उनके द्वारा लिखे पत्र, अनुयायियों, अध्यापकों और विद्यार्थियों के साथ उनकी बातचीत का लेखन तथा बहुत से विषयों पर बातचीत और पढ़ाई गई सामग्री शामिल है। इनका कलेक्टेड वर्क्स आफ दि मदर के नाम से संग्रह किया गया है और ये श्री अरविन्द आश्रम ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित १७ पुस्तकों के रूप में उपलब्ध हैं। हरेक पुस्तक का सूची पत्र है जिससे श्रीमाँ द्वारा लिखित १७ पुस्तकों में प्राप्त लिखित सामग्री के आधार पर अनेक विषयों पर छोटी–बड़ी पुस्तकें संकलित की गई हैं। कुछ निर्देश और वार्तालाप श्रीअरविन्द आश्रम के प्रमाणित विभाग से ओडियो–कैसेट्स के रूप में भी उपलब्ध हैं।

कलेक्टिव वर्क्स आफ दी मदर (सैंटीनरी एडिसन), खण्ड १–१७

१ प्रार्थना और ध्यान (प्रेयर्स एंड मेडिटेसंस)

२ पहले की बातें (वर्ड्स ऑफ लौंग एगो)

३ मातृवाणी (क्वेस्चन्स एंड आंसर्स) १६२६–३१

४ मातृवाणी (क्वेस्चन्स एंड आंसर्स) १६५०–१६५१

५ मातृवाणी (क्वेस्चन्स एंड आंसर्स) १६५३

६ मातृवाणी (क्वेस्चन्स एंड आंसर्स) १६५४

७ मातृवाणी (क्वेस्चन्स एंड आंसर्स) १६५५

८ मातृवाणी (क्वेस्चन्स एंड आंसर्स) १६५६

६ मातृवाणी (क्वेस्चन्स एंड आंसर्स) १६५७–५८

१० विचार एवं सूत्रावली (थॉट्स एंड एफोरिसम्स)

११ पथ पर (नोट्स ऑन द वे)

१२ शिक्षा (ऑन एजुकेशन)

१३ मातृवाणी खं. १३ (वर्ड्स ऑफ द मदर)

१४ मातृवाणी खं १४ (वर्ड्स ऑफ द मदर)

१५ मातृवाणी खं १५ (वर्ड्स ऑफ द मदर)

१६ माता जी से कुछ प्रश्नोत्तर (सम आंसर्स फ्रॉम द मदर)

१७ माता जी से कुछ और प्रश्नोत्तर (मोर आंसर्स फ्रॉम द मदर)

प्रकाशक: श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, सन् १९८०

परिशिष्ट–२

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र (SAICE)

श्रीअरविन्द आश्रम पॉण्डिचेरी – ६०५००२

१६४३ में श्रीमाँ द्वारा स्थापित, SAICE–सम्पूर्ण शिक्षा पर आधारित एक प्रयोग पिछले ६१ वर्षों से शांत रूप से कार्यरत है। इसमें बच्चों की शिक्षा और उच्च विद्यालय सम्मलित हैं। कक्षा की संख्या प्रायः १५ होती है। SAICE के योग्यता नापने के अपने तरीके हैं जो शिखर पर पहुँचने के बाद प्रमाण पत्र के रूप में दिए जाते हैं जिसमें कोई श्रेणी या पद चिन्ह नहीं होते। SAICE का प्रमाण पत्र देश की बहुत सी संस्थाओं द्वारा मान्य है।

SAICE में मन, जीवन और शरीर के सम्पूर्ण विकास को लिया गया है। इससे यह साफ दिखाई देता है कि किस तरह एक विद्यार्थी का जीवन संगठित किया जाता है और किस तरह अनेक विषयों की शिक्षा दी जाती है। शारीरिक शिक्षा का एक या दो घंटे का कार्यक्रम हरेक विद्यार्थी के लिए आवश्यक है–रविवार के दिन भी। कलायें सीखने के लिए अपने अवकाश में समय निर्धारित करते हैं। विषय इस तरह पढ़ाया जाता है जिसमें सभी आदान–प्रदान करें और हिस्सा लें–व्याख्यान बहुत कम होते हैं, प्रायः मिलजुल कर करने, वाद–विवाद, अपना कार्य प्रस्तुत करने, रचनाओं, प्रयोगात्मक कार्यों, बाहर काम करने, स्वयं पढ़ने तथा अनुसन्धान के माध्यम से यह सब होता है। नीचे के स्तर की कक्षाओं में ऐसा अधिक होता है बजाय उच्च स्तर की कक्षाओं के जहां विद्यार्थी स्वयं अपनी समय–सारिणी बना सकते हैं तथा अपने अध्यापकों तथा विषयों को चुन सकते हैं।

वास्तव में, एक विशेष लक्षण यह है कि यहाँ स्वतंत्रता, नियम निर्धारण और मुक्त शिक्षा पद्धति का समन्वय होता है। यहाँ शारीरिक शिक्षा अति–आवश्यक है, क्योंकि शरीर आदतों का एक पुंज है और जितनी जल्दी यह अच्छी आदतें सीखे उतना ही बच्चे के भविष्य में विकास और कार्य के लिए अच्छा है, मानसिक शिक्षामें अधिक उदारता और बहुतायत होती है। अजीब बात यह है कि आजकल के स्कूलों में इसके विपरीत होता है–एक विद्यार्थी भले ही शारीरिक शिक्षा न करे, पर सभी

बच्चों को एक ही पाठ पढ़ना होता है जहां विविधता या चुनाव का कोई स्थान नहीं होता।

इस प्रकार, मानसिक विकास, शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा बनाना, विद्यार्थी के चरित्र और इन्द्रिय को ऊपर उठाना, अच्छे गुणों को बढ़ावा देना–इन सबसे शिक्षा को सर्वांगीण रूप मिलता है – जो सम्पूर्ण शिक्षा का तात्पर्य है।

पूर्णता की एक और श्रेणी है भूतकाल को वर्तमान और भविष्य से मिलाना, पास को दूर से मिश्रित करना। विद्यार्थी के विषय में बात करते हुए कहा जाएगा कि इसका लक्ष्य पुरातन तथा नवीन जीवन मूल्य को मिलाना, विभिन्न संस्कृति और मान्यताओं में–पूर्व तथा पश्चिम दोनों से। इसका जीता जागता उदाहरण SAICE में देखा जा सकता है जहां आश्रम के अध्यापक समान रूप से संस्कृत तथा फ्रेंच (इसके अलावा दूसरी भाषायें जैसे बंगाली, तमिल, हिन्दी, गुजराती, इंगलिश) बोलते हैं– वास्तव में हरेक विद्यार्थी अपने विद्यालय में प्रथम वर्ष से ही फ्रेंच, संस्कृत तथा मातृभाषा सीखता है। गणित तथा विज्ञान फ्रेंच में सिखाये जाते हैं तथा दूसरे विषय इंगलिश के माध्यम से; भाषाएँ उन्हीं भाषाओं के माध्यम से। धोती पहने एक सज्जन को फ्रेंच बोलते तथा निक्कर पहने एक नवयुवक को संस्कृत बोलते देखना यहाँ कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जैसा पहले कहा जा चुका है, अध्यापक सभी क्षेत्रों की आधुनिक उपलब्धियों में (आधुनिक विज्ञान सहित) दक्ष होते हैं।

SAICE में सबसे पहली चीज जो दिखाई पड़ती है वह है शान्ति और नीरवता का वातावरण–बच्चों को अपने कार्य में लीन इधर–उधर घूमते, बरामदे में रखी मेजों पर बैठे या कमल–तालाब के चारों तरफ या बहुत फैले गुलमोहर के पेड़ के नीचे, बाहर बने मंच के ऊपर–काम करते, बतियाते, हँसते देखा जा सकता है–और तब भी कोई शोर नहीं होता है।

सुव्यवस्था का एक और उदाहरण है। बच्चे मुक्त होते हैं, और फिर भी चीजें व्यवस्थित होती हैं– किताबें सफाई से रखी होती हैं, रंग स्वच्छता से रखे जाते हैं–हर चीज का अपना एक स्थान है और बच्चे इसे जानते हैं। स्कूल में १० साल के दौरान मैंने कभी टॉफी लपेटने की पन्नी या ऐसी कोई चीज इधर–उधर पड़ी नहीं देखी। वातावरण साफ–सुथरा होता है फिर भी कोई यान्त्रिक व्यवस्था नहीं

है। भले ही भवन पुराना है फिर भी इसमें एक जीवन है– इसके हल्के भूरे रंग में एक सुंदरता की एक झलक है।

यहाँ एक सहज आनन्द एवं माधुर्य है विद्यालय की तीसरी विशेषता– उत्तेजित चपल चित्तभ्रम नहीं जो अनिश्चित रूप से मुर्झाता और खिलता है, जो किसी को उदास तथा निर्जीव बना देता है या एक अस्वभाविक उत्तेजना देता है (जो अध्यापकों के लिए अक्सर काबू पाने के बाहर होता है) –परन्तु एक सुंदर सूक्ष्म तथा हमेशा विद्यमान जो उस वातावरण को तर कर देता है तथा यह बच्चों की ही नहीं, अध्यापकों की आँखों में भी देखा जा सकता है।

चौथी विशेषता है इसका शक्तिमान होना– एक अभ्यागत यहाँ साधारण कार्यों तथा प्रतिदिन की दिनचर्या के पीछे एक बड़ा परिणाम स्पंदित होता हुआ अनुभव करता है। अगर आप किसी अध्यापक से बात करें आप उनमें पायेंगे एक तीव्र इच्छा शक्ति विकास की, अच्छा अध्यापक बनने की, और भी योग्य बनने की– हरेक का उद्देश्य यहां स्वयं की पूर्णता तथा जीवन की पूर्णता से जुड़ा है।

शायद विद्यालय के प्रशासन से अधिक अध्यापक स्वयं से अधिक की अपेक्षा रखते हैं। उत्तरदायित्व है– फिर भी विद्यालय के किसी उच्च अधिकारी के प्रति नहीं बल्कि स्वयं के ऊंचे लक्ष्य के प्रति। यह देखने योग्य बात है कि बिना किसी निश्चित और कठोर पाठ्यक्रम के शिक्षा का कार्य सुचारु रूप से संचालित होता है, अध्यापक नई–नई पाठ्य सामग्री तथा पढ़ाने के नये तरीकों का उपयोग करते हैं– तथा नये आविष्कारों के प्रति हमेशा जागरूक रहते हैं (भले ही राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठियों में वे हिस्सा न लें)।

यह ध्यान देने की बात है कि सन् १९४३ से कई सर्वांगीण शिक्षण संस्थान भिन्न व्यक्तियों द्वारा देश के अलग अलग भाग में प्रारम्भ किये गए हैं। इनमें से कुछेक, शिक्षा सम्बंधी प्रयोग एवं और अधिक सम्पूर्ण दृष्टि बनाने में सफल हुये हैं।

परिशिष्ट—३

पठनीय पुस्तकों की सूची

ऐसी पुस्तकें जो सर्वांगीण शिक्षा का व्यावहारिक पक्ष समझने में सहायक हो सकती हैं। आप इनकी प्राप्ति के लिये शब्द, श्रीअरविन्द आश्रम, पॉण्डिचेरी—६०५००२ को लिख सकते हैं।

अमीता मेहरा (संकलन), 'अभय: फियर—इट्स कॉसेज़ एंड क्योर' द नॉस्टिक सेंटर, नई दिल्ली—१९९९

अमीता मेहरा (संकलन), 'ध्यान : मेडिटेशन फॉर इनर ग्रोथ', द नॉस्टिक सेंटर, नई दिल्ली—१९९९

अमीता मेहरा (संकलन), 'कर्मयोग : पर्फेक्शन इन वर्क' द नॉस्टिक सेंटर, नई दिल्ली—२०००

अमीता मेहरा (संकलन), 'साधना : ए गाइड टू सेल्फ—मास्ट्री' द नॉस्टिक सेंटर, नई दिल्ली—२००१

ए.एस. दलाल, डा. (संकलन), 'ग्रोइंग विदिन', श्रीअरविन्द ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी—१९९२

ए.एस. दलाल, डा. (संकलन), 'लिविंग विदिन', श्रीअरविन्द ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी—१९८७

ए.एस. दलाल, डा. (संकलन), 'लिविंग वर्ड्स : सोल किन्डलर्स फॉर द न्यू मिलेनियम', श्रीअरविन्द ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी—२०००

ए.एस. दलाल, डा. (संकलन), 'लुकिंग फ्रॉम विदिन', श्रीअरविन्द ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी—१९९५

ए.एस. दलाल, डा. (संकलन), 'पावर्स विदिन', श्रीअरविन्द ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी—१९९८

ए.एस. दलाल, डा. (संकलन), 'द हिडेन फोर्सेस ऑफ लाईफ', श्रीअरविन्द ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी—१९९०

ए.एस. दलाल, डा. (संकलन), 'द साईकिकबीइंग', श्रीअरविन्द ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी—१९८९

ए.एस. दलाल, डा. (संकलन), 'अवर मैनी सेल्व्स', श्रीअरविन्द ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी–२००१

ए.एस. दलाल, डा. (संकलन), 'साइकोलॉजी, मेन्टल हेल्थ एंड योग (द्वि.सं.), श्री अरविन्द ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी–२००१

ऑरो पब्लिकेसन्स,'द गोल्डन ब्रिज' ऑरो पब्लिकेसन्स, ऑरोविल,१९७८

चँद्रकान्त पी. पटेल, डा.

'स्ट्डी ऑफ द साइकोलॉजिकल फाउन्डेसन्स आफ द 'फ्री प्रोग्रेस सिस्टम' एस इवोल्व्ड इन श्री अरविन्द इन्टरनेशनल सेंटर ऑफ एजुकेशन,' श्रीअरविन्द स्टडी सर्कल, बोखिरा (पोरबन्दर),१९८६

श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के कार्यों से संकलित, हैल्थ एंड हीलिंग इन योगा, श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १९७९

श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के कार्यों से संकलित, लाइट्स ऑन इंडियन कल्चर एंडसिविलइजेशन, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी,१९८९

श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के कार्यों से संकलित, ऑन संस्कृत, सैकिंड एडिशन, श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १९९४

श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के कार्यों से संकलित, शारीरिक शिक्षा के विषय में श्रीअरविन्द और श्रीमाँ, श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १९९६

श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के कार्यों से संकलित, द गीता फॉर द यूथ, श्रीअरविन्द सोयायटी, पॉण्डिचेरी,१९८९

श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के कार्यों से संकलित, हाइरारकी आफ माइंडस, श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १९८४

जी.पी. गुप्ता (ऐड), मैनेजमेंट वाई कोन्सयसनेश, श्रीअरविन्द रिसर्च इन्सटिट्यूट इन सोशयल साइंसिज, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १९९४

इन्द्र सेन, डॉ., इन्टीग्रल साइक्लोजी, श्रीअरविन्द इंटरनेशनल सेंटर आफ एजुकेशन, पॉण्डिचेरी, १९८६

जे.एन. मुखर्जी, इकोनोमिक्स नैचुरल ऑर इंटिग्रल इकोनोमिक्स, श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १६८७

के.सी. आनन्द (ऐड), रिमेन यंग : नेवर स्टॉप स्ट्राइविंगटुवर्ड् परफेक्शन, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १६६६

के.सी. आनन्द (ऐड), एम स्टोरीज, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी

के.सी. आनन्द (ऐड), बॉडी एंड द फिजिकल बीइंग (नो दाइसैल्फ–६), श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, २०००

के.सी. आनन्द (ऐड), कैटास्ट्रौफीज एंड एक्सीडैन्टस, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, २००१

के.सी. आनन्द (ऐड), फीयर–इट्स काज एंड क्योर, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी

के.सी. आनन्द (ऐड), फ्लावर्स–दा स्माइल आफ दा डिवाइन, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १६६६

के.सी. आनन्द (ऐड), हाउ टू कल्टिवेट कन्सनट्रेशन, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १६६५

के.सी. आनन्द (ऐड), इल्नेश एंड परफैक्ट हैल्थ, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १६६६

के.सी. आनन्द (ऐड), इण्डिया–लैंड आफ लाइट एंड नालेज, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १६६६

के.सी. आनन्द (ऐड), इन्नर पीस, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी

के.सी. आनन्द (ऐड), लाइफ एंड कलचर आफ इंडिया, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १६८६

के.सी. आनन्द (ऐड), मैण्टल कल्चर एंड साधना, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १६६४

के.सी. आनन्द (ऐड), माइंड एंड मैंटल बीइंग (नो दाइसैल्फ–4), श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १९९९

के.सी. आनन्द (ऐड), ओन एक्सीडेन्ट्स एंड कैनास्ट्रोफीज, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, २००१

के.सी. आनन्द (ऐड), ऑन इगो, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी

के.सी. आनन्द (ऐड), ऑन म्यूजिक, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १९८८

के.सी. आनन्द (ऐड), ऑन रीडिंग बुक्स, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १९८७

के.सी. आनन्द (ऐड), ऑन थॉट, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी

के.सी. आनन्द (ऐड), क्वाइट माइंड, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी

के.सी. आनन्द (ऐड), रिमेन हैपी, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी,१९९५

के.सी. आनन्द (ऐड), रैस्ट एंड रीलैक्सेशन, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी

के.सी. आनन्द (ऐड), राइट ऐटिट्यूड इन वर्क, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी

के.सी. आनन्द (ऐड), राइट स्पीरिट इन वर्क, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १९९७

के.सी. आनन्द (ऐड), सेल्फ गिविंग इज टू प्रेयर, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १९९६

के.सी. आनन्द (ऐड), सिगनिफिकैंस आफ मैडिटेशन, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १९९७

के.सी. आनन्द (ऐड), सिगनिफिकैंस आफ नम्बर्स, डेट्स एन्ड अस्ट्रोलोजी, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, २०००

के.सी. आनन्द (ऐड), स्पिरिचुअल एजुकेशन, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी

के.सी. आनन्द (ऐड), श्रीअरविन्द, एन इण्ट्रोडक्शन, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १९९६

के.सी. आनन्द (ऐड), श्रीअरविन्द ऑन डिजायर्स, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी,२०००

के.सी. आनन्द (ऐड), स्टोरीज एंड एनिक्डोटस, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १९९८

के.सी. आनन्द (ऐड), कॉनक्वेस्ट ऑफ डिप्रेशन, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी

के.सी. आनन्द (ऐड), द मदर ऑन डिज़ायर, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, २०००

के.सी. आनन्द (ऐड), द प्लेनस् ऑफ अवर बीइंग (नो दाइसैल्फ–५), श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, २०००

के.सी. आनन्द (ऐड), दा परपज आफ लाइफ, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी

के.सी. आनन्द (ऐड), दा राइट ओब्जैक्ट आफ एजुकेशन एण्ड इंडियाज़ नेशनल एजुकेशन, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, २००२

के.सी. आनन्द (ऐड), दा साइंसआफ लिविंग, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी,१९८६

के.सी. आनन्द (ऐड), दा वे टू हैप्पीनेस, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी,१९९५

के.सी. आनन्द (ऐड), वॉट इज कन्सनट्रेशन, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी

के.सी. आनन्द (ऐड), वॉट इज डैथ, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १९९४

के.सी. आनन्द (ऐड), वॉट इज डिज़ायर, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी,१९९१

के.सी. आनन्द (ऐड), वॉट इज फेथ, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी,१९८४

के.सी. आनन्द (ऐड), वॉट इज माइंड, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी

किरीटजोशी एंड निरेन सेन गुप्ता, एकिलोसीफी आफ एजुकेशन फोर दा कन्टम्प्रेरी यूथ, इंडियन काउन्सिल आफ फिलोसोफिकल रिसर्च, नई दिल्ली, १९८५

किरीट जोशी एंड निरेन सेन गुप्ता,ए फिलोसोफी आफ इवोलुशन फोर दा कन्टम्प्रेरी यूथ, इंडियन काउन्सिल आफ फिलोसोफिकल रिसर्च, नई दिल्ली,१९८६

किरीट जोशी एंड वोन अरटोड, एक्सपलोरेशन इन एजुकेशनः टू ऐसेज

किरीट जोशी, ए फिलोसोफी ऑफ द रोल ऑफ द कन्टमप्रेरीटीचर, इंडियनकाउंसिल ऑफ फिलोसोफीकल रिसर्च, नई दिल्ली,१९८८

के.आर. श्रीनिवासआयंगर, प्रो., री–थिकिंग ओन एंड्स एंड मीन्स इन ऐजुकेशन

मनोज दास, श्री अरविन्द ऑन एजुकेशन, नेशनल काउंसिल फॉर टीचर एजुकेशन, नई दिल्ली, १९९९

नारायण प्रसाद, ऐजुकेशन फॉर ए न्यू लाइफ

नीलेज हुप्स, साइकिक एजुकेशन : ए वर्कबुक, श्रीअरविन्द ऐजुकेशन सोसायटी, नई दिल्ली, २००१

नोरमैन सी डोवसैट, प्रोफ. साइकोलोजी फॉर द फ्यूचर एजुकेशन

पवित्र (पी.बी.सैंट–हिलैरी), एजुकेशन एंड द एम ऑफ ह्यूमन लाइफ, श्री अरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १९९१

पवित्र (पी.बी. सैंट–हिलैरी), ऑन मैडिटेशन एंड डिसिप्लिन, थर्ड एडी.., श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १९७८

पवित्र (पी.बी. सैंट– हिलैरी), श्रीअरविन्द एंड द मदर ऑन लव, थर्ड ऐडी., श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १९७३

प्रणब कुमार भट्टाचार्य, बेसिक आसनाज, नवज्योति पब्लिकेशन, श्रीअरविन्द आश्रम, पॉण्डिचेरी, १९८४

प्रवीर मलिक, फ्लॉवरिंग आफ मैनेजमैंट, श्रीअरविन्द इंस्टिट्यूट आफ रिसर्च इन सोसियल स्टडीज़, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १९९७

आर.एस. अग्रवाल, सिक्रेट्स ऑफ इंडियन मैडिसिन, श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १९७१

श्रीअरविन्द और श्रीमाँ, ऑन एजुकेशन, श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १९५६

श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ एजुकेशन सेंटर, ए डिवाइन लाइफ मैनिफेस्टो : एन इंटिग्रल एजुकेशन फॉर ए डिवाइन लाइफ, श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ ऐजुकेशन सेंटर, झुनझुनू, राजस्थान, १९९५

श्रीअरविन्द इन्टरनेशनल सेंटर ऑफ एजुकेशन, ए न्यू एजुकेशन फॉर ए न्यू कोनसियसनेस, श्रीअरविन्द इंटरनेशनल सेंटर ऑफ एजुकेशन, पॉण्डिचेरी, १९९५

श्रीअरविन्द इन्टरनेशनल सेंटर ऑफ एजुकेशन, बुलेटिन ऑफ श्री अरविन्द इंटरनेशनल सेंटर ऑफ एजुकेशन (क्वाटर्ली)

श्रीअरविन्द इंटरनेशनल सेंटर आफर एजुकेशन, पॉण्डिचेरी

श्री अरविन्द इन्टरनेशनल सेंटर ऑफ एजुकेशन, एवर टू दा न्यू एंड द अननोन, श्रीअरविन्द इंटरनेशनल सेंटर ऑफ एजुकेशन, पॉण्डिचेरी, १९९३

श्रीअरविन्द इन्टरनेशनल सेंटर ऑफ एजुकेशन, द गोल्डन चेन (एलुमनि जरनलः क्वाटर्ली), श्रीअरविन्द इंटरनेशनल सेंटर ऑफ एजुकेशन, पॉण्डिचेरी

श्री अरविन्द इन्टरनेशनल इंस्टिट्यूट आफ एजुकेशनल रिसर्च, मिस्ट्री एंड एक्सैलैंस आफ दा ह्यूमन बॉडी, श्रीअरविन्द इंटरनेशनल इन्सिटिट्यूट ऑफ एजुकेशनल रिसर्च, ओरोविल,

श्रीअरविन्द इन्टरनेशनल सेंटर ऑफ एजुकेशन, द एम ऑफ लाइफ, श्रीअरविन्द इंटरनेशनल इन्सिटिट्यूट ऑफ एजुकेशनल रिसर्च, ओरोविल, १९८६

श्रीअरविन्द इन्टरनेशनल सेंटर ऑफ एजुकेशन, द गॉड टीचर्स एण्ड द गॉड पुपिल, श्रीअरविन्द इंटरनेशनल इन्सिटिट्यूट ऑफ एजुकेशनल रिसर्च, ओरोविल, १९८८

श्रीअरविन्द इन्टरनेशनल सेंटर आफ एजुकेशन, द मैजिक चाइल्ड, श्रीअरविन्द इंटरनेशनल इन्सिटिट्यूट ऑफ एजुकेशनल रिसर्च, ओरोविल, १९८५

श्रीअरविन्द सोसायटी, ए न्यू अप्रोच टू एजुकेशन (इन्टिग्रल एजुकेशन सीरीज), सेकण्ड एड., श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १९९६

श्रीअरविन्द सोसायटी, ऑल इंडिया मैगजीन (ए मन्थली), श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी

श्रीअरविन्द सोसायटी, डायमेंशन ऑफ स्पिरिचुअल एजुकेशन (इन्टीग्रल एजुकेशन सीरीज), सेकण्ड एड., श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १९९६

श्रीअरविन्द सोसायटी, एजुकेशन एंड द ग्रोईंग चाइल्ड (इन्टीगर्ल एजुकेशन सीरीज) सेकण्ड एड., श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी,१९९६

श्रीअरविन्द सोसायटी, एजुकेशन ऑफ द फ्यूचर (इन्टीगल एजुकेशन सीरीज) सेकण्ड एड., श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी,१९९६

श्रीअरविन्द सोसायटी, द ट्रू टीचर (इन्टीगल एजुकेशन सीरीज) सेकण्ड एड., श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी,१९९६

श्रीअरविन्द सोसायटी, योगा एंड एजुकेशन (इन्टीगल एजुकेशन सीरीज) सेकण्ड एड., श्रीअरविन्द सोसायटी, सेण्टीनरी एडिसन), वी.१–१७, श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १९८०

द मदर, कमैंटरीज ऑन धम्मपद, श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १९८६

द मदर, कन्वरसेशनस आन योगा, श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १९८७

द मदर, एजुकेशन, पार्ट्स १–३, श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १९८५

द मदर, फाइव फोल्ड एजुकेशन, श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १९९०

द मदर, आइडियल चाइल्ड, ६थ एडि., श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १९८२

द मदर, आइडियल पेरेन्ट, श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी

द मदर, आइडियल टीचर, श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी

द मदर, टेल्स ऑफ ऑल टाइम्स, श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १९८०

द मदर, द ग्रेट एडवेंचर (ए डायरी), श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी

द मदर, साइंस ऑफ लिविंग : द मदर टाक्स, श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १९९०

द मदर, सनलिट पाथ, श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १६८४

द मदर, वर्डस ऑफ द मदर, पार्ट–१–२ श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, १६८६

विजय (काम.), एम ऑफ लाइफ, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी

विजय (काम.) एसपिरेशन, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १६८६

विजय (काम.), एटीटूड्स इन लाइफ, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी

विजय (काम.),ब्यूटी, ४थ एडि., श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १६६६

विजय (काम.), फूड, ४थ एडि., श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १६६४

विजय (काम.), हैल्पिका ह्यूमैनिटी, ४थ एडि. श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १६६६

विजय (काम.), इलनेस, काजिज एंड क्योर, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १६७२

विजय (काम.), मेडिटेशन, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी,१६७१

विजय (काम.), मनी, ४थ, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १६६४

विजय (काम.), स्लीप एंड ड्रीम्स, ५थ एडि., श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १६६५

विजय (काम.),सरेण्डर एंड ग्रेस, ४थ एडि., श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी,१६८६

विजय (काम.), ट्रू एजुकेशन, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी

विजय (काम.),वर्क, ४थ एडि., श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १६६४

विजय (काम.), हाऊ टू बरिंग अप ए चाइल्ड, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १६८०

विजय (काम.), लाइट फार स्टुडैंट्स, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १६७८

विजय (काम.), ऑन वीमैन, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १६७८

विजय (काम.), विसपर्स आफ नेचर, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, १६८१

द नॉस्टिक सेंटर

चेतना के विकास के लिए एक अनुसंधान केन्द्र जो बिना मुनाफे वाला पब्लिक चेरिटेबल ट्रस्ट के बतौर, १६६६ में नई दिल्ली में स्थापित किया गया । द नॉस्टिक सेंटर चेतना के विकास पर आधारित शिक्षा के प्रति एक अग्र प्रयास है। यह केन्द्र सर्वांगीण शिक्षा के दर्शन के प्रति समर्पित है एवं : इसे दैनिक जीवन का हिस्सा बनाने में कार्यरत है।

यह केन्द्र निम्नलिखित विषयों पर वार्ता, कार्यशाला, पाठ–चक्र, गहन स्वाध्याय, आवास गोष्ठी तथा छोटे पाठ्य–क्रम आयोजित करता है : –

- जीवन विज्ञान
- आन्तरिक प्रगति के लिए ध्यान
- आन्तरिक भाव एवं : स्थिति
- विभिन्न विषयों का सर्वांगीण दर्शन (मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थ शास्त्र, प्रबन्धन एवं : व्यवस्था, शिक्षा तथा भारतीय संस्कृति)
- बच्चे का लालन–पालन कैसे करें?
- स्वस्थ जीवन की कला
- मन का प्रशिक्षण (धारणा, निरीक्षण, तर्क, कल्पना इत्यादि)
- चरित्र का विकास (साहस, सौन्दर्य, इन्द्रियों का विकास, इत्यादि)

अपने प्रारम्भ से ही, इस केन्द्र ने लगभग १२० शिक्षा केन्द्रों (पाठशाला एवं: उच्च विद्यालय) के ऊपर–विद्यार्थी तथा शिक्षक, शिक्षकों के शिक्षक, संयुक्त विभाग, विशिष्ट ज्ञानविद् तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से आने वाले व्यक्तियों के साथ कार्य किया है। यह दिल्ली विश्वविद्यालय में आत्म–विकास एवं प्रारंभिक शिक्षा में स्नातक (बी.ई.आई.एड.) पाठ्यक्रम के शिक्षक–विद्यार्थियों को शिक्षा का भाग प्रदान करने हेतु पैनल पर है।

यह केन्द्र नियमित रूप से सेवा–पूर्व व सेवा के दौरान शिक्षकों की शिक्षा के कार्यक्रम चलाता है। यहां बच्चों (आयु ४–१२) के इन्द्रिय व मन की क्षमताएँ, भाव व गुण का विकास, विज्ञान पर आधारित कार्य, खेल तथा कला व हस्तकला की कार्यशाला एवं आवासीय शिविर भी सम्पन्न करता है।

ल' आवेनिर (भविष्य), २ से ४ वर्ष के बच्चों के लिए, केन्द्र की पाठशाला है। यह सर्वांगीण शिक्षा पर आधारित है और बच्चों के मन, चरित्र एवं शरीर के प्रशिक्षण के नए तरीकों को प्रयोग में लाती है।

यह केन्द्र मल्टीमीडिया, कैसेट, पुस्तकें तथा आत्म–विकास पर आधारित एक द्विमासिक पत्रिका का प्रकाशन भी करता है "द अवेकनिंग रे"। इसमें पुस्तकालय एवं ध्यान–कक्ष की भी व्यवस्था है।